उत्तर प्रदेश

राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 03

तुलनात्मक राजनीति

खंड

1

तुलनात्मक राजनीति की अवधारणा एवं उपागम

इकाई 1

अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र 11

इकाई 2

परम्परागत दृष्टिकोण 19

इकाई 3

आधुनिक दृष्टिकोण 26

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-03 :– *तुलनात्मक राजनीति*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः डॉ. सतीश कुमार, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 3 इकाई
खण्ड दोः डॉ. मानुका खन्ना, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड तीनः डॉ. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड चारः डॉ. राजीव सरन, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड पाँचः प्रो. सी.पी. सिंह, (अ.प्रा.) राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वद्यिालय, गोरखपुर इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं हैं।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डॉ. अरूण कुमार गुप्ता कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2019
मुद्रक : चन्द्रकला युनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

MAPS-03/2
[FIFA-079]

खण्ड 1 का परिचय : तुलनात्मक राजनीति की अवधारणा एवं उपागम

मानवीय जीवन का व्यक्तिगत पक्ष हो अथवा सामुदायिक, उसमें भिन्नताओं एवं विविधताओं का अस्तित्व होना तो एक नैसर्गिक यथार्थ है। इन भिन्नताओं और उनके कारण उत्पन्न मानव जीवन की विविधताओं के प्रति तुलनात्मक दृष्टिकोण रखना भी मानव का मौलिक स्वभाव है। यहाँ यह बात आपके ध्यान देने की है कि यह तुलनात्मक दृष्टिकोण जहाँ मानवीय प्रगति एवं विकास का मौलिक आधार होता है, वहीं वह विकास की प्रेरणा का सृजनकर्ता भी होता है। तुलना करने की इस सहज मानवीय प्रवृत्ति के तीन बुनियादी आयाम होते हैं-(i) दूसरों की जीवन शैली एवं व्यवहार को जानने की हर व्यक्ति में सहज अभिलाषा होती है, (ii) हर आदमी दूसरों से अपनी समानताओं एवं असमाताओं की जानकारी के प्रति भी जिज्ञासु रहता है, (iii) दूसरों में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, जो कुछ भी सुन्दर और जो कुछ भी अनुकरणीय है उसका अनुकरण करने, उसे अपनाने या उसके सन्दर्भ में स्वयं को सुधारने एवं विकसित करने की कोशिश मनुष्य करता है। मनुष्य की इस मूलभूत नैसर्गिक प्रकृति की अभिव्यक्ति उसके निजी जीवन में ही नहीं, उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवहार और उनसे जुड़ी संस्थाओं के संदर्भ में भी होती है। अत: इन सन्दर्भों में मनुष्य तुलनात्मक जानकारी एवं तुलनात्मक अध्ययन की सहज जिज्ञासा से प्रेरित होता है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यही जिज्ञासा तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन और उस अध्ययन के विकास का भी आधार है।

तुलनात्मक राजनीति का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन भले ही आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषता हो और वह उसका अनिवार्य हिस्सा हो, लेकिन इस अध्ययन की प्रवृत्तियाँ तो बहुत पुरानी हैं। हम सब राजनीतिशास्त्री अरस्तु को राजनीति शास्त्र का पिता ही नहीं मानते, बल्कि उसे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का प्रवर्तक भी मानते हैं। लेकिन सच तो यह है कि मनुष्य की मूलभूत प्रकृति से तुलना का गुण जुड़ा होने के कारण यह कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन उतना ही पुराना है जितना मनुष्य के लिखित विचारों का इतिहास। इस तरह अन्य विषयों की भाँति ही तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में प्राचीन काल से ही मानवीय अभिरुचि बहुत सुस्पष्ट रही है। यद्यपि सामान्यत: इसके अध्ययन की शुरूआत अरस्तु से मानी जाती है और आधुनिक काल में एक व्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में तुलनात्मक राजनीति का सम्पूर्ण उत्कर्ष विकसित होकर सामने आता है। वस्तुत: अरस्तु ने सबसे पहले 158 संविधानों का संग्रह कर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया और उसके आधार पर राजनीतिशास्त्रीय अध्ययन के कुछ महत्वपूर्ण सामान्य निष्कर्षों का निष्पादन किया। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन की अरस्तु की पद्धति में एक तर्कसंगत क्रमबद्धता और वैज्ञानिकता का पुट भी समाहित दिखायी पड़ता है।

आपके लिए यह ध्यान रखने योग्य बात है कि जहाँ तुलना मनुष्य का मूलभूत और नैसर्गिक स्वभाव है, वहीं राजनीति भी मानवीय जीवन की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। अरस्तु जैसे राजनीतिक दार्शनिकों की तो धारणा रही है कि मनुष्य मूलत: एक राजनीतिक प्राणी है। सत्ता और संगठन के एक साथ प्रयोग की मानवीय प्रवृत्ति भी मौलिक है, और सामुदायिक या सामाजिक जीवन के आरम्भिक चरणों में अथवा पूर्व सामाजिक अवस्थाओं के सामुदायिक जीवन में भी इसके लक्षण बहुत सुस्पष्ट रहे हैं। सत्ता और संगठन के इस मिले जुले प्रयोग की प्रवृत्ति ही विकास क्रम में अंतत: राजनीतिक समाज को जन्म देती है। ऐसे ही राजनीतिक समाजों, उनके सत्ता संगठनों एवं सत्ता केन्द्रों तथा उनके प्रभाव एवं उनकी भूमिका आदि के बीच तुलनात्मक सम्बन्ध बनाना मानवीय समुदाय में शुरू से ही अपना अस्तित्व एवं महत्व रखता रहता है। अरस्तु ने ही सर्वप्रथम इस तरह के अध्ययन को एक व्यवस्थित स्वरूप एवं सुनिश्चित पद्धति के साथ शुरू किया। वस्तुत: राजनीति जहाँ सत्ता एवं संगठन के प्रयोगों

के बीच उपजा सामाजिक व्यवहार है वहीं, उसे किसी भी व्यक्ति समूह के लिए निर्णय विशेष की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। निश्चय ही ऐसी प्रक्रिया का आरम्भ भी सामुदायिक जीवन के आरम्भ के साथ-साथ ही होता है। जब विकासक्रम में एक राजनीतिक समाज के स्वरूप का **प्रकटीकरण** और राज्य के सुनिश्चित स्वरूप की स्थिति सामने आने लगती है तो राजनीति के निहतार्थों का एक क्रान्तिकारी स्वरूप भी सामने आता है। लेकिन यह भी सही है तात्विक दृष्टि से उसके **बीज** आदिम अवस्था के मनुष्यों के सामुदायिक जीवन में भी मौजूद थे। कभी आदिम दौर में परिवार के मुखिया और कबीले के सरदार के स्तर निर्णय विशेष की प्रक्रिया का जो प्रश्न था, वह अब विकसित समाज में राज्य संस्था से जुड़ गया। अत: राजनीति का अर्थ अब शासन व्यवस्था तथा उसकी प्रक्रिया एवं समग्र राजनीतिक व्यवहार से हो गया है। अत: कहा जा सकता है कि एक प्रकार की राजनीतिक क्रिया की, उसी प्रकार की राजनीतिक क्रिया या उससे असमान ढाँचों से जुड़ी राजनीति क्रियाओं से तुलना करना, एक प्रकार के राजनीतिक सत्ता संगठन एवं उसकी प्रक्रियाओं की दूसरे प्रकार के राजनीतिक सत्ता संगठनों एवं उसकी प्रक्रियाओं से तुलना करना, राजनीतिक ढाँचों की सफलता एवं असफलता अथवा राजनीतिक क्रियाओं एवं व्यवहारों तथा उनके पीछे निहित प्रेरणाओं एवं उनकी प्रभावकारिता आदि की भी तुलना करना और ऐसे सभी सम्भव तुलनात्मक अध्ययनों में एक सामान्यीकृत अवधारणा निष्पादित करने का प्रयत्न करना ही तुलनात्मक राजनीति है।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का महत्व

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का जिस तरह निरन्तर एक सुव्यवस्थित अनुशासन के रूप में विकास होता जा रहा है, उससे उसका महत्व भी प्रकट होता है। आज तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में विविध उपागमों या दृष्टिकोणों का भी विकास हो रहा है। आपके ध्यान देने योग्य बात है कि यह अध्ययन जहाँ महत्वपूर्ण है, वहीं एक निरन्तर विकासशील अध्ययन भी है। नये शोध उपकरणों से जुड़कर इस अध्ययन का वैज्ञानिक स्वरूप उभरा है।

तुलनात्मक राजनीति के सन्दर्भ में हम आपसे कहना चाहेगें कि इस प्रकार का अध्ययन दुनिया की विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं, उनके ढाँचागत परिणामों एवं व्यावहारिक राजनीतिक तथ्यों को जानने एवं समझने का अवसर देता है। हम आपका ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहेंगे कि विभिन्न राजव्यवस्थाओं की राजनीतिक प्रक्रियाओं में भी अन्तर होता है। कभी-कभी तो राजनीतिक ढाँचे एवं उसके संचा न की आधारभूत एकरूपताओं के बावजूद भिन्न-भिन्न पर्यवेक्षण एवं निष्कर्ष सामने आते हैं। संसदीय शासन के ढाँचे एवं उसकी परम्पराओं को भारत में ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था से ग्रहण किया गया, लेकिन संसदीय प्रणाली के भारतीय प्रयोग से उभरे पर्यवेक्षणों एवं प्रभावों आदि में भारी अन्तर उभरकर सामने आता है, इसमें कहीं ढाँचागत या अन्य भिन्नताओं का योगदान होता है जो भारत में अपनाये जाते समय ग्रहण की जाती हैं, तो कहीं सामाजिक, राजनीति, आर्थिक परिस्थितियों एवं पृष्ठभूमि का अन्तर अपना प्रभाव डालता है। इसी तरह संघात्मक ढाँचा भी कई राजनीतिक प्रणालियों का हिस्सा होता है लेकिन संघात्मक व्यवस्था के विभिन्न प्रयोगों में संघात्मक राजनीति के स्वरूप एवं आयाम प्राय: बदल जाया करते हैं। यह उसी तरह है जैसे किसी वृक्ष की एक प्रजाति दूसरे स्थान की मिट्टी में बदलकर अपने स्वरूप एवं फल आदि में थोड़ा अन्तर प्रकट करने लगती है। अत: कहा जा सकता है कि ऊपरी तौर पर राजनीति की प्रक्रिया की समानताओं के बावजूद भी परिणामों एवं निष्कर्षों में भेद सामने आते हैं। इसलिए इन सन्दर्भों में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है। वह राजनीतिक निष्कर्षों को स्थापित करने के लक्ष्य में बेहद सहायक साबित होता है।

आप जानते हैं कि आज का युग लोकतंत्र का युग है। लोकतंत्र ने सत्ता संगठन के ढाँचे का निर्माण एवं उसकी निर्णय प्रक्रिया में जहाँ सिर काट-काट कर फैसला लेने की जगह सिर गिन कर फैसला लेने की राजनीतिक संस्कृति का विकास किया, वहीं क्रमशः राजनीतिक जनसहभागिता को भी बढ़ावा दिया। आज आम आदमी के राजनीतिकरण और राजनीतिक प्रक्रिया में आम आदमी के बढ़ते दखल के बीच राजनीति को व्यापक आयाम मिला है और अब वह मुट्ठी भर लोगों का व्यवहार नहीं रह गयी है। व्यापक जनसहभागिता से जुड़े राजनीतिक व्यवहार में समाज के वैविध्य, उसकी पेचीदगियों, समस्याओं एवं परम्पराओं का व्यापक असर होता है। व्यक्ति न तो राजनीति से अप्रभावित रह सकता है और न निरपेक्ष। वह राजनीति की जिज्ञासा से भी कटकर नहीं रह सकता है। इन सभी सन्दर्भों में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन उसके ज्ञान और उसके व्यवहार का महत्वपूर्ण आधार बनता है।

आप यह भी ध्यान रखें कि तुलनात्मक राजनीति आम लोगों के राजनीतिक व्यवहार के साथ-साथ विशिष्ट लोगों के राजनीतिक व्यवहार का भी अध्ययन करती है। बुद्धिजीवी, नौकरशाह, पूँजीपति एवं उद्योगपति अथवा अन्य प्रकार के विशिष्ट वर्गों का भी प्रभाव राजनीति पर गहरा पड़ता है। उनका पर्यवेक्षण एवं मूल्यांकन भी तुलनात्मक राजनीति का तकाजा होता है। हर समाज में विशिष्टवर्गीय समूह या राजनीतिक प्रभाव डालने में समर्थ अभिजन वर्ग होते हैं, जिनकी भूमिका एवं प्रभावकारिता का अध्ययन एवं उनके तुलनात्मक अध्ययन से निष्कर्ष निष्पादित करना तुलनात्मक राजनीति के लिए अपरिहार्य होता है। साथ ही तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन सर्वसाधारण की राजनीतिक चेतना, जागरूकता एवं सहभागिता को भी प्रशिक्षित एवं उत्तेजित कर उसका विकास करता है।

आपके लिए ध्यान रखने योग्य बात है कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन से राजनीतिशास्त्रियों को सरकारी व्यवस्था तंत्र, उसके ढाँचे, उसकी प्रक्रिया एवं उसके व्यवहार को गुणतापरक बनाने वाले निष्कर्षों एवं सुझावों को प्रस्तुत करने में भी सुविधा होती है। साथ ही इससे वह राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसका इस तरह सामान्यीकरण करते हैं, जिससे वह सभी के लिए उपयोगी मार्गदर्शक सिद्धान्तों का निष्पादन कर सके, चाहे वह आम लोग हो या अभिजन, राजनेता और प्रशासक। इससे राजनीतिशास्त्र की व्यवहारप्रद उपादेयता प्रकट होती है। यह दायित्वबोध राजनीतिशास्त्रियों के लिए राजनीतिक संगठनों, संस्थाओं, व्यवस्थाओं प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों की समानताओं तथा असमानताओं, उनके पीछे निहित कारणों और उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करने की प्रेरणा देता है।

हम यह कहना चाहते हैं कि इस तरह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विशिष्ट महत्व प्रस्तुत होता है। वह राजनीति के विद्यार्थी एवं शिक्षक के लिए ही नहीं, राजनीतिज्ञों एवं जनसाधारण के लिए भी महत्वपूर्ण है।

आप जानते हैं कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था कहीं सफल होती है तो वही व्यवस्था कहीं असफल या अपेक्षा कम सफल होती है। उसके प्रयोग के परिणाम कहीं-कहीं एक समान होते हैं तो कहीं असमान। इस बात को आप इस तरह समझ सकते हैं जैसे किसी क्षेत्र विशेष से जुड़ा लंगड़ा या दशहरी आम किसी दूसरे क्षेत्र की मिट्टी, हवा एवं परिवेश में लगने पर अपने आकार, स्वाद आदि में भिन्न गुण प्रदर्शित करने लगता है। ठीक उसी तरह सामाजिक परिवेश बदलने पर राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग समान ढाँचा होते हुए भी परिवर्तन का आभास देने लगते हैं। इन स्थितियों के कारकों का अध्ययन तुलनात्मक राजनीति का विशेष महत्व प्रकट करता है। किसी खास कारण से कहीं क्रान्ति हो जाती है, तो कहीं उसी कारण के उपस्थित होने पर भी क्रान्ति के लक्षण प्रकट नहीं होते। ऐसी बातों के अध्ययन में भी तुलनात्मक राजनीति का महत्व उभरकर सामने आता है। आखिर

दल बदल जैसी समस्या और उससे उपजे राजनीतिक अस्थायित्व के दोष से भारतीय संसदीय शासन प्रणाली आक्रान्त क्यों दिखायी देती है? आखिर उसी प्रणाली का प्रणेता ब्रिटेन इन दोषों से मुक्त कैसे है? कोई देश लोकतंत्र की व्यवस्था के लिए उर्वर जमीन साबित होता है, तो कहीं तानाशाही के प्रयोग ही बार-बार क्यों दोहराये जाते है? इन सब आयामों के तुलनात्मक अध्ययन से सुनिश्चित निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है और इससे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का महत्व प्रगट होता है। ऐसे दोषों के पीछे कारकों को चिन्हित कर उनका सही निदान राजनीतिक व्यवस्थाओं की गम्भीर समस्याओं के समाधान का आधार बन सकता है। इस तरह राजनीतिक प्रक्रिया के साथ-साथ राजनीतिक व्यवहार की जटिलताएं तुलनात्मक राजनीतिक के अध्ययन के माध्यम से बखूबी समझी जा सकती हैं और उनके समाधान की राह तलाशी जा सकती है।

ध्यान देने योग्य बात है कि राजनीतिशास्त्रीय अध्ययन में आई व्यवहारवादी क्रान्ति तथा उसे वैज्ञानिक अध्ययन का रूप देकर उसके आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त करने वाली प्रवृत्तियों ने तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के महत्व को और बढ़ा दिया है। राजनीतिक विकास की निरन्तरता के क्रमबद्ध अध्ययन और उस निरन्तरता में सामान्यीकरण की तलाश राजनीतिक अध्ययन की वैज्ञानिकता की महत्वपूर्ण कसौटी रही है। इस कसौटी पर राजनीतिशास्त्र के खरा उतरने में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। किसी भी ज्ञान में जब एक व्यवस्थित क्रमबद्धता का समावेश, प्रयोगात्मक एवं पर्यवेक्षणात्मक उपागमों का उपयोग, सामान्य निष्कर्षों का उसके आधार पर निष्पादन, घटनाक्रमों के पूर्वानुमान तथा घटनाओं की निरन्तरता से उपजे सामान्यीकरण की स्थापनाएं सम्भव हो जाती हैं तो उसे वैज्ञानिकता की कसौटी प्राप्त हो जाती है। राजनीतिशास्त्रीय अध्ययन में इन सब बातों के विकास में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की प्रवृत्तियों एवं उपागमों का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। अत: तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन राजनीतिशास्त्र को आधुनिकीकृत करने एवं वैज्ञानिक अध्ययन बनाने में सहायक है।

उपर्युक्त बातों से आपके सामने यह बात स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति राजनीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण एवं निर्धारण में बेहद सहायक साबित हुई है। जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक कल्पनाओं की नींव पर होता है, उनके निर्धारण में भी राजनीतिक विकास की निरन्तरता एवं उसके प्रति तुलनात्मक दृष्टिकोण का योगदान रहा हैं। दूसरी ओर व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित राजनीतिक क्रियाओं को समझ कर जो सिद्धान्त निष्पादित होते हैं, उनके निर्धारण में तो तुलनात्मक राजनीति का विशेष महत्व रहा है। आदर्शात्मक दार्शनिक सिद्धान्तों के नियमन में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का योगदान मात्रात्मक दृष्टि से बहुत कम माना जा सकता है, लेकिन उसकी अर्न्तदृष्टि उसमें सक्रिय रहती है। दूसरी ओर राजनीतिक प्रयोगों एवं व्यवहारों के अध्ययन पर आधारित सिद्धान्त निरूपण में भी तुलनात्मक राजनीति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

यहाँ आपसे मैं यह कहना चाहूँगा कि स्थापित एवं व्यवहृत सिद्धान्तों की पुन: प्रमाणिकता की जांच और उनके प्रयोगात्मक व्यवहारों की प्रासंगिकता अथवा सफलता-असफलता आदि के अध्ययन के संदर्भ में भी तुलनात्मक राजनीति का विशिष्ट महत्व प्रकट होता है। नये संदर्भ में परम्परागत सिद्धान्त या संस्थाएं कैसे अपने को समायोजित कर सकती हैं या उनके समायोजन की कोई गुंजाइश नहीं है, आदि प्रश्नों के निर्णय करने में भी तुलनात्मक राजनीति का उपयोग होता है। आजकल सभी विज्ञानों में स्थापित सिद्धान्तों का पुनरीक्षण करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। सिद्धान्तों की शाश्वतता एवं सर्वकालिकता की अवधारणा प्राकृतिक विज्ञानों में भी खण्डित होने लगी है। अत: राजनीतिविज्ञान में उनका पुनरीक्षण कोई अवैज्ञानिक प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती है।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उद्देश्य

अब हम देखेंगे कि तुलनात्मक राजनीति के उद्देश्य क्या हैं? तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन राजनीतिक व्यवस्था की दार्शनिक अवधारणाओं एवं उनके उद्देश्य को चिन्तन का आधार प्रदान करता है। मनुष्य जहाँ राजनीतिक विकास के तथ्यों की जानकारी के प्रति उत्सुकता एवं जिज्ञासा रखता है, वहीं भावी राजनीतिक समाज के आदर्श-चिन्तन का स्वरूप रेखांकित करने में भी गहरी रूचि रखता है। एक अच्छी राजनीतिक व्यवस्था कैसी हो, उसकी संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का स्वरूप कैसा हो, एक उत्तम नागरिक एवं नागरिक समाज का निर्माण कैसे हो, लोगों का एक आदर्श राजनीतिक व्यवहार किस रूप में प्रकट हो आदि प्रश्नों से जुड़ी कल्पनाएं किसी भी राजनीतिक दर्शन का आधार बनती हैं। राजनीतिक चिन्तनकर्ता एवं दर्शनकार इन्हें आदर्श कल्पना ही नहीं व्यवहारिकता के धरातल एवं कसौटी पर भी कसकर चिन्तन करते हैं। इन लक्ष्यों के चिन्तन की साधना में तुलनात्मक राजनीति की साधना का उद्देश्य भी समाहित होता है। वस्तुत: तुलनात्मक राजनीति विभिन्न राजनीतिक दर्शनों के प्रयोगों से जुड़ी समस्याओं के निदान एवं उनकी सफलता का मार्ग प्रशस्त करने का भी उद्देश्य रखती है। इस तरह यह अध्ययन युगसन्दर्भ की चुनौतियों से जुड़कर क्रियाशील रहता है। इससे स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति अध्ययन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों से जुड़ा है और राजनीतिक संस्थाओं के विकास और राजनीतिक समस्याओं की गुत्थी सुलझाने के लक्ष्य से भी प्रेरित होता है। अरस्तू द्वारा संविधानों के वर्गीकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन के पीछे भी ऐसे ही उद्देश्य थे और आज भी ऐसे ही उद्देश्यों से अध्ययन जुड़ा हुआ है।

ध्यान देने योग्य बात है कि तुलनात्मक राजनीति का उद्देश्य मात्र राजनीतिक व्यवहार ही नहीं, शासन के नीति-निर्णय की प्रक्रिया और उन्हें सफलता प्रदान करने के मन्तव्य से भी जुड़ा होता है। आज तुलनात्मक राजनीति का सहारा लेकर राजनीति एवं शासन व्यवहार के घटना प्रवाह का पूर्वानुमान ही नहीं, उनकी भविष्यवाणी करना भी सामान्य बात हो गयी है। शासन सम्बन्धी नीति-निर्णयों के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न व्यवस्थाओं के बीच तुलना करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। एक राज्य द्वारा अपने विरोधी राज्यों की कमजोरियों, खामियों आदि का पता लगा कर फैसले लेने की कोशिश की जाती है, जिससे सुरक्षा के इंतजाम, कूटनीतिक और प्रतिस्पर्धा के दांवपेंच सफल हो सकें। आज इस प्रकार के अध्ययन हेतु शोध एवं सर्वेक्षण आदि की संगठित विधियों अथवा उनसे जुड़ी विशेषज्ञ एजेन्सियों की व्यापक भूमिका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभर चुकी है और इनका आश्रय सरकारों एवं सरकारी सत्ता केन्द्रों द्वारा लिया जाता है। आज की सत्ता राजनीति की दौड़ में संकुचित स्वार्थों और दलगत या राष्ट्रीय हितों के लिए भी तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का सहारा लिया जाता है। इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक पद्धतियों, तौर-तरीकों एवं उपकरणों आदि का प्रयोग भी काफी विकसित रूप में होने लगा है।

इस तरह सैद्धान्तिक ज्ञान और व्यावहारिक चुनौती दोनों ही सदंर्भों में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन उद्देश्यपरक उपादेयता रखता है। यह राजनीतिक व्यवहार ही नहीं शासकीय नीति-निर्णयों एवं प्रक्रियाओं से भी जुड़ा है और उन्हें उनके उद्देश्यों तक पहुँचाने में सहयोग करता है। इस तरह वह राजनीतिक विकास के लक्ष्य की सिद्ध में भी उपयोगी है।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की समस्याएं

अब हम इस बात की चर्चा करेंगे कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में क्या समस्याएं या चुनौतियां आती हैं? विश्व के व्यापक राजनीतिक फलक पर शासन और राजनीति से जुड़े विविध आयामों, उनके प्रेरक कारणों, पृष्ठभूमि आदि में इतनी विविधताएं हैं कि तुलनात्मक अध्ययन और उसके आधार पर निष्कर्षों का सामान्यीकृत निष्पादन एक जटिल और बेहद पेचीदा सवाल बन

जाता है। अत: ऐसे अध्ययनों, उनकी शुद्धता एवं परिपक्वता तथा निष्कर्षों आदि पर पूर्ण सहमति बनाना जटिल प्रश्न बन गया है। इस तरह तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन बेहद चुनौतीपूर्ण एवं समस्यापरक क्षेत्र है। अत: एक सुनिश्चित सामान्यीकरण तक पहुंचना कठिन कार्य होता है। प्राय: उनके बीच उभरने वाले तमाम प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर सम्भव नहीं हो पाता। फलत: कभी-कभी निराशा भी उत्पन्न होती है, लेकिन सच कहा जाय तो मानवीय व्यवहार के वैविध्य एवं जटिलताओं की व्यापकता के मद्देनजर यह चुनौती कोई अनपेक्षित बात नहीं है और इससे विषय की महत्ता कम नहीं होती है।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की पहली समस्या हमें यह दिखाई देती है कि उसमें अवधारणात्मक इकाइयों की रचना और उनके परिभाषीकरण की चुनौती सामने आती है। वस्तुत: अवधारणात्मक व्याख्या पारिभाषिक शब्दावलियों के विकास पर निर्भर करती है और इस संदर्भ में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन अपनी सम्भावनाओं की उभरती व्यापकता के बावजूद परम्परागत राजनीतिशास्त्र की शब्दावलियों या इकाइयों पर ही अधिक निर्भर है। यह उसकी मौलिक समस्या है। वस्तुत: ऐसी शब्दालियां जहां तुलनात्मक राजनीति की अवधारणात्मक इकाइयां होती हैं, वहीं ये तुलनात्मक आंकड़ों एवं निहितार्थों की संवाहक भूमिका भी निभाती हैं। अत: इनका स्पष्ट परिभाषित होता जरूरी होता है। इसके बिना संकल्पनात्मक या अवधारणात्मक विश्लेषण, सटीक तुलना, माप, सामान्यीकरण तथा सैद्धान्तिक परीक्षण एवं स्थापना सम्भव ही नहीं है। इस सदंर्भ में कठिनाई यह है कि राजनीतिकीकरण, सामाजीकरण, आधुनिकीकरण आदि में विविध राजनीतिक संस्कृतियों की अपनी विशिष्टतायुक्त पृष्ठभूमि अलग-अलग ढंग से काम करती है। अत: निहितार्थों की संवाहक शब्दावली से जुड़ी इकाइयों का सर्वमान्य पारिभाषिक व्याख्या दुरुह कार्य है।

दूसरी समस्या वर्गीकरण की है। तुलनात्मक अध्ययन में वर्गीकरण विज्ञान का सम्यक् विकास महत्वपूर्ण होता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं में अर्न्तनिहित विविधताओं के चलते उनका समुचित वर्गीकरण कठिन कार्य है। वर्गीकरण के ऐसे हर प्रयास में कमियां इंगित की जा सकती हैं। अत: इसमें निरन्तर परिमार्जन की गुंजाइश बनी रहती है।

तुलनात्मक राजनीति की तीसरी समस्या अभीष्ट अध्ययन की विषयगत उपकल्पनाओं को स्वरूप देना तथा उसकी प्रयोगशीलता एवं सत्यापन आदि की कसौटियों का निर्धारण करना होता है। इसमें विषय के महत्वपूर्ण पक्षों को चिह्नित करने के साथ सामान्य सिद्धान्तों एवं परीक्षित सामान्यीकरणों को इस तरह प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा होती है कि निष्कर्षात्मक ज्ञान में परिपूर्णता और आनुभविक शुद्धता अधिकाधिक संभव हो।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में तथ्य संकलन भी एक चुनौतीपूर्ण क्षेत्र होता है। तथ्यों एवं आंकड़ों का सही संकलन अध्ययन की आधारभूत कसौटी है। तथ्यों तक सटीक पहुँच में अड़चने होती हैं। शासन के नीति निर्णयों आदि की सटीक जानकारी उनकी गोपनीयता के आवरणों में होने के कारण कठिन होती है। अधिनायक तंत्रों में यह मात्रात्मक दृष्टि से अधिक दुरूह प्रश्न होता है, लेकिन उपेक्षया पारदर्शी मानी जाने वाली लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी गोपनीयता के आवरण होते हैं, जिनके पीछे से प्रामाणिक जानकारी कठिन होती है। जानकारियाँ तो मिल सकती हैं, लेकिन उनकी परिपूर्णता एवं सम्पूर्ण शुद्धता की गारंटी नहीं ली जा सकती।

आंकड़ों एवं संग्रहोत तथ्यों को मापना भी कठिन कार्य है। कभी कोई राजनीतिक व्यवहार सुनिश्चित कारणों पर आधारित होते हैं। लेकिन बाद में उन्हीं कारणों की पृष्ठभूमि में राजनीतिक व्यवहार एवं उसमें अर्न्तनिहित प्रतिक्रिया बदल जाती है। कुछ राजनीतिक निर्णय करते ही राजनीति

सकते हैं। ऐसी स्थितियों में तुलनात्मक विश्लेषण दुरूह बन जाता है।

पृष्ठभूमि की विविधताएं राजनीतिक परिणामों को विविधतापूर्ण बना देती हैं। ऐसी स्थिति में व्यवहार प्रतिमान सुनिश्चित करना और तुलनात्मक निष्कर्षों तक पहुंचना कठिन होता है। ये विविधताएं जहां संख्यात्मक दृष्टि से व्यापक होती है, वहीं दूसरी ओर उनमें जटिलताएं भी होती हैं। राजनीतिक बदलाव के कारकों को इनके बीच चिह्नित करना कठिन कार्य है। ऐसे कारक समय के साथ बदलते भी रहते हैं। ऐसे कारकों का मापन भी कठिन होता है। कभी भारत में मण्डल कमीशन की संस्तुतियों के लागू होने पर भारी संख्या में आत्मदाह होते हैं और न्यायपालिका को भारतीय समाज एवं राजनीति में इससे आये उफान को नियंत्रित करने के लिए स्थगनादेश देना पड़ता है और जब कुछ समय के बाद न्यायपालिका उसके क्रियान्वयन को वैध ठहराती है, तो उतनी तीखी प्रतिक्रिया नहीं होती। अंग्रेजों द्वारा 'इंडियन पेनल कोड' और उसके तहत 'विधि की समता' का सिद्धान्त लागू करने पर नंदकुमार नामक ब्राह्मण को फांसी की सजा के विरुद्ध बंगाल में दंगे भड़क उठते हैं, लेकिन बाद में वही समाज विधि के समक्ष समता की अवधारणा को पचा लेता है और किसी ब्राह्मण को फांसी पर दंगे नहीं होते। जब एक ही देश एवं समाज में ऐसी प्रतिक्रियात्मक भिन्नता हो सकती है, तो अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनकी सामाजिक राजनीतिक संस्कृति के अनुरूप ऐसे वैविध्य एवं उनके भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियात्मक व्यवहार की जटिलता एवं उसकी व्यापकता लाजिमी है। वस्तुत: यह सब बातें विषय को चुनौतीपूर्ण भले बनाती हों, लेकिन इनसे वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में विकास की कोशिशों का अवरोधन नहीं हो सकता।

तुलनात्मक राजनीति में एक समस्या राजनीतिक व्यवस्थाओं में स्थापित या स्वीकार्य मूल्यों एवं मानकों की विविधता अथवा जटिलता तथा उससे उपजने वाले प्रभावों को सही ढंग से समझने की होती है। ऐसे मूल्य कभी-कभी राजनीतिक व्यवस्थाओं या उनकी अपनी परम्परा एवं संस्कृति से उपजे होते हैं। इन्हें हम स्वाभाविक या अप्राकृतिक मूल्यों की कोटि में रख सकते हैं। इन मूल्यों के प्रति सम्बन्धित राजनीतिक समाज में चैतन्यता का व्यापक भाव सक्रिय रहता है। दूसरे तरह के मूल्य या मानक संवैधानिक प्रणालियों के माध्यम से उनके साथ जुड़ा होने के कारण स्थापित होते हैं। चूँकि समाज किसी संवैधानिक प्रणाली को स्वीकार करता है, इसीलिए वह उससे जुड़े मूल्यों को भी अंगीकृत करता है। कभी-कभी विशिष्ट पृष्ठभूमिगत सामाजिक प्रभावों के कारण इनमें जटिलता भी उत्पन्न होती है। अत: इन्हें उस संवैधानिक प्रणाली की परम्परा तथा सम्बन्धित सामाजिक पृष्ठभूमि की समग्रता में मूल्यांकित कर निष्कर्ष निष्पादित करने की समस्या होती है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में यह कुछ अधिक ही कठिन समस्या होती है।

राजनीतिक मूल्य या मानक कभी-कभी किसी समाज पर थोप दिये जाते हैं। प्राय: समाज, उसकी परम्पराएं या उसके संस्कार उन्हें कबूल नहीं करते, लेकिन कोई तानाशाह या अधिनायक इन्हें थोप देता है। ऐसे मूल्यों या मानकों से उत्पन्न होने वाली पेंचीदगियों के कारण किसी सामान्यीकरण पर पहुंचना कठिन हो जाता है। यहा इच्छित या अनिच्छित किस्म के दोहरे राजनीतिक व्यवहारों का प्रकटीकरण होता है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक निष्कर्षों का निष्पादन अध्ययन की समस्यास्पद चुनौती होती है। यह स्थिति समस्या का एक और आयाम प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त तीनों ही संदर्भों में मूल्यों या मानकों का संस्थागत स्वरूप तीन तरह से प्रकट होता है। लादे गये मूल्यों का संस्थाकरण अधिनायक संस्थाओं एवं व्यवहारों को जन्म देता है। यही स्थिति शेष दोनों संदर्भों में भी सामने आती है। इससे राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति में भिन्नताएं आती हैं।

राजनीतिक मूल्यों एवं संस्थाओं के वैषम्य एवं अर्न्तविरोध की स्थिति राजनीतिक व्यवहार को भी

प्रभावित करती है। तीनों में तालमेल का अभाव राजनीतिक संकट का कारण बनता है। अत: तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन तीनों के प्रति समग्र दृष्टि नियोजित करके ही हो सकता है। सामान्यत: देखा जाता है कि संवैधानिक मानकों के अतिरिक्त अन्य मानकों या मूल्यों की स्थिति में विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं में वैषम्य की स्थिति होती है और एक सामान्यीकरण कठिन कार्य होता है।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण समस्याओं के अतिरिक्त भी तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में समस्यागत जटिलताएं पेश आती हैं। इन सभी के बावजूद यह शास्त्र एक सुनिश्चित अनुशासन के रूप में निरन्तर विकसित हो रहा है। इसमें अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धतियों के समावेश के साथ निष्कर्षों का तार्किक निष्पादन एवं उनका क्रमबद्ध वर्गीकरण करने की निरन्तर परिपक्वता अर्जित करती कोशिशें अध्ययन को सुनिश्चित आकार एवं ठोस विकास की आधारभूमि प्रदान कर रही हैं।

इकाई 1 : अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अर्थ

1.2.1 तुलनात्मक राजनीति और तुलनात्मक सरकार में भेद है

1.2.2 परिभाषा

1.3 प्रकृति

1.3.1 ऊर्ध्वात्मक तुलनात्मक अध्ययन

1.3.2 क्षैतिज तुलना का अध्ययन

1.3.2.1 एक ही देश की विभिन्न समय की राष्ट्रीय सरकारों की तुलना

1.3.2.2 समकालीन विश्व की विविध सरकारों की क्षैतिज तुलना

1.4 विषय क्षेत्र

1.4.1 संस्थागत राजनीतिक व्यवहार

1.4.2 व्यवहारवादी दृष्टिकोण

1.4.3 राजनीतिक व्यवहार में मानकों का अध्ययन

1.5 सारांश

1.6 उपयोगी पुस्तकें

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

1.0 उद्देश्य

(1) इस इकाई के अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति का अर्थ और उसका परिभाषित स्वरूप प्रस्तुत होता है। इससे तुलनात्मक राजनीति को समझा जा सकता है।

(2) इस इकाई के दूसरे चरण में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन और उसके विविध आयामों की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(3) तुलनात्मक राजनीति एक विकासशील विषय है। अत: उसके क्षेत्र का भी विकास हो रहा है। इसमें व्यवहारवादी अध्ययन का स्वरूप भी निहित है। इसके साथ उभरने वाले उसके विषय क्षेत्र का ज्ञान इस इकाई के तीसरे चरण में होगा।

1.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनीति के अवधारणात्मक स्वरूप एवं उसके विकास, तुलनात्मक राजनीति के महत्व, उद्देश्य एवं उसकी समस्याओं की उपर्युक्त पृष्ठभूमि में अब हम उसके अर्थ को निष्पादित एवं पारिभाषित करने का जहां प्रयास करेंगे, वहीं एक स्वतंत्र विषय का रूप ले रहे तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और उसके क्षेत्र की चर्चा करेंगे। इससे तुलनात्मक राजनीति का सैद्धान्तिक स्वरूप एक स्वतंत्र विषय के रूप में साकार होगा।

1.2 अर्थ

आपके समक्ष उपर्युक्त विवरणों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि तुलनात्मक राजनीति से आशय राजनीतिक संस्थाओं एवं सरकारों के विविध प्रकारों, उनके व्यवहारों आदि का अर्थात् राजनीतिक

व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण कर यथासम्भव सामान्यीकृत निष्कर्षों को निष्पादित करने का प्रयास करना है। वस्तुत: तुलनात्मक राजनीति में राज्य, सरकार, संस्था, शक्ति के केन्द्रों, जनमत आदि पर आधारित राजनीतिशास्त्रीय अवधारणाओं के तुलनात्मक अध्ययन से आगे अब समग्र राजनीतिक व्यवस्था एवं राजनीतिक संस्थाओं की भूमिका, राजनीतिक संस्कृति एवं संरचना, राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं समाजीकरण आदि प्रवृत्तियों का समावेश माना जाने लगा है। इन सब बातों का निहितार्थ है राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन। राजनीतिक व्यवस्था एवं उसके प्रकार्यात्मक स्वरूप के विभिन्न स्तरों की तुलना के आधार पर राजनीति के सिद्धान्तों का निष्पादन ही तुलनात्मक राजनीति है।

1.2.1 तुलनात्मक राजनीति और तुलनात्मक सरकार में भेद है

आपके लिए यहां यह स्पष्टीकरण नितान्त आवश्यक है कि तुलनात्मक सरकार का अध्ययन ही तुलनात्मक राजनीति नहीं है। यह दोनों समानार्थी भाव नहीं रखते, यद्यपि इनके बीच अन्योयाश्रय का ऐसा भ्रम लोगों के दिमाग में देखा जाता है। तुलनात्मक सरकार का अध्ययन राज्यों और उसकी संस्थाओं एवं सरकारों के काम और उससे जुड़े दूसरे समूहों आदि के अध्ययन तक ही सीमित होता है। वह दुनिया भर में फैली सरकारों के ढांचे, आदर्शों, कार्यप्रणालियों और इन सबसे जुड़ी संस्थाओं आदि के इर्द-गिर्द सिमटा रहता है। वस्तुत: इसमें राज्य से जुड़ी संवैधानिक या विधिक संस्थाओं, संगठनों आदि के अतिरिक्त दबाव समूहों आदि का अध्ययन तो जुड़ा होता है, लेकिन तुलनात्मक शासन के अध्ययन में समग्र राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन नहीं होता।

इस तरह आपके सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में तुलनात्मक सरकार के अध्ययन से जुड़े पहलू तो शामिल हैं, लेकिन इससे तुलनात्मक सरकार के अध्ययन को तुलनात्मक राजनीति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुत: वह कुछ भिन्न है और कुछ अधिक है, जिसमें सरकारों के औपचारिक संगठनों तक सीमित नहीं रह कर समग्र राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इसमें सरकारी संस्थाओं का अध्ययन तो स्वत: शामिल रहता है। तुलनात्मक राजनीति में उससे आगे बढ़कर उन सब व्यवहारों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन भी समाहित होता है जिससे राज्य, उसकी संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रिया एवं व्यवहार और शासन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। अत: उसमें शासन से अलग के सत्ता केन्द्रों, समूहों समुदायों आदि का अध्ययन भी शामिल है।

1.2.2 परिभाषा

इस तरह आपको यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि तुलनात्मक राजनीति विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं, उनकी राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक व्यवहारों के तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण का अनुशासन है। इसमें राजनीतिक व्यवहार की सम्पूर्णता को समहित करते हुए न केवल राज्य एवं उसकी संस्थाओं का औपचारिक, बल्कि उसकी अनौपचारिक संस्थाओं, परिवेश, सामाजिक वातावरण और राज्येतर राजनीति का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यहां यह ध्यान रखा जाना जरूरी है कि गैर सरकारी अध्ययनात्मक पक्षों में ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि, परम्पराओं, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या अन्य संगठनों के व्यवहारों का अध्ययन भी शामिल है और वह तुलनात्मक राजनीति के इस अध्ययन के दायरे में उस हद तक आता है जहां तक कि वह राज्य व्यवस्था एवं राजनीति पर असर डालता है अत:—

जी०के०रोबर्टसन के अनुसार : "तुलनात्मक राजनीति अध्ययन का वह व्यापक क्षेत्र है जिसमें शासकीय एवं शासनेतर राजनीति, कबीलों, समुदायों, संस्थाओं और राज्येतर संगठनों की राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।"

फ्रीमैन के अनुसार : "तुलनात्मक राजनीति सरकार के विभिन्न स्वरूपों तथा राजनैतिक संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है।"

एम०कर्हिन के अनुसार : ''तुलनात्मक राजनीति राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधि और राजनीतिक व्यवहार की महत्वपूर्ण निरन्तरताओं, समानताओं एवं असमानताओं का अध्ययन है।''

इन परिभाषाओं से आपको यह स्पष्ट हो चुका होगा कि तुलनात्मक राजनीति वस्तुत: अध्ययन का एक स्वतंत्रत अनुशासन है जो उन सभी शक्तियों, प्रभावों, राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों का अध्ययन करता है जो राज्य एवं राजनीति से जुड़े हैं या उसे प्रभावित करते हैं। यह विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा राजनीतिक व्यवहारों का तुलनात्मक ढंग से अध्ययन एवं विश्लेषण है। इस अध्ययन में विविधताओं, समानताओं तथा असमानताओं के सभी पहलू समाहित होते हैं। वैज्ञानिक पद्धतियों के बढ़ते समावेश से सम्पुष्ट होते जा रहे इस अध्ययन में निष्कर्षात्मक सामान्यीकरण के प्रयास भी किए जाते हैं।

1.3 प्रकृति

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति की आप विवेचन करेंगे तो इसमें दोहरे अभिमत सामने आते हैं। इसमें आप देखेंगे कि मत वैभिन्य का आधार तुलनात्मक अध्ययन के दायरे से जुड़ा हुआ है। वस्तुत: यदि आप तुलना करने बैठें तो पहला सवाल यह होगा कि किसकी और किससे तुलना। हम मान लें कि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में शासन एवं राजनीति की तुलना पर आधारित अध्ययन के समय हम किसी एक ही राजव्यवस्था के भीतर सरकार एवं राजनीति के विभिन्न स्तरों, उनकी प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों का अध्ययन करते हैं अथवा विश्व में फैली विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रयोगों के बीच तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। यदि एक ही राज्य के भीतर हम सीमित होकर तुलना करते हैं तो ऐसा अध्ययन ऊर्ध्वात्मक तुलनात्मक अध्ययन (Vertical Comparative Study) कहा जाएगा। इसके विपरीत विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों के बीच यदि हम तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो उसे क्षैतिज या सामानान्तर तुलनात्मक अध्ययन (Horizontal Comparative Study) कहेंगे। वस्तुत: यह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की दोहरी प्रकृतियाँ हैं :—

1.3.1 ऊर्ध्वात्मक तुलनात्मक अध्ययन (Vertical Comparative Study)

कुछ विचारक यह मानते है कि तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन सरकारों के ढाँचे, शक्ति और व्यवहार की ऊर्ध्वात्मक तुलना का अध्ययन है। वस्तुत: ऐसा दृष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के प्रति अत्यन्त एकांगी एवं सतही दृष्टिकोण है। इस तरह के चिन्तन से जुड़े लोग यह मानते हैं कि एक ही राज्य के भीतर सरकारों की विभिन्न सतहों के बीच तुलना ही तुलनात्मक राजनीति है, जिससे यह अध्ययन ऊर्ध्वात्मक तुलना के अध्ययन के रूप में प्रस्तुत होता है। उनका मानना है कि किसी राज्य में सरकार के विभिन्न स्तर होते हैं, जैसे राष्ट्रीय और प्रान्तीय सरकारें या स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ। इन सभी शासकीय इकाइयों से सरकारी या राजनीतिक क्रियाकलाप जुड़े होते हैं। स्वाभाविक है कि इनमें राष्ट्रीय सरकार का स्वरूप राज्य में सर्वव्यापक होगा तो स्थानीय सरकार का स्थानिक। इसमें स्वरूप एवं आकार की जहां भिन्नता होती है और भूमिका एवं क्षेत्र की दृष्टि से भी असमानता होती है, वहीं इसमें शासकीय या राजनीतिक व्यवहार की दृष्टि से समानताएं भी होती हैं। इनके बीच इन सब समानताओं एवं असमानताओं का तुलनात्मक अध्ययन ही तुलनात्मक राजनीति है।

ऊर्ध्वात्मक तुलना के पक्षधर विद्वानों का मानना है कि किसी राज्य में सरकार संगठन के ढांचे का जो भी मॉडल हो, उसमें उर्ध्वात्मक रूप से सरकारों के विभिन्न स्वरूप एवं स्तर विद्यमान अवश्य रहते हैं। एकात्मक सरकार में जहां एक सर्वव्यापी राष्ट्रीय सरकार होगी, वहीं दूसरी ओर स्थानीय स्वशासी सरकारों या निगमों आदि का अस्तित्व भी होगा। इसी प्रकार जहां संघात्मक सरकार का ढाँचा होगा, वहां भी स्वाभाविक रूप से एक ओर दोहरी सरकारों का संवैधानिक अस्तित्व होगा, वहीं दूसरी ओर

स्वशासन की इकाइयाँ भी रहेंगी। इस तरह एक ही राज्य की विधिस्तरीय इन सरकारों का तुलना करना ही तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन है। इसे ऊर्ध्वात्मक तुलना का अध्ययन (Vertical Comparative Study) कहेंगे।

इस तरह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की प्रकृति का जो स्वरूप आपके सामने प्रकट होता है, वह इस अध्ययन के प्रति परिपक्व एवं समग्र दृष्टि नहीं कही जा सकती। ऊर्ध्वात्मक तुलना के आधार पर तुलनात्मक राजनीति को परिभाषित करना भी विषय के प्रति अर्धसत्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। जब सरकारें एक जैसी नहीं हैं, उनके प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता समान नहीं है, उनके अधिकार और उसके स्रोत एक जैसे नहीं है, उनकी विधियाँ भिन्न है, उनकी विधियों से जुड़ी दण्डात्मक शक्ति की स्थिति में मात्रात्मक एवं गुणात्मक भेद है तो उनकी तुलना किसी सामान्य निष्कर्ष का आधार भला कैसे बन सकती है? उनमें समानता से अधिक असमानता के तथ्य होंगे और असमान संस्थाओं की तुलना करके सामान्यीकृत निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

उर्ध्वात्मक तुलना पर आधारित अध्ययन के लिए राष्ट्रीय, स्थानीय या आंशिक सरकारों के बीच समानता के तीन क्षेत्र चिह्नित किए जाते हैं। ये क्षेत्र हैं वित्तीय संसाधनों की दृष्टि से तुलना, विधियों की दृष्टि से तुलना और शासन संगठन की शक्तियों की दृष्टि से तुलना।

1. वित्तीय संसाधनों की दृष्टि से राष्ट्रीय सरकारों का क्षेत्र एवं आधार व्यापक होता है और स्थानीय सरकारों का संकुचित। इनके स्रोतों एवं इनकी प्रक्रियाओं में भी अन्तर होता है। इन सब बातों के बावजूद ऊर्ध्वात्मक तुलना पर आधारित राजनीतिक अध्ययन के समर्थक मानते हैं कि इनमें तुलना की जा सकती है।

2. उर्ध्वात्मक तुलना के पक्षधर मानते हैं कि सभी स्तर की सरकारें विधिक ढांचे से जुड़ी होती हैं। किसी भी स्तर की सरकार हो वह विधियों के बिना तो चल नहीं सकती। अतः इस दृष्टि से विधिक आधार पर विभिन्न स्तरों की सरकारों में तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। सच कहा जाय तो आपको इस दृष्टिकोण से भी तुलनात्मक अध्ययन में समानताओं से अधिक असमानताओं की बाधा ही नजर आएगी। राष्ट्रीय सरकार की विधियों के पीछे निहित सम्प्रभु शक्ति एवं उसकी सर्वव्यापकता के मद्देनजर उनकी तुलना स्थानीय सरकारों की विधियों से नहीं की जा सकती। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन से दोनों स्तरों की विधियों की प्रकृति का अन्तर भले ही समझा जा सके, लेकिन तुलनात्मक आधार पर कोई सामान्यीकृत निष्कर्ष निष्पादित नहीं किए जा सकते।

3. शक्ति के आधार पर भी विभिन्न स्तर की सरकारों में तुलनात्मक अध्ययन की बात की जाती है, लेकिन यह अध्ययन भी शक्ति के मात्रात्मक भेद का ही प्रकटीकरण कर सकता है और इससे कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय सरकारें शक्ति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न होंगी और उनकी शक्तियों की तुलना स्थानीय सरकारें नहीं कर सकती।

इन विश्लेषणों से आप इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन ऊर्ध्वात्मक तुलना नहीं हो सकता। एक देश में विभिन्न स्तरों की सरकारों के बीच तुलना की आंशिक गुंजाइश के बावजूद उनसे कोई सामान्यीकृत परिणाम या निष्कर्ष तक नहीं पहुंचा जा सकता। अतः ऊर्ध्वात्मक तुलना द्वारा राजनीति के अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक राजनीति को परिभाषित करना जहां गलत होगा, वहीं इससे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की सही प्रकृति का प्रकटीकरण नहीं होता।

1.3.2 क्षैतिज तुलना का अध्ययन (Horizantal Comparative Study)

जहाँ इससे पूर्व आपने तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति का विश्लेषण इस दृष्टिकोण के आधार पर

देखा कि तुलनात्मक राजनीति एक ही राज्य की विभिन्न स्तरों की सरकारों के बीच ऊर्ध्वात्मक तुलना का अध्ययन है, वहीं उनके अध्ययन की क्षैतिज तुलना का अर्थ यह है कि वह विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों की समानान्तर तुलना है। ऐसे अध्ययन से ही तुलनात्मक राजनीति के लक्ष्यों की सिद्धि होती है। विभिन्न सरकारों के समानान्तर ढाँचे, व्यवहार एवं प्रक्रिया आदि सहित विभिन्न पहलुओं से जुड़े समग्र राजनीतिक व्यवहार की तुलना हमें किसी सामान्यीकृत निष्कर्ष पर भी पहुँचा सकती है। फलत: इस तरह की तुलना के अध्ययन से ही विषय का सही महत्व प्रकट होकर सामने आता है। इससे किसी भी राजनीतिक व्यवहार को समानान्तर तुलना के आधार पर सही दृष्टि से समझा और विश्लेषित किया जा सकता है। अत: इस प्रकार की सोच या चिन्तनधारा तुलनात्मक राजनीति की सही प्रकृति को प्रस्तुत करती है।

जब हम तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन सरकारों के समान स्तरीय समान्तर व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में करने बैठते हैं तो तुलना के दो अलग-अलग प्रभाव सामने आते हैं। एक तो एक ही राज्य में विभिन्न कालों की राष्ट्रीय या समानान्तरीय सरकारों की तुलना का अध्ययन और दूसरा का अलग-अलग राष्ट्रों की सरकारों की एक ही समय में तुलना। अध्ययन के इन दोनों आयामों का विश्लेषण करके ही तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति को स्पष्ट किया जा सकता है।

1.3.2.1 एक ही देश की विभिन्न समय की राष्ट्रीय सरकारों की तुलना

एक ही देश की विभिन्न कालखण्डों की सरकारों के कार्य एवं व्यवहार की तुलना यदि आप करें तो उससे सामान्यीकृत निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ऐसी तुलना से किसी भी राष्ट्र की राजनीति का वैचारिक कलेवर समृद्ध होता है, सरकारों की सफलता-असफलता के कारकों का ज्ञान होता है और बेहतर शासकीय नेतृत्व के सबक मिलते हैं। कोई भी राष्ट्र अपनी पृष्ठभूमि और अपने इतिहास से कटकर नहीं जी सकता। वर्तमान राजनीतिक व्यवहार, उसकी राजनीति एवं वैचारिकी का निर्धारण करने में अतीत के अनुभव लाभदायी होते हैं और फलत: एक ही देश की पूर्ववर्ती सरकारों एवं वर्तमान सरकार की तुलना राजनीतिक दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है। इतिहास तो राजनीति की प्रयोगशाला होती है और ऐसे तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन से उपजे सामान्य निष्कर्ष उस प्रयोगशाला के प्रयोगों के वह पर्यवेक्षण हैं जो राजनीति को दिशा देने में समर्थ होते हैं।

एक ही देश की सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन भी दो आधारों पर हो सकता है। प्रथमत: अध्ययन का एक आयाम यह हो सकता है कि हम विभिन्न युगों की सरकारों एवं उनकी राजनीति की तुलना कर निष्कर्ष निकालें। यथा आधुनिक काल की राष्ट्रीय सरकार की तुलना प्राचीन काल, मध्य काल या ब्रिटिश काल से की जाए। इसमें हम सम्पूर्ण इतिहास के परिप्रेक्ष्य से सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। जैसे मैं आपका ध्यान भारीय इतिहास के एक सामान्य पर्यवेक्षण की ओर आकृष्ट करता हूँ। यदि आप भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो आपको दृष्टिगोचर होगा कि भारतीय अतीत में जब-जब मजबूत केन्द्रीय सत्ता स्थापित हुई तो बड़े साम्राज्यों की रचना हुई। इसके विपरीत जब-जब केन्द्र कमजोर हुआ तो राजनीतिक विघटन तीव्र हो उठा। जब कोई चाणक्य और चन्द्रगुप्त उभरा तो भारत में बड़े साम्राज्य बने, लेकिन ऐसे केन्द्रीय सत्ता केन्द्र जब कमजोर हुए तो साम्राज्यों का पतन एवं विघटन होता रहा। इतिहास के इस पर्यवेक्षण को ही ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि भारतीय संघ का निर्माण करते समय भारतीय संविधान निर्माताओं ने संघात्मकता की प्रवृत्ति के विरुद्ध जाकर भी भारत में केन्द्र की ओर झुका हुआ या मजबूत केन्द्र वाला संघ बनाया। ऐसा इतिहास के विभिन्न कालखण्डों या युगों की राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन से निकाले गये सामान्य निष्कर्षों के फलस्वरूप हुआ। राष्ट्रीय सरकारों की विभिन्न युगों की सरकारों से ऐतिहासिक आधार पर तुलना के लिए यह जरूरी है कि तथ्यों का सही संकलन कर उन्हें विश्लेषित किया जाए।

द्वितीय : अध्ययन का दूसरा आयाम यह हो सकता है कि आधुनिक युग की ही विभिन्न समय की राष्ट्रीय सरकारों की तुलना की जाए। भारत के वर्तमान लोकतांत्रिक संवैधानिक युग में ही हम नेहरू युग, शास्त्री युग, इन्दिरा युग, जनता शासन युग, राजीव युग, नरसिम्हं राव युग, अटल युग आदि की तुलना कर सकते हैं। इनकी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों एवं व्यवहारों, आर्थिक नीतियों आदि की तुलना में राजनीति से सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी सरकारों की भी तुलना का अध्ययन कर सकते हैं और राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से नेहरू मॉडल और मनमोहन सिंह मॉडल की तुलना जैसे अध्ययनों से भी सामान्य निष्कर्षों की ओर बढ़ सकते हैं।

विभिन्न युगों की राष्ट्रीय सरकारों की ऐतिहासिक तुलना महत्वपूर्ण है, लेकिन यह समग्र तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति नहीं कही जा सकती। निश्चय ही यह इस अध्ययन का एक पक्ष है। विभिन्न युग परिवर्तनों के साथ बदलती राजनीतिक संस्कृति राजनीति के स्वरूप में गुणात्मक अन्तर प्रकट करती है, इसलिए यह सरकारों की प्रकृति एवं राजनीतिक व्यवहार समग्रता के ज्ञान का आधार नहीं हो सकती।

1.3.2.2 समकालीन विश्व की विविध सरकारों की क्षैतिज तुलना

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति का सबसे महत्वपूर्ण आयाम है विभिन्न देशों की समकालीन सरकारों एवं उनके राजनीतिक व्यवहार की तुलना। इस तरह का अध्ययन तुलनात्मक आधार पर निष्कर्षों के सामान्यीकरण में जहां समर्थ है, वहीं इससे ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित किया जा सकता है, जिससे विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझा जा सके। इससे न केवल राजनीतिक संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं की प्रकृति को समझा जा सकता है, बल्कि उनकी कार्यविधि और व्यवस्था के किसी पहलू की सफलता-असफलता आदि को भी सही कारकों के साथ समझा जा सकता है। विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों की तुलना न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति बल्कि राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के भी बहुतेरे पक्षों को समझने में सहायक हैं।

आपके साथ तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के विभिन्न आयामों को विश्लेषित करने से यह बात सुस्पष्ट रूप से सामने आती है कि तुलनात्मक राजनीति का विकास एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में हो रहा है। इसने शासकीय एवं अशासकीय दोनों संदर्भों में राजनीति के व्यवहार को अपनी अध्ययन सीमा में समेट कर ज्यादा व्यापक प्रकृति का परिचय दिया है।

1.4 विषय क्षेत्र

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उसका क्षेत्र अभी पूरी तरह निर्धारित एवं अंतिम स्वरूप में नहीं, बल्कि विकासशील एवं संक्रमण अवस्था में है। फलतः इसका क्षेत्र विवादों के दायरे में है। वह क्रमशः अपना स्वरूप बदल रहा है। व्यवहारवादी क्रान्ति ने उसके क्षेत्र एवं स्वरूप विस्तार को उत्तेजित कर व्यापक फलक प्रदान किया है। अतः हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में अंतिम सीमांकन अभी होना है। अतः इसके विषय क्षेत्र में राजनीति के किन आयामों को शामिल किया जाय और उनको शामिल करने का आधार क्या हो आदि प्रश्न अभी पूर्ण परिपक्व उत्तर प्राप्त करने की स्थिति में नहीं है।

इस तरह तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र यद्यपि विवादित है, लेकिन उसको अधोलिखित स्वरूपों में चिह्नित किया जा सकता है :

1.4.1 संस्थागत राजनीतिक व्यवहार

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र से जुड़े विवाद में एक स्कूल यह मानता है कि उसे विधिक या संवैधानिक संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन तक ही सीमित रहना चाहिए। उसे मात्र संविधान द्वारा स्थापित राजनीतिक सत्ता केन्द्रों एवं उनके व्यवहार का ही अध्ययन करना

चाहिए। इस तरह का दृष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को राजनीतिक व्यवस्थाओं के ढाँचागत स्वरूपों एवं व्यवहारों के अध्ययन तक ही सीमित रखने का आग्रह रखता है। इसकी मान्यता है कि अन्य प्रकार के राजनीतिक कार्यों का अध्ययन न तो व्यावहारिक है और न ही उससे किसी सामान्यीकरण तक ही पहुँचा जा सकता है। अत: तुलनात्मक राजनीति में केवल उसी राजनीतिक व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन हो, जो विधिसम्मत राजनीतिक संस्थाओं से जुड़े हों।

क्षेत्र सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण की आलोचना इस आधार पर की जा सकती है कि यह एकांगी दृष्टिकोण है। अनेक संवैधानिक प्रणालियों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक यथार्थ में तथ्यात्मक भिन्नता होती है। अत: ऐसा अध्ययन सटीक निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकता। भारत में हमने संघीय ढाँचा अपनाया है, लेकिन जहाँ संविधान में केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ हैं, वहीं व्यवहार में वह केन्द्रीकरण और भी गाढ़ा नजर आता है। उससे कभी-कभी एकात्मकता का आभास तक परिलक्षित होने लगता है। समाज की स्थितियाँ भी संघीय चरित्र को प्रभावित करती हैं। अत: मात्र संवैधानिक ढाँचे के अध्ययन से भारतीय संघवाद के सही स्वरूप को नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उसके संघीय ढांचे को प्रभावित करने वाली अनेक संविधानेतर प्रवृत्तियाँ व्यवहार में सक्रिय रहती हैं। अत: उन्हें समझे बिना कोई भी तुलना बेमानी साबित होगी।

1.4.2 व्यवहारवादी दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण का आग्रह यह होता है कि मात्र कानूनी औपचारिक ढाँचे की सीमा में राजनीतिक तुलना पर्याप्त नहीं है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में हमें उससे आगे बढ़कर राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक व्यवहार और उस पर व्यावहारिक धरातल पर पड़ने वाले सभी प्रभावों आदि का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। ऐसे चिन्तन से जुड़े व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीतिक संस्थाओं का वास्तविक व्यवहार, कैसा और कैसे होता है, यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मौलिक पक्ष है, जिसको उपेक्षित कर तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन सम्भव नहीं। अत: इस दृष्टिकोण में शासकीय एवं अशासकीय दोनों क्षेत्रों के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन को तुलनात्मक राजनीति का हिस्सा माना जाता है। बिना इसके राजनीतिक संस्थाओं की गत्यात्मकता का सही अध्ययन हो ही नहीं सकता।

व्यवहारवाद वस्तुत: एक आधुनिक एवं वैज्ञानिक आवधारणा है, जिसने सभी समाजविज्ञानों को प्रभावित किया है। वह प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों में एक तालमेल की सम्भावना को भी स्वीकार करता है। अत: यह धारणा राजनीतिक व्यवहार की प्रत्यक्ष क्रियाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर उनकी सभी प्रेरणाओं, बोधों एवं प्रभावों के अध्ययन से इस विषय को एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि एवं धरातल देती है।

अत: व्यवहारवादियों के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टि का तकाजा यह है कि तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन करने में राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं तथा दूसरी ओर गैरराजनीतिक संस्थाओं एवं शक्तियों के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित समस्त तथ्य एकत्र करके विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना की जानी चाहिए। वस्तुत: तुलनात्मक राजनीति को उन सभी माध्यमों एवं तरीकों का अध्ययन करना चाहिए जिससे समाज में मूल्यों का अधिकृत वितरण होता है। उसका कार्य है कि वह इनका परीक्षण करे। उसे मूल्यों के निर्माण एवं उसके लक्ष्यों का अध्ययन, मूल्यों को शासनतंत्र द्वारा अपनाए जाने और निर्णयों में आत्मसात किए जाने की प्रक्रिया का अध्ययन और निर्णय के क्रियान्वयन की व्यावहारिक स्थिति का अध्ययन करना चाहिए। तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन इन तीनों प्रक्रियाओं से जुड़े राजनीतिक व्यवहार का भी तुलनात्मक अध्ययन है।

1.4.3 राजनीतिक व्यवहार में मानकों का अध्ययन

तुलनात्मक राजनीति इस बात का भी अध्ययन है कि राजनीतिक व्यवहार मानकों के अनुरूप है या नहीं। अत: इस अध्ययन में राजनीतिक मानकों तथा राजनीतिक व्यवहार दोनों का अध्ययन समाहित माना जाना चाहिए। यहां यह आपके ध्यान देने योग्य बात है कि मानक हमेशा स्थिर नहीं रहते। उनमें गत्यात्मकता होती है और वह समय के साथ बदलते रहते हैं। मानक सामान्यतया नियमों, कानूनों एवं

सिद्धान्तों में अभिव्यक्त होते हैं। इनके माध्यम से वह राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा बनते हैं। अगर मानकों के अनुरूप राजनीतिक आचरण है, तो तुलना सहज होती है, लेकिन इसमें वैषम्य भी सामने आते हैं। प्राय: राजनीतिक व्यवहार कानून के या सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है। वैसी स्थिति विरोधाभास प्रकट करती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद एवं पंथनिरपेक्ष जैसे शब्दों का प्रयोग है जिससे संविधान की दार्शनिकता या सैद्धान्तिकता स्पष्ट होती है। लेकिन व्यवहार में उदारीकरण, विनिवेशीकरण, वैश्वीकरण, साम्प्रदायिकता आदि के यथार्थ इसके विपरीत राजनीतिक व्यवहार की दूसरी तस्वीर पेश करते हैं। कभी हम देखते हैं कि राजनीतिक व्यवहार में कानून एवं संविधान का पालन नहीं करने की प्रवृत्ति दिखायी देती है या उनका पालन होता है तो राज्य के दण्डकारी शक्ति के भय मात्र से। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक यथार्थ की उपेक्षा कर किसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन और उससे निकला निष्कर्ष निश्चय ही त्रुटिपूर्ण होगा।

1.5 सारांश

तुलनात्मक राजनीति से अर्थ राजनीतिक संस्थाओं एवं सरकारों के विभिन्न प्रकारों के स्वरूप एवं व्यवहार का, अर्थात राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण कर सामान्यीकृत निष्कर्षों को निष्पादित करने का प्रयास करना है। यह मात्र तुलनात्मक सरकार नहीं, समग्र राजनीतिक व्यवस्था एवं उसके व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन है।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की प्रकृति दोहरी होती है। प्रथम है ऊर्ध्वात्मक प्रकृति जिसमें एक राज्य के भीतर शासकीय ढांचे, शक्ति एवं राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय है क्षैतिज या समानान्तर प्रकृति जिसमें विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास होता है।

आपके समक्ष तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र सम्बन्धी इन दृष्टिकोणों के विश्लेषण को निष्कर्षात्मक रूप देते हुए कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीतिक के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत दुनिया की विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों या व्यवस्थाओं के शासनतंत्र के ढाँचों, शासन व्यवहार की प्रक्रियाओं एवं उनके प्रतिमानों का जहां अध्ययन किया जाता है, वहीं उसमें अशासकीय संस्थाओं, शक्ति केन्द्रों आदि के राजनीतिक व्यवहार का भी अध्ययन शासन एवं राजनीति पर उनके प्रभाव की हद तक किया जाता है। इस तरह इसके अध्ययन के दायरे में कानून, कानून निर्माण, राजनीतिक नीति-निर्णयों, राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा संविधानेतर एवं राज्येत्तर अभिकरणों और संस्थाओं आदि की राजनीति का भी अध्ययन शामिल होता है।

1.6 उपयोगी पुस्तकें

1. जे० ब्लाण्डेल, : ''एन इण्ट्रोडक्शन टू कम्पैरिटिव पालिटिक्स'', लन्दन, 1969
2. जे०सी० जौहरी : ''तुलनात्मक राजनीति''
3. सी०बी० गेना : ''तुलनात्मक राजनीति तथा राजनीतिक संस्थाएं''

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति का अर्थ स्पष्ट करें। तुलनात्मक राजनीति और तुलनात्मक सरकार में क्या भेद है?
2. तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति की व्याख्या करें।
3. तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र स्पष्ट करें।

इकाई 2 : परम्परागत दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन की विशेषताएं

- 2.2.1 संकीर्ण अध्ययन
- 2.2.2 स्थिरता
- 2.2.3 तुलना का अतुलनात्मक अध्ययन
- 2.2.4 वर्णनात्मक अध्ययन
- 2.2.5 आदर्शपरक अध्ययन
- 2.2.6 एक विषयक या प्रबन्धात्मक अध्ययन
- 2.2.7 विधिपरक औपचारिक-संस्थागत अध्ययन

2.3 आलोचनात्मक मूल्यांकन

2.4 महत्व

2.5 सारांश

2.6 उपयोगी पुस्तकें

2.7 संबंधित प्रश्न

2.0 उद्देश्य

अध्ययन के किसी भी अनुशासन के प्रति जहां एक परम्परागत दृष्टिकोण होता है, वहीं उसकी अद्यतन विकास से जुड़ी आधुनिक दृष्टि भी होती है। इस इकाई का उद्देश्य तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के परम्परागत दृष्टिकोण का अर्थ, स्वरूप एवं उसका वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना है। परम्परागत दृष्टि में कुछ संकीर्णताएं, जड़ताएं तथा आदर्शपरक सीमाएं होती है, जिन्हें स्पष्ट करना इस इकाई के उद्देश्य में शामिल है।

2.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का पुराना और लम्बा इतिहास रहा है। राजनीतिक संस्थाओं, संविधानों, सरकारों आदि के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी रही है जितनी विचारों के लिखित इतिहास का क्रम। अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं की स्थापना और विकास ने राजनीतिक चिन्तकों एवं राजनीतिशास्त्रियों को सदैव ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रेरित किया। तुलनात्मक अध्ययन के सहारे सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था की खोज के लिए वह हर युग में प्रेरित होते रहे। अरस्तु ने जहां सबसे पहले 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन किया, वहीं आगे चलकर पोलिबियस, सिसरो, मेकियावेली, मान्टेस्क्यू से मार्क्स तक अनेक राजनीतिक दर्शनकारों ने निष्कर्षों तक पहुँचने में ऐसे अध्ययन का सहारा लिया। इस प्रकार की शासन व्यवस्था की कभी और कहीं सफलता और कहीं असफलता का या दो भिन्न तरह की राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर राजनीतिक संस्थाओं, आदर्शों, मूल्यों एवं व्यवस्थाओं के श्रेष्ठ स्वरूप का ज्ञान अर्जित करने की कोशिशें हमेशा होती रही हैं। राजनीतिक विकास एवं बदलाव के साथ राजनीतिक व्यवस्थाओं में जटिलताएं भी आती गयीं और उन सभी के बीच तुलनात्मक अध्ययन की विधि, उपकरणों एवं तकनीकियों आदि में भी बदलाव आता रहा है। इन उपागमों का अध्ययन दो रूपों में परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण के साथ होता है। अध्ययन के आरम्भिक या उसके बाद के युग से जुड़े उपागमों को पराम्परागत दृष्टिकोण का अध्ययन कहा जा सकता है।

तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत दृष्टिकोण सरकारों के ढाँचे, उनके संवैधानिक या औपचारिक संगठन के ऐतिहासिक, वर्णनात्मक एवं वैधानिक अध्ययन तक संकुचित रहा है। इसमें समस्याओं का समाधान देने वाले, व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक सामान्य निष्कर्षों के निष्पादन की वह प्रतिबद्धता नहीं परलक्षित होती है, जो आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखी जाती है। बार्कर, लास्की, फैड्रिक और फाइनर जैसे लेखक अथवा ऑग एण्ड जिक की ''माडर्न फारेन गवर्नमेंट्स'' मुनरों की ''दि गवर्नमेंट इन इंग्लैण्ड'' एवं ''अमेरिकन प्रेसीडेंसी'' जैसी पुस्तकों की गणना परम्परागत अध्ययन की कोटि में ही की जा सकती है। यह सभी अध्ययन विदेशी राजनीतिक प्रणालियों के स्वरूप के अध्ययन तक ही सीमित रहे हैं। दूसरी ओर परम्परागत तुलनात्मक राजनीति अध्ययन पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं तक ही सीमित रहा है। इसमें नवोदित राजनीतिक प्रणालियों के अध्ययन का दायित्वबोध दृष्टिगत नहीं होता है।

2.2 तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन की विशेषताएं

तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत दृष्टिकोण आपके समक्ष उपर्युक्त विश्लेषण से यद्यपि अपने स्वरूप को स्पष्ट करता है, लेकिन उसकी कुछ आधारभूत विशेषताओं के द्वारा उसे और अधिक सुस्पष्ट किया जा सकता है। तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण से जुड़े चिन्तकों ने जो स्थापनाएं एवं तुलना की पद्धतियाँ प्रस्तुत कीं, उनसे इस उपागम की कुछ आधारभूत विशेषताएं चिह्नित की जा सकती हैं—

2.2.1 संकीर्ण अध्ययन

तुलनात्मक राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन एक संकीर्ण अध्ययन है। वस्तुत: परम्परागत दृष्टिकोण से जो अध्ययन हुए उनसे ही इस दृष्टिकोण की संकीर्ण स्थिति सामने आती है। ऐसे चिन्तकों या विद्वानों ने अपने को कुछ योरोपीय देशों या उनके इक्का-दुक्का उपनिवेशों के अध्ययन तक ही सीमित रखा। इस तरह वह पश्चिमी शासन प्रणालियों की संकीर्ण परिधि में ही घिरे रहे। कुछ हद तक उन देशों को उन्होंने अध्ययन के दायरे में लिया, जिन पर योरोपीय संस्कृति एवं भाषाओं का प्रभाव रहा है। ऐसे राज्य मुख्यत: अमेरिकी हैं। शेष विश्व को उन्होंने शायद राजनीतिक व्यवस्था के तुलनातमक अध्ययन के योग्य ही नहीं समझा, जबकि इनके साथ तुलना के कुतूहलपूर्ण एवं अभिनव आयाम उभर रहे थे। इस तरह परम्परागत दृष्टिकोण पश्चिमी देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं तक संकुचित रहा और कुल मिलाकर एक सांस्कृतिक समूह से जुड़े राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन ही बनकर रह गया।

पश्चिमी देशों के तुलनात्मक राजनीति के अध्येता विद्वान् आदर्शवादी लक्ष्यों से प्रेरित होने के कारण भी एक संकीर्ण दायरे में बँधकर अध्ययन करते रहे। वे लोकतंत्र के आदर्श से अनुरक्त थे और पश्चिमी लोकतंत्रों की तुलना के अध्ययन में जहां उन्होंने रूचि दिखायी, वहीं उसी दौर में पश्चिमी देशों की तानाशाहियों को उन्होंने अध्ययन योग्य नहीं समझते हुए उसकी उपेक्षा की। शायद पथभ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को वह अनौचित्यपूर्ण एवं अनावश्यक मानते थे और इस तरह राजनीतिक इतिहास के यथार्थों से कट कर वह कहीं न कहीं आदर्शों की खोज में ही उलझे रहे।

2.2.2 स्थिरता

उपर्युक्त संकीर्ण प्रकृति के कारण तुलनात्मक राजनीति के परम्परावादी दृष्टिकोण में अध्ययन की गत्यात्मक प्रकृति की जगह स्थिरता की विशेषता दिखायी देती है। वस्तुत: विकास एवं गत्यात्मकता के तत्त्वों को इस परम्परागत अध्ययन में उपेक्षित किया गया है, जिससे इस अध्ययन में एक तरह का जड़त्व आ गया। यहां तक कि शासन सत्ताओं के परिवर्तनों में भी परिवर्तनकारी गत्यात्मक तत्वों को तलाशने की कोशिश नहीं की गयी है। महज लोकतंत्रों के दायरे में ही सीमित रहकर तुलनात्मक अध्ययन की संकीर्णता में बंधे रहना इस तरह के जड़त्व का मुख्य कारण है। यह कानूनी दृष्टि से राजनीतिक संस्थाओं में शासन शक्ति के वितरण के अध्ययनों तक स्थिर अध्ययन दृष्टि है। अत: ऐतिहासिक विकास क्रम में भी वह महज संवैधानिक धाराओं के अध्ययन तक सीमित है। दबाव

समूह, जनमत, चुनाव, राजनीतिक व्यवहारों आदि के गत्यात्मक पक्षों के अध्ययन की उसमें उपेक्षा नजर आती है।

2.2.3 तुलना का अतुलनात्मक अध्ययन

आप ध्यान दें तो नजर आएगा कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का परम्परागत दृष्टिकोण तुलना का अध्ययन होते हुए भी वस्तुत: एक अतुलनात्मक अध्ययन ही कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस तरह के अध्ययन में जो भी तुलनाएं करने की कोशिश की गई है, वह वस्तुत: तुलनात्मक कम वर्णनात्मक प्रस्तुति अधिक है। यद्यपि वर्णित तथ्य कई राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं, लेकिन फिर भी उनमें तुलना जैसा कुछ स्पष्ट प्रतीत ही नहीं होता। शायद यह तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण की सही एवं सटीक पद्धतियों के अभाव का द्योतक है।

परम्परागत अध्ययन में सही अर्थों में तुलनात्मक प्रकृति के अभाव का मुख्य कारण यह रहा है कि ऐसे अध्ययन प्राय: एकदेशीय रहे हैं अथवा अधिक से अधिक दो देशों तक ही सीमित थे। परम्परागत दृष्टिकोण के अध्येता मानते थे कि तुलना के लिए देश ही पर्याप्त इकाई है।

दूसरा प्रमुख कारण यह रहा है कि परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन संवैधानिक दायरे तक ही संकुचित रहे हैं। एक राज्य की संवैधानिक व्यवस्था का वर्णन और फिर दूसरे की संवैधानिक व्यवस्था के वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण की समानान्तर कोशिश से तुलना का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। तुलना का उद्देश्य तो समानताओं एवं असमानताओं को चिह्नित कर सामान्य निष्कर्षों तक पहुंचना है। ऐसी स्थिति में परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन सही अर्थों में तुलना के नाम पर अतुलनात्मक अध्ययन के रूप में ही प्रस्तुत होता है।

तीसरा कारण यह रहा है कि परम्परागत तुलनात्मक दृष्टिकोण एक ही तरह की संस्थाओं का समानान्तर अध्ययन की कोशिश करता है। यहां तुलना समान ही नहीं असमान संस्थाओं के भी तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा रखती है। कुछ लोकतंत्रों की विधायिका सभाओं या कार्यपालिकाओं की तुलना को ही तुलनात्मक अध्ययन मान लेना एक भ्रान्त दृष्टि है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हैं कि तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम वस्तुत: मात्र वर्णानात्मक होने के कारण अतुलनात्मक प्रकृति का है।

2.2.4 वर्णनात्मक अध्ययन

उपर्युक्त तथ्यों से ही आपको स्पष्ट हो गया होगा कि तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम तुलनात्मक से अधिक वर्णनात्मक प्रकृति रखता है। फलत: यह उन सामान्य निष्कर्षों तक नहीं पहुंच सकता जिससे समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सके और उसके कारणों की सही व्याख्या एवं विश्लेषण में इस अध्ययन के निष्कर्षों का उपयोग हो सके। अपने वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण में यह दृष्टिकोण जिन शासन प्रणालियों की समानताओं एवं असमानताओं को स्पष्ट करता है, उनके कारणों एवं उनकी समस्याओं के निदान की हद तक वह उपादेय नहीं बन पाता। वर्णनात्मक भूमिका में भी वह ऐतिहासिक एवं विधिक पद्धतियों से बंधे रहे हैं। सिद्धान्तों की निष्कर्षात्मक स्थापना और राजनीति परिकलनाओं को परीक्षण के आधार पर उभारने में वह उपागम नाकाम रहा है।

2.2.5 आदर्शपरक अध्ययन

उपर्युक्त विवेचन से यह विशेषता स्वत: उभरती है कि तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत अध्ययन एक आदर्शपरक अध्ययन है। आदर्शच्युत राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की इसमें जहां उपेक्षा हुई है, वहीं आदर्शात्मक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर जोर दिया गया। उस दौर में योरोपीय राजनीति के क्षितिज पर लोकतंत्र का उगता सूरज लोगों की आशा भरी निगाहों के केन्द्र में था। लोकतंत्र के उदय एवं विकास से अभिभूत उस वातावरण में लोकतांत्रिक आदर्शों के अध्ययन की प्रतिबद्धता तुलनात्मक राजनीति के अध्ययनों में भी बहुत स्पष्ट रही है। इटली या जर्मनी में लोकतंत्र का सूर्य यदि अधिनायकवाद के मरुस्थल में जा फंसा था, तो परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के अध्येता उसे संक्रमणकालीन विचलन मात्र मानते हुए तुलनात्मक अध्ययन के लिए अनुपयुक्त मानते थे। यह

आदर्शवादिता की प्रतिबद्ध अभिव्यक्ति थी जो तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन में नजर आती है। सच बात यह है कि आदर्शों से प्रेरित इन अध्येताओं ने भले ही फासी एवं नाजी शासन प्रणालियों के प्रयोगों के अध्ययन को अनौचित्यपूर्ण एवं अनावश्यक माना हो, लेकिन राजनीतिक व्यवस्थाओं के इतिहास में इनके अध्ययन के महत्व को नहीं नकारा जा सकता है।

2.2.6 एक विषयक या प्रबन्धात्मक अध्ययन

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण में प्रबन्धात्मक (Monographic) या एक विषयक अध्ययन का स्वरूप प्रकट होता है। संस्थाओं के वास्तविक आन्तरिक कार्य व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन का पक्ष इसमें उपेक्षित हो जाता है। पश्चिम के ऐसे जो महत्वपूर्ण अध्येता हैं, वह किसी एक देश की राजनीतिक व्यवस्था के किसी एक पक्ष या उसकी संस्थाओं या उसकी किसी संस्था विशेष के ही अध्ययन तक तुलनात्मक राजनीति को सीमित रखते हैं। तुलनात्मक राजनीति की पुस्तकें किसी सामान्य विषय पर केन्द्रित रहती हैं। यथा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के सम्बन्धों, प्रशासकीय विधियों या प्रशासनिक संस्थाओं के विकास, राष्ट्रीय विशेषताओं या राजनीतिक विचारधाराओं आदि तक ही वर्णन मुख्यत: केन्द्रित रहता है। मैकीडिस ने कहा है कि मेरियट, कीथ, बार्थेलेमी, जेम्स ब्राइस, आइवर जेनिंग्स, लास्की, डायसी, बुडरो विल्सन आदि की रचनाएं सामान्यत: किसी एक राज्य की राजनीतिक व्यवस्था अथवा उसके किसी सुनिश्चित संस्थात्मक विकास के अध्ययन तक सीमित हैं। अत: तुलनात्मक राजनीति के सभी परम्परागत अध्ययन किसी एक राजनीतिक संस्था अथवा राजनीतिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण मात्र प्रतीत होते हैं।

2.2.7 विधिपरक औपचारिक-संस्थागत अध्ययन

अध्ययन के इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत विधिसम्मत संस्थाओं का औपचारिक अध्ययन ही शामिल रहा है। जिन देशों में लिखित संवैधानिक व्यवस्थाएं रही हैं, वहां संवैधानिक संस्थाओं को और अन्य देशों में विधिक स्वरूप में राजनीतिक व्यवस्था या शासन प्रणाली के स्वरूप को सामने रखने की कोशिश की गयी है। इसी सीमा में राजनीतिक प्रणालियों के विषय को प्रस्तुत करने में इस दृष्टिकोण के अध्ययन का निहितार्थ एवं उद्देश्य निहित रहा है। इन अध्ययनों ने यह चिन्ता कभी नहीं की कि किसी संवैधानिक प्रणाली की संस्थाएं व्यवहार में कैसे काम कर रही हैं, उनकी व्यावहारिक चुनौतियां या उपलब्धियां क्या और कैसी हैं, उन पर व्यवहार में पृष्ठभूमि के अन्य तथ्यों का क्या प्रभाव पड़ रहा है या ऐसे प्रभावों के फलस्वरूप उनमें क्या समस्याएं या गतिरोध आते हैं? इस तरह ऐसे अध्ययन विधिक राजनीतिक संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन का भाग बनकर रह गये हैं।

2.3 आलोचनात्मक मूल्यांकन

आपके समक्ष परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं का जो उपर्युक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, उससे यह बात खुद साफ हो जाती है, कि इस अध्ययन के दृष्टिकोण में कमियां हैं और इसकी सीमाएं हैं, जो इसे जड़त्व प्रदान करती हैं। अत: इस तरह के अध्ययन पर आलोचनात्मक प्रश्नचिह्नों का खड़ा होना स्वाभाविक है। आज की दुनियाँ में किस तरह राजनीति एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं, उसके समाधान में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का ऐसा संकुचित दृष्टिकोण जो मात्र संवैधानिक, औपचारिक और लोकतांत्रिक संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित हो, उपयोगी नहीं हो सकता। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं उनकी संस्थाओं के वास्तविक जीवन एवं उनकी प्रकृति का या उनकी समस्याओं की वास्तविक वजह एवं उनके निदान का ज्ञान नहीं हो सकता। यह अध्ययन सम्पूर्णत: वर्णनात्मक और मूलत: अतुलनात्मक होने के कारण आज के गतिमान विश्व के राजनीतिक व्यवहारों की गत्यात्मक स्थितियों का सही ज्ञान नहीं करा सकता। इन कारणों से इसकी आलोचना स्वाभाविक है। इसके प्रमुख दोष या आलोचना के बिन्दु इस प्रकार हैं—

1. तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण की प्रथम आलोचना इस आधार पर होती है कि

उसमें तुलना के सम्यक् प्रयासों का ही अभाव है। इसमें व्यवस्थित तुलनात्मक विश्लेषण के प्रयासों का प्रस्तुतीकरण करके ही तुलना के दायित्व की पूर्ति मान ली गयी है। राजनीतिक ढाँचों के साथ-साथ राजनीतिक सिद्धान्तों एवं राजनीतिक व्यवहारों की भी तुलना जहां आवश्यक है, वहीं तुलनात्मक अध्ययन का यह परम्परागत दृष्टिकोण कुछ विदेशी राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था के वैधानिक ढाँचे की वर्णनात्मक प्रस्तुतियों तक ही सीमित रहा है।

2. दूसरा आलोचना का बिन्दु यह है कि अध्ययन का यह दृष्टिकोण व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक, निष्कर्षात्मक दायित्वों एवं समस्या समाधान प्रदान करने वाले सामान्यीकरणों की चिन्ता नहीं करता। इस दृष्टि से अध्ययन का यह स्वरूप सीमित या संकुचित है। सामान्य सिद्धान्तों के विकास की इसमें जहां उपेक्षा नजर आती है, वहीं दूसरी ओर तथ्यों के संग्रह एवं परिकल्पनाओं के परीक्षण का प्रयास भी इसमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

3. तीसरी आलोचना इस आधार पर होती है कि तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन में राज्य एवं राजनीति से अलग, किन्तु राजनीतिक महत्व रखने वाले तथ्यों, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की अनदेखी की गयी है। आशय यह है कि राजनीतिक व्यवहार के अराजनीतिक तथ्यों की उपेक्षा हुई है। इसमें शासन सत्ता को प्रभावित करने वाली शक्तियों, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या अन्य क्षेत्रों का भी राजनीति की अन्त:क्रियाओं से सम्बन्ध और उन पर दबाव होता है। ये राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं शासकीय नीति निर्णयों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। ऐसे दबाव समूहों, हित समूहों तथा अन्य व्यवहारों को अपने अध्ययन में शामिल नहीं करने के कारण यह परम्परागत दृष्टिकोण यथार्थपरक नहीं रह जाता। वस्तुत: यह अध्ययन संवैधानिक या विधिक विचारधाराओं तक सीमित रहा। फलत: इसमें अध्ययन का एकाकीपन झलकता है।

4. इस अध्ययन दृष्टिकोण में गैर पाश्चात्य राज्य व्यवस्थाओं की उपेक्षा की गयी है और उनके अध्ययन को भी महत्व देने का कोई दायित्वबोध प्रदर्शित नहीं किया गया है। उपनिवेशों और अन्य गैर पश्चिमी देशों की राजनीति की उपेक्षा से भी तुलनात्मक राजनीति के इस स्वरूप में एकाकीपन स्पष्ट रूप से आया है।

5. योरोपीय होते हुए भी उसकी गैर प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं को इस अध्ययन में महत्व न मिलना भी आलोचना का आधार है। इतिहास में ऐसे अधिनायक राजनीतिक प्रयोगों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता, भले ही वह अनुकरणीय न माने जाते हों।

6. परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण में मात्र ऐतिहासिक एवं वैधानिक अध्ययन पद्धतियों का ही समावेश है। ऐतिहासिक अध्ययन पद्धतियाँ राजनीतिक संस्थाओं के उदय एवं विकास को तो प्रस्तुत करती हैं, लेकिन उनमें तथ्यों एवं आँकड़ों के संग्रह, परीक्षण एवं विश्लेषण का कोई प्रयास शामिल नहीं है। इसी तरह वैधानिक पद्धति सरकारी तंत्र या ढाँचे के विभिन्न अंगों के सम्बन्धों को ही निर्धारित करती है। अत: वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों के अभाव के कारण परम्परागत तुलनात्मक राजनीति में तथ्य संग्रह, परीक्षण, विश्लेषण और उसके आधार पर निष्कर्ष निष्पादन की सामर्थ्य नहीं दिखायी देती।

7. तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण में अन्तर अनुशासनात्मक प्रवृत्तियों का भी अभाव है। राजनीति भी एक सामाजिक व्यवहार है और राज्य एक सामाजिक संस्था है। अत: सामाजिक जीवन के दूसरे व्यवहारों से जुड़े अनुशासनों के साथ राजनीति के अध्ययन का रिश्ता होना लाजिमी है। लेकिन तुलनात्मक राजनीति के इस दृष्टिकोण में ऐसी अन्तर अनुशासनिक प्रवृत्तियां नहीं रही हैं। मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से राजनीतिक प्रक्रिया का प्रभावित होना स्वाभाविक है। इसके बावजूद इन पक्षों की उपेक्षा परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को एकांगी बना देती है।

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण पर आधारित अध्ययन की उपर्युक्त आलोचनाएं आपके समक्ष इस बात की साक्षी हैं कि आधुनिक युग के बदलते राजनीतिक सन्दर्भों में इस अध्ययन

दृष्टिकोण पर प्रश्नचिन्ह खड़ें होना लाजिमी है। आज लोकतंत्र और लोक कल्याणकारी राज्य के स्वरूप-विस्तार का युग है। राजनीतिक चेतना का व्यापक विस्तारीकरण हो रहा है। सभी वर्गों में राजनीतिक सहभागिता की चेतना और सक्रियता उभरकर सामने आयी है। राज्य से भय, शत्रुता या दुराव की जगह आम आदमी में उसके साथ सहभागिता की भावना सक्रिय है। इन स्थितियों ने राज्येतर संस्थाओं तक भी राजनीति को प्रासंगिक बना दिया है। जनमत की जागरूकता भी बढ़ी है। इन सब बातों के चलते आज राजनीति और राजनीतिक व्यवहार को जहां नये-नये आयाम मिले हैं, वहीं उसमें पेचीदगियां एवं जटिलताएं बढ़ी हैं। इस पृष्ठभूमि में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की सम्भावनाओं को भी नये आयाम एवं सन्दर्भ प्राप्त हुए हैं और इन जटिलताओं के बीच तुलनात्मक अध्ययन के कार्य में नयी-नयी पद्धतियों एवं तकनीकियों का समावेश स्वाभाविक रूप से होने लगा है। फलत: परम्परागत अध्ययन की उपयोगिता संकुचित हुई है और उसकी प्रासंगिकता क्रमश: समाप्त हो चुकी है। आज राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के एक हिस्से के रूप में देखने की बढ़ती प्रवृत्ति ने अन्य सामाजिक संस्थाओं एवं शक्ति केन्द्रों के अध्ययन के महत्व को उभार दिया है। इन सब सन्दर्भों में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की अपार एवं व्यापक सम्भावनाएं उजागर हुई हैं। अत: आज संवैधानिक या विधिक ढांचे में तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन राजनीतिक व्यवस्थाओं का सतही अध्यक्ष बन कर रह गया है।

2.4 महत्व

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन दृष्टिकोण के महत्व और उसके योगदान को नकारा नहीं जा सकता। राजनीतिक अध्ययन के विकास के उस आरम्भिक दौर या अवस्था में उसका स्पष्ट महत्व एवं योगदान रहा है अत: उसका मूल्यांकन राजनीतिशास्त्रीय दृष्टि से उल्लेखनीय है। निश्चय ही पहले राजनीतिक व्यवहार में इतनी जटिलताएं नहीं थीं। लोकतांत्रिक प्रक्रियाएं भी सरल थीं। उसके व्यवहार में सैद्धान्तिक प्रतिबद्धताएं भी सक्रिय रहती थीं। फलत: राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण से भी अध्ययन की अपेक्षाएं पूरी हो जाती थीं। चूंकि राजनीतिक व्यवस्थाएं सरल एवं सहज थीं, इसलिए उस दौर में लम्बे समय तक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का परम्परागत दृष्टिकोण अपना महत्व एवं अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने में सफल रहा।

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन दृष्टिकोण की आज अप्रासंगिकता और उसकी अपर्याप्तता भले ही नजर आती हो, लेकिन उसके अध्ययन की सामाग्रियां ही आधुनिक दृष्टिकोण को धरातल प्रदान करती हैं। इन अध्ययनों में भी राजनीतिक तथ्यों एवं विश्लेषणों का महत्वपूर्ण संग्रह हुआ है। साथ ही इनसे राजनीतिक व्यवस्थाओं में आयी जटिलताओं पर भी रोशनी पड़ी। फलत: यह बात स्पष्ट हुई कि मात्र औपचारिक या विधिक ढाँचे में राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्णनात्मक अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति की अपेक्षाएं पूरी नहीं हो सकतीं। इस तरह आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को आधार, प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा दिशा देने में परम्परागत अध्ययन का महत्वपूर्ण योगदान है।

2.5 सारांश

तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक प्रणालियों के स्वरूप के अध्ययन तक ही सीमित रहा है। इसमें समस्याओं के समाधान की दिशा में विश्लेषणात्मक निष्कर्षों के निष्पादन की प्रवृत्ति नहीं रही है। अत: नवोदित राजनीतिक प्रणालियों, राजनीतिक समस्याओं आदि का अध्ययन नहीं हो सकता। अत: तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण की विशेषताएं रेखांकित करते हुए कहा जा सकता है कि यह संकीर्ण एवं स्थिर अध्ययन है, तुलना का अतुलनात्मक अध्ययन है, वर्णनात्मक अध्ययन है, एवं विखरावपूर्ण अध्ययन है और विधिपरक औपचारिक अध्ययन है। अत: इस अध्ययन दृष्टिकोण में तुलना की समग्रता एवं निष्कर्षात्मक सामर्थ्य का, व्यावहारिक अध्ययन का तथा सभी प्रकार की शासन प्रणालियों के अध्ययन का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इन सीमाओं के बावजूद तुलनात्मक राजनीति के विकास की दृष्टि से इसका महत्व रहा है।

2.6 उपयोगी पुस्तकें

1. जे०सी० जौहरी : ''तुलनात्मक राजनीति''
2. एस०पी० वर्मा : ''आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त''
3. सी०बी० गेना : ''तुलनात्मक राजनीति तथा राजनीतिक संस्थाएं''

2.7 सम्बन्धित प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?
2. तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण की विशेषतायें बताइए?
3. तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत दृष्टिकोण की कमियों का उल्लेख करिए।

इकाई 3 : आधुनिक दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएं

- 3.2.1 यथार्थपरक अध्ययन
- 3.2.2 विषय क्षेत्र व्यापक
- 3.2.3 अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन
- 3.2.4 व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन
- 3.2.5 व्यवहारवादी अध्ययन
- 3.2.6 व्यवस्थामुखी अध्ययन
- 3.2.7 समाजोन्मुखी अध्ययन
- 3.2.8 वैज्ञानिक पद्धति का समावेश
- 3.2.9 गैरपश्चिमी एवं गैर प्रजातांत्रिक अध्ययन का भी समावेश
- 3.2.10 सावयवी अध्ययन

3.3 आलोचना

- 3.3.1 अवधारणात्मक अस्पष्टता
- 3.3.2 विषय क्षेत्र की अत्यधिक व्यापकता
- 3.3.3 अतिव्यवहारवादी
- 3.3.4 विकासशील राजनीति पर अधिक बल

3.4 महत्व

3.5 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के विभिन्न उपागम

- 3.5.1 व्यवस्थात्मक राजनीतिक उपागम
- 3.5.2 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम
- 3.5.3 राजनीतिक विकास उपागम
- 3.5.4 राजनीतिक आधुनिकीकरण उपागम
- 3.5.5 राजनीतिक संस्कृति उपागम
- 3.5.6 मार्क्सवादी उपागम

3.6 सारांश

3.7 उपयोगी पुस्तकें

3.8 संबंधित प्रश्न

3.0 उद्देश्य

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की अनुपयोगिता की धारणाओं के स्थापित होने के बाद तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में आधुनिक दृष्टिकोण का अभ्युदय एवं विकास हुआ। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन को अधिकाधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के लिए राजनीतिक अध्येताओं ने परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के दृष्टिकोण से हटकर नवीन पद्धतियों और सर्वथा नए दृष्टिकोण को अपनाया जिसे तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण की संज्ञा दी

गयी। इसमें तथ्य संग्रह, परीक्षण, परिकल्पना और विश्लेषण की नयी पद्धतियां अपनायी गयीं। यह दृष्टिकोण संकीर्णताओं, मताग्रहों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर राजनीतिक तुलना के विविध आयामों को छूता है और अध्ययन को निष्कर्षात्मक सामान्यीकरण तक पहुँचाता है।

आपने देखा कि परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के अध्येताओं ने अपने को राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के सरलीकृत वर्णनात्मक प्रस्तुतीकरण तक सीमित कर रखा था। राजनीति में आ रही जलिटताओं तथा उसकी निरन्तर बढ़ती पेचीदगियों ने परम्परागत अध्ययन पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हुए तुलनात्मक अध्ययन को व्यापक सन्दर्भ दिया। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक प्रभावों ने राजनीति की जटिलताओं को बढ़ाया और तुलनात्मक राजनीति अध्ययन के लिये नये-नये द्वार खोले। अब जरूरी माना जाने लगा कि इन सभी प्रभाव क्षेत्रों के अध्ययन तथा प्रभावों के मूल्यांकन के साथ समग्र तुलनात्मक अध्ययन हो। विधिक संरचना की वर्णनात्मक प्रस्तुतियों की जगह आधुनिक दृष्टिकोण के साथ राजनीतिक व्यवस्थाओं, प्रक्रियाओं और संस्थाओं के प्रति एक यथार्थपरक दृष्टि को उभार मिला। फलत: अध्ययन की इन चुनौतियों को समेटने के लिये नवीन पद्धतियों, उपायों एवं तकनीकियों की खोज होने लगी। इन सबके साथ उभरे नये अध्ययन दृष्टिकोण को ही आधुनिक दृष्टिकोण कहा जाने लगा।

3.1 प्रस्तावना

नये आधुनिक दृष्टिकोण ने एक ओर तो संवैधानिक ढाँचे की राज्य संस्थाओं व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपलिका, निर्वाचन प्रणाली, प्रशासनिक मशीनरी एवं अच्छी नौकरशाही आदि को और दूसरी ओर हित समूह, दबाव समूह, अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक एवं नैतिक समूहों तथा सम्प्रदायों, धर्मों, जातियों, प्रजातियों आदि तक उन सभी राज्येतर शक्ति केन्द्रों को भी सामने रखकर तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का ताना बना बुना जिनसे राजनीतिक संरचना, नीति निर्णय और राजनीतिक सत्ता संगठन आदि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता हो। हित समूहों और राजनीतिक दलों जैसे सम्प्रेषक सेतुओं के साथ-साथ जनमत निर्माण, सामान्यीकरण, आधुनिकीकरण के परिप्रेक्ष्य में भी तुलनात्मक राजनीति का विस्तार होने लगा। इन सभी सन्दर्भों के बीच राजनीतिक सत्ताएं अपनी सफलता और असफलता की जद्दोजहद से गुजरती हैं। इन सभी शक्तियों के सम्यक् आंकलन और उनके तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त दिशानिर्देशों पर उनकी सफलता-असफलता का सारा दारोमदार होता है। अनेक अन्तर्विरोधों के बीच राज्य व्यवस्था को लोकप्रिय एवं सफलतादायी निर्णय लेने पड़ते हैं। अत: आधुनिक दृष्टिकोण इन समग्र पेचीदगियों एवं राजनीतिक जटिलताओं के बीच काम करता है।

आज बढ़ती आर्थिक चुनौतियों और तकनीकी के आधुनिक विकास ने तुलनात्मक राजनीति की अध्ययन की चुनौतियों को भी बहुत बढ़ा दिया है। आज एक ओर तो अविकसित राष्ट्रों की विकास की चुनौतियां हैं, तो दूसरी ओर विकसित राज्यों की आर्थिक महत्वाकांक्षाएं एवं उनकी ओर से अविकसित राष्ट्रों पर पड़ने वाले दबाव भी हैं। तकनीकी ने एक बड़ी शक्ति का रूप ले लिया है। एक व्यापक आर्थिक प्रतिस्पर्धा के बीच विकास एवं आर्थिक प्रगति में राज्य व्यवस्थाओं की सफलता एवं असफलता की यह एक बड़ी कसौटी हैं। अत: आधुनिक तुलनात्मक राजनीति इन सभी सन्दर्भों को समेटते हुए ऐसे निष्कर्ष निष्पादित करने का प्रयास करती है, जिनकी राजनीतिक उपादेयता हो।

लोकतन्त्र के जनसहभागी विकास ने भी तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण को चुनौतीपूर्ण बनाया है। सभी सामाजिक वर्गों में राजनीतिक सहभागिता की चेतना के विस्तार ने लोकतंत्र के प्रति जनाकांक्षाओं को एक विस्फोट प्रदान किया है। भारत जैसे बहुजातीय, बहुधर्मी, बहुभाषी देश में सामाजिक वर्गों की निचली सतह तक इस चेतना को विस्तार मिला है, तो दुनिया के दूसरे क्षेत्रों एवं मुल्कों में भी राजनीतिक चेतना को विस्तारीकरण प्राप्त हुआ है। फलत: सरकारों के काम-काज के मूल्यांकन, जनमत, मतदान-व्यवहार, सत्ता के ढाँचे और नीति निर्णयों आदि में आयी बेहद जटिलताओं ने तुलनात्मक राजनीति के सटीक अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का महत्व बढ़ा दिया है।

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के महत्व को लोकतंत्र के इस नये स्वरूप ने धूमिल किया और अध्ययन की आधुनिक प्रवृतियों को बढ़ावा मिला। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में ये सम्भावनाएं अधिक विकसित हुई। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार थे—

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका आदि उपनिवेशीय चरित्र वाले महाद्वीपों में नवस्वतंत्र राष्ट्र राज्यों की स्थापनाएं हुईं। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के नये नये प्रयोग भी उभरे। अलग-अलग सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आर्थिक पृष्ठभूमि ने इन व्यवस्थाओं के विकास को अलग-अलग ढंग से प्रभावित किया, उनमें राजनीतिक स्थायित्व अथवा अस्थायित्व के कारण उपस्थित किए और उनकी सफलता-असफलता को प्रभावित किया। इन सब जटिलताओं ने नये संदर्भ में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का औचित्य खड़ा किया।

2. नवस्वतंत्र राष्ट्रों के व्यापक अभ्युदय के साथ राजनीतिक व्यवस्थाओं के विविध प्रयोगों की भी बाढ़ आयी। लोकतंत्र कहीं सफल रहे तो कहीं असफल या आंशिक सफल। कहीं तानाशाहियों, सैनिकतंत्रों आदि का उदय हुआ तो दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्थाओं के भी समानान्तर प्रयोग शुरू हुए। इस तरह राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन को भी व्यापक आधार मिले।

3. औपनिवेशिक राज्यों के स्वरूप परिवर्तन तथा राष्ट्रों के विकास ने भी तुलना को नये आयाम प्रदान किए।

उपर्युक्त सन्दर्भों में राजनीतिक व्यवहार बेहद पेचीदा, जटिल और भ्रम एवं निराशा आदि से आक्रांत हुआ। राजनीतिक व्यवस्थाओं के स्वरूपों की विविधता, तनाव, राजनीतिक अनिश्चय, राजनीतिक अस्थायित्व, सिद्धान्तों एवं लोकतांत्रिक राजनीतिक मर्यादाओं के क्षरण आदि से आक्रान्त राजनीति के नये अन्दाज और स्वरूप ने न केवल परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के आगे भी चलने की सम्भावनाओं को झकझोर कर रख दिया, बल्कि नये सन्दर्भों में नयी तकनीकि एवं नयी पद्धतियों पर आधारित नये आधुनिक दृष्टिकोण का भी मार्ग प्रशस्त किया। राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनेक स्वरूपों के साथ-साथ उनकी अनेक श्रेणियां भी अब सामने आने लगीं। एक ओर राष्ट्र राज्य से लेकर छोटे-छोटे राज्यों की स्थिति, लोकतंत्र, पूँजीवाद से वैश्वीकरण तक का विकास, साम्यवाद, समाजवाद, कल्याणकारी राज्यों के विविध रूप आदि की विविधताएं सामने आयीं, तो दूसरी ओर विकसित, अविकसित अर्धविकसित आदि स्तरों के साथ राष्ट्रों की श्रेणियां। विभिन्न प्रकार की तानाशाहियों का अध्ययन भी इनके साथ तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन हेतु प्रासंगिक माना जाने लगा। इन सभी सन्दर्भों ने मिलकर तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में आधुनिक दृष्टिकोण को उभार प्रदान किया।

तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण की प्रमुख कसौटी उसकी वैज्ञानिकता है। उसकी दृष्टि अधिक से अधिक खोजपरक है। उसमें परीक्षण की प्रामाणिक पद्धतियों पर अधिक जोर है और उस पर आधारित उसके विश्लेषण अधिक व्यवस्थित हैं। इस अध्ययन दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक व्यवहारों का अधिक यथार्थपरक व्यावहारिक अध्ययन होता है। इनके व्यावहारिक अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक आधार पर अनुभवपरक एवं सुनिश्चित निष्कर्षों तक पहुँचाया जाता है। वस्तुत: यह राज्य से अलग हटकर सामाजिक समूहों का अध्ययन उनके मूल में जाकर करता है और राजनीति पर, राजनीतिक संस्थाओं पर, राजनीतिक नीति निर्णयों आदि पर उनके प्रभाव का मूल्यांकन करता है।

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों एवं घटनाओं के बीच अन्त: सम्बन्धों का सम्यक् अध्ययन करते हुए इस अध्ययन दृष्टिकोण का जो व्यापक आधार क्षेत्र प्राप्त होता है, उससे राजनीतिक घटनाक्रमों एवं राजनीतिक परिवर्तनों की गति एवं दिशा को समझने में सहायता मिलती है। सामाजिक सन्दर्भों की समग्रता में राजनीतिक व्यवहार एवं घटनाओं का अध्ययन एक वैज्ञानिक अध्ययन बन जाता है।

3.2 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएं

3.2.1 यथार्थपरक अध्ययन

तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक दृष्टिकोण शासन व्यवस्थाओं के औपचारिक अध्ययन की सीमाओं की जड़ता से बंधा हुआ नहीं है। वह कानूनी दायरे, विचारधारात्मक सीमाओं तथा संवैधानिक संरचनाओं से आगे बढ़कर उन सभी संरचनाओं, घटनाओं, प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों का अध्ययन सामाजिक क्षेत्रों में करता है जो राजनीति एवं उसके नीति-निर्णयों को प्रभावित करते हैं। यह यथार्थवादी दृष्टि अध्ययन की मूल प्रकृति में आये बदलाव का स्पष्ट संकेत है। यह यथार्थवादी चरित्र तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में वस्तुत: व्यवहारवाद का सीधा प्रभाव एवं परिणाम है। अब राज्य की औपचारिक संस्थाओं के साथ अनौपचारिक संस्थाओं तथा राज्येतर सामाजिक क्षेत्रों के राजनीतिक प्रभावों का अध्ययन किया जाने लगा है। इसके लिए तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक दलों, हित समूहों एवं दबाव समूहों, चुनाव प्रक्रियाओं, मतदान व्यवहार, उस पर पड़ने वाले प्रभावों, राजनीतिक सम्प्रेषण एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण, धार्मिक एवं जातीय समुदायों तथा उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं एवं तत्सम्बन्धी गतिविधियों आदि का तथ्यसंग्रह, परीक्षण, विश्लेषण एवं निष्कर्ष निष्पादन आदि किया जाने लगा है।

3.2.2 विषय क्षेत्र व्यापक

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के सन्दर्भ में आप कह सकते हैं कि वह परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की भांति विषयक्षेत्र की जड़ता से आक्रान्त नहीं है। यह खुली निगाह और खुली दृष्टि का अध्ययन है। यह महज लोकतंत्रों के अध्ययन की आदर्शवादी चारदीवारी में कैद अध्ययन नहीं होकर उन सब परिवर्तनों, क्रान्तियों और व्यावहारिक प्रवृत्तियों एवं प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है, जो राजनीति में व्यापक रूप से उभरकर सामने आ रही हैं। अब लोकतंत्र पर प्रभाव डालने वाले एवं उन्हें चुनौती देने वाले तथ्यों का भी और उसके साथ अन्य शासन प्रणालियों का भी व्यवहारपरक अध्ययन उसकी परिधि में आता है। अब अधिनायक या निरंकुश शासनतंत्रों, विकासपरक राजनीति और राज्येतर संस्थाओं की राजनीति भी उसके दायरे में आती है। फलत: आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय क्षेत्र व्यापकतम होता जा रहा है। इसमें औपचारिक शासकीय संस्थाओं के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहारों और राजनीति को प्रभावित करने वाले सभी तथ्यों, संस्थाओं एवं गतिविधियों का अध्ययन भी शामिल है।

आपके सामने बात यह बात स्पष्ट है कि इस आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की उपर्युक्त व्यवहारवादी विशेषताओं के कारण उसका स्वरूप बढ़ा है, लेकिन उसका अध्ययन समसामयिक कालक्रम की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। कहने को तो आप कहेंगे कि यह आधुनिक अध्ययन है, इसलिए वह आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में ही तुलनात्मक अध्ययन करता है, लेकिन सच तो यह है कि यह अध्ययन प्राचीन और मध्ययुगीन व्यवस्थाओं और सच कहें तो अतीत के सभी राजनीतिक व्यवस्था प्रयोगों के सन्दर्भ में भी तुलनात्मक अध्ययन दृष्टि रखता है। पुरानी राजनीतिक व्यवस्था एवं उससे जुड़ी संस्थाओं आदि के साथ आधुनिक संस्थाओं एवं व्यवस्था की तुलना करते हुए हम आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रदान करते हैं और उस सन्दर्भ के साथ उसे समझने एवं परखने की कोशिश करते हैं। अब तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का आधार राजनीतिक व्यवस्थाओं की विचारधारागत प्रकृति भी नहीं है। वह सभी विचारधाराओं से जुड़ी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को अपने अध्यक्ष की परिधि में समेटती है। उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि व्यवस्था लोकतांत्रिक है या अधिनायक अथवा वह पूँजीवादी है या समाजवादी। अब तो सभी का तुलनात्मक अध्ययन होता है।

3.2.3 अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन

आपने परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की विशेषताओं की चर्चा के बीच यह देखा था कि तुलनात्मक राजनीति का वह अध्ययन प्राय: अतुलनात्मक रहा है। इसके ठीक विपरीत आधुनिक

तुलनात्मक राजनीति को यदि सम्पूर्णत: नहीं तो अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन कहा जा सकता है। आज की बदलती राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन तुलनात्मक आधार पर ही सम्यक् ढंग से हो सकता है। हर राजनीतिक व्यवस्था की अपनी कुछ मौलिकताएं और विशिष्टि पृष्ठभूमि होती है। इनके तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर ही किसी निष्कर्षात्मक सामान्यीकरण का प्रतिपादन किया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की कई समानताएं होती हैं, तो कई असमानताएं भी होती हैं। साथ ही उसकी अपनी कुछ विशिष्टताएं भी होती हैं। इन सभी के बीच तुलनात्मक दृष्टिकोण हमें किसी निष्कर्ष की ओर ले जा सकता है। भारत का संवैधानिक विकास लम्बे समय तक ब्रिटिश सम्पर्क में हुआ और उससे उपजे संवैधानिक संस्कारों के फलस्वरूप भारत में शासन की संसदीय प्रणाली का विकास हुआ। अत: कहा जाता है कि हमारी संसदीय प्रणाली ब्रिटिश व्यवस्था का अनुकरण है, लेकिन वस्तुत: उसके भारतीय प्रयोग की पृष्ठभूमि काफी भिन्न है और इसलिए परिणामों में भी भेद नजर आता है। भारत में हमने संघात्मक ढाँचे में संसदीय प्रणाली अपनायी, जबकि वह ब्रिटेन में एकात्मक शासन के ढाँचे में प्रयुक्त हुई। फलत: भारतीय शासन व्यवस्था का प्रयोग बिल्कुल अलग हो जाता है और यहाँ संसदीय प्रणाली में उभरने वाले गुण-दोष का मूल्यांकन हमें पृथक सन्दर्भ और यथार्थ तुलनात्मक भेदों को दृष्टिगत रखकर करना होगा। अत: आधुनिक दृष्टिकोण भारत के संघात्मक चरित्र एवं उसकी विविध स्वायत्त सामाजिक, राजनीति, सांस्कृतिक अस्मिताओं के यथार्थ तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में ही भारतीय संसदीय प्रणाली के परिणामों या निष्कर्षों का निष्पादन कर सकता है। इसमें हर स्तर पर होने वाली तुलना अध्ययन को अधिकतम, तुलनात्मक स्वरूपों में प्रस्तुत करती है।

3.2.4 व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन

राजनीतिक व्यवस्थाओं के विवरणत्मक अध्ययन से उनके साथ न्यायसंगत अध्ययन दृष्टि नहीं बन सकती। उससे राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति एवं व्यवहार तथा प्रक्रियाओं को न तो समझा जा सकता है और न ही राजनीतिक समस्याओं के समाधान में समर्थ निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। अत: आधुनिक दृष्टिकोण से तुलनात्मक राजनीति की मान्यता यह है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्णन व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक हो, जो उसे किसी निष्कर्षात्मक सामान्यीकरण तक पहुँचा सके। अत: आज की तुलनात्मक राजनीति का तकाजा यह है कि तथ्य या आँकड़ों का संग्रह, परीक्षण एवं वर्गीकरण करने के साथ उनका विश्लेषणात्मक प्रस्तुतीकरण इस प्रकार हो सके कि उसमें सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकें। इस तरह का रास्ता अपनाकर किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समझा जा सकता है और उसकी समस्याओं या चुनौतियों के समाधान की सही दृष्टि और निष्कर्ष आदि निष्पादित किए जा सकते हैं। इससे किसी भी परिकल्पना का गठन उसकी जाँच-परख और उसमें जरूरी परिवर्तन आदि करना सम्भव है। अध्ययन का यह तरीका तुलनात्मक अध्ययन को वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि एवं कसौटी भी प्रदान करता है। वस्तुत: विश्लेषणात्मक व्याख्या की पद्धति से अध्ययन को वैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है और उससे निष्कर्षों में अधिक प्रमाणिकता आती है।

3.2.5 व्यवहारवादी अध्ययन

व्यवहारवाद आज सभी तरह के समाजवैज्ञानिक अध्ययनों में लोकप्रिय प्रवृत्ति है। व्यवहारवाद राजनीतिक विश्लेषण को विशिष्ट आयाम प्रदान करता है। यह वैज्ञानिक अध्ययन का भी आधार है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के आधुनिक सन्दर्भ को तो व्यवहारवाद ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। राजनीतिक तुलना के अध्ययन में व्यवहारवाद उसके व्यावहारिक पक्षों पर जोर देता है। बढ़ती राजनीतिक जनसंहभागिता और व्यापक होती राजनीतिक चेतना के इस युग में राजनीतिक व्यवस्थाओं के औपचारिक स्वरूप से कहीं अधिक राजनीतिक व्यवहार एवं राजनीति के व्यावहारिक यथार्थों का अध्ययन महत्वपूर्ण बन गया है। अत: राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन राजनीति, उसकी संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं को अधिक वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक धरातल प्रदान करता है। राजनीति को प्रभावित करने वाले दूसरे अनुशासनों से जुड़े तथ्यों एवं प्रक्रियाओं आदि का व्यावहारिक तकाजों के आधार पर अध्ययन करने से आधुनिक तुलनात्मक राजनीति काफी

हद तक अन्तर-अनुशासनिक बन जाता है। अन्तर अनुशासनिक तथ्यों के शोध एवं विश्लेषण के कारण अध्ययन अधिक अनुभवजन्य, अधिक यथार्थपरक, अधिक वैज्ञानिक और इस तरह अधिक व्यावहारिक बन जाता है। यह व्यवहारवाद आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को परम्परागत तुलनात्मक राजनीति से पूरी तरह काट देता है। इससे अध्ययन का एक पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप प्रकट होता है। जब हम राजनीतिक व्यवहारवाद की बात करते हैं तो उसका अर्थ राजनीति के व्यावहारिक घटनाक्रमों या गतिविधियों तक ही विस्तृत न होकर अभिप्रेरणात्मक कारणों, पर्यवेक्षण आधारित सभी अनुभूतियों आदि को भी अध्ययन के दायरे में समेटता है। इसमें वे सभी अनुभव शामिल हैं जो राजनीतिक व्यवहार एवं प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इसमें राजनीति से अलग व्यवहार भी समाहित होता है। राज्येतर संस्थाओं एवं समूहों के भी राजनीतिक प्रभाव का मूल्यांकन होता है। सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक या अन्य क्षेत्रों से जुड़े व्यावहारिक तथ्य भी अध्ययन को इस आधार पर आकृष्ट करते हैं कि उससे राजनीतिक व्यवस्था या राजनीति प्रभावित होती है। फलत: राज्य और राजनीति के औपचारिक दायरे से दूर जाकर भी राजनीति की तलाश की जाती है।

3.2.6 व्यवस्थामुखी अध्ययन

संवैधानिक और राजनीतिक व्यवस्थातन्त्र का तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था को अधिक और उसकी समग्रता में महत्व दिया जाता है। संवैधानिक व्यवस्थातन्त्र के पक्ष तो इसमें शामिल रहते हैं, लेकिन मात्र संवैधानिक व्यवस्थातन्त्र के ही तुलनात्मक अध्ययन तक सीमित रहना आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का अभीष्ट नहीं है। अत: राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं का समग्र अध्ययन इसमें होता है। वह राज्य की बाध्यकारी शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति के दूसरे स्वरूपों का भी तुलनात्मक अध्ययन करता है। राजनीतिक व्यवस्था के सम्पूर्ण सन्दर्भ के अध्ययन द्वारा ही शासन व्यवस्था में शक्ति के बाध्यकारी और यथार्थ शक्ति केन्द्रों की शक्ति का अध्ययन सम्भव है। चूंकि राजनीतिक व्यवहार और उसकी गति को उत्प्रेरित करने वाली शक्तियों के यथार्थ अध्ययन की दृष्टि इसमें अपनायी जाती है, इसलिए आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का एक वैशिष्ट्ययुक्त पहलू यह सामने आता है कि वह व्यवस्थामुखी अध्ययन भी है।

3.2.7 समाजोन्मुखी अध्ययन

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का समाजोन्मुखी होना उसके व्यवहारवादी वैशिष्ट्य का सीधा प्रभाव है। आजकल राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की सामाजिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के साथ गहरी अन्त:क्रिया होती है। फलत: दोनों की गत्यात्मकता में गहरा तारतम्य होता है। राजनीतिक सस्थाओं का स्वरूप एवं निष्कर्ष सामाजिक शक्तियों की स्थिति से प्रभावित होता है। अत: राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक सन्दर्भ में किया जाने लगा है। सामाजिक पृष्ठभूमि के पृथक् रूपों का राजनीतिक संस्थाओं, सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं पर अलग-अलग ढंग से गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: तुलनात्मक राजनीतिक राजनीति के निष्कर्ष सटीक हो ही नहीं सकते जब तक इन सामाजिक सन्दर्भों और उनके प्रभावस्वरूप प्रकट होने वाले राजनीतिक परिणामों एवं उनके भेदों का सटीक मूल्यांकन तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत नहीं किया जाए। यही कारण है कि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्येता सामाजिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं, परम्पराओं तथा शक्ति केन्द्रों आदि का भी अध्ययन करते हैं, विशेषत: उस हद तक जहां तक वह राजनीतिक व्यवस्था एवं उसकी प्रक्रिया पर दबाव बनाने में समर्थ होते हैं। वस्तुत: मनुष्य, अनेक समूहों एवं समुदायों का सदस्य होता है। उन सभी के साथ उसके हित और उसकी प्रतिबद्धताएं जुड़ी होती हैं। अत: आज राजनीतिक प्राणी या राजनीतिक समुदाय के सदस्य के रूप में मनुष्य का पृथक् अध्ययन अपर्याप्त है। उसकी सभी प्रतिबद्धताओं का प्रभाव उसके व्यवहार पर पड़ता है। अपने मतदान व्यवहार या सत्ता संगठन की रचना अथवा उसकी प्रक्रिया के अनेक व्यवहारों में वह मात्र राजनीतिक मुद्दों नहीं जातीय, प्रजातीय, भाषायी, साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक आदि विविध सम्बन्धों से प्रभावित होता है। अत: इन सभी पक्षों को छोड़कर मात्र राजनीतिक या संवैधानिक संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन अपरिपक्व एवं एकांगी होगा। वह सही कारकों या निष्कर्षों तक कदापि नहीं पहुँचा सकता। अत: आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषता यह है कि वह इन

सभी सामाजिक प्रभावों, प्रक्रियाओं या उनके पीछे खड़ी सामाजिक संस्थाओं का भी अध्ययन कर तुलनात्मक निष्कर्ष निष्पादित करता है। अत: सामाजिक सन्दर्भ से गहरे जुड़े अध्ययन की प्रवृत्ति या विशेषता के कारण आधुनिक तुलनात्मक राजनीति समाजोन्मुखी अध्ययन बन जाता है।

3.2.8 वैज्ञानिक पद्धति का समावेश

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का भरपूर समावेश हुआ है। यह इस अध्ययन पर व्यवहारवादी दृष्टिकोण का सीधा प्रभाव है। वैज्ञानिक आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण, अवधारणाओं का विकास और प्रक्रियाओं का निर्धारण एवं मापन इसमें किया जाने लगा है। सभी वैज्ञानिक पद्धतियों को इस अध्ययन में अपनाने की प्रवृत्ति जहाँ दिखायी देती है, वहीं तकनीकी सुविधाओं का भी भरपूर समावेश हो रहा है। कम्प्यूटर, सांख्यिकीय एवं गणितीय विश्लेषण की प्रवृत्ति इस अध्ययन में दृष्टिगोचर होती है। तथ्यों का संकलन और विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टि एवं प्रक्रिया के साथ सम्पादित हो रहा है।

3.2.9 गैरपश्चिमी एवं गैर प्रजातांत्रिक अध्ययन का भी समावेश

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन में समूचा अध्ययन पश्चिमी एवं उसकी प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन तक ही सीमित था। लेकिन अब आधुनिक दृष्टिकोण के साथ यह प्रवृत्ति बदली है। गैरयूरोपीय देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं, उनके परिवर्तनों एवं विकास को भी तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में महत्व प्राप्त होने लगा है। इसी प्रकार पश्चिम की अप्रजातांत्रिक या अधिनायक प्रणालियों से इस अध्ययन में दूरी रखने की जो परम्परागत प्रवृत्ति थी वह अब बदली है।

3.2.10 सावयवी अध्ययन

आधुनिक दृष्टिकोण की एक अन्य विशेषता आपके सामने इस स्वरूप में रखी जा सकती है कि इसमें सम्पूर्ण विषय सामग्री एक सावयव स्वरूप में प्रस्तुत की जाती है। एक राजनीतिक व्यवस्था के विषय से सम्बन्धित समस्त जानकारी को एक सावयव स्वरूप में प्रस्तुत करना अध्ययन के वैज्ञानिक एवं व्यवहारवादी स्वरूप का सीधा परिणाम है। इस आधुनिक दृष्टिकोण में राजनीतिक व्यवस्थाओं के समग्र अध्ययन को भी महत्व दिया जाने लगा है।

3.3 आलोचना

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति जहाँ उपर्युक्त विशेषताओं के साथ अपना महत्व स्थापित कर रही है, वहीं आनुभविक तथ्यों पर आधारित इस अध्ययन की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना को भी उभार मिला है। इसकी प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर होती हैं—

3.3.1 अवधारणात्मक अस्पष्टता

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में जिन नवीन अवधारणाओं को उभार मिला है वह बहुत स्पष्ट नहीं है और उन पर आम सहमति नहीं दिखाई देती। राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक विकास, समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति आदि अवधारणाओं को लेकर निहतार्थ सम्बन्धी मतभेद पाए जाते हैं। एक ही अवधारणा का अलग-अलग अनुशासनों यथा राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि में अलग-अलग अर्थ लिया जाता है। अत: अवधारणात्मक अस्पष्टताओं के कारण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययनों में सटीक सुनिश्चितता का अभाव होना स्वाभाविक है। इस दोष से मुक्ति के लिए जरूरी है कि सर्वमान्य सहमतिपूर्ण अवधारणाओं का विकास किया जाए।

3.3.2 विषय क्षेत्र की अत्यधिक व्यापकता

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति राजनीतिक व्यवहार और उसकी प्रक्रियाओं का इतनी दूर तक अध्ययन करती है कि विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बन जाता है। अध्ययन के जितने आयाम इससे उभरकर सामने आते हैं उन सबको समेटना टेढ़ी खीर है। फलत: तुलनात्मक राजनीति कई बार दुविधाओं से आक्रान्त दिखलायी देने लगती है। अध्ययन क्षेत्र का अत्यन्त व्यापक बन जाना अध्ययन

को व्यवस्थित स्वरूप देने में बाधक है। इससे अध्येता को राजनीतिक व्यवस्था और उससे जुड़ी अन्त:क्रियाओं के व्यापक समुद्र में गोता लगाना पड़ता है।

3.3.3 अतिव्यवहारवादी

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति एक अतिव्यवहारवादी अध्ययन है। व्यवहारवाद इस तुलनात्मक राजनीति पर इतना प्रभावी हो गया है कि उससे अनेक असंगतियां उत्पन्न होने लगीं। वैसे राजनीतिक व्यवहार को ही सम्पूर्ण महत्व दिया जाना भी अपने आप में सम्यक् दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। एक सीमा से अधिक व्यवहारवाद हानिकारक है और समस्याओं को आमंत्रित करता है। इसमें मानव व्यवहार को मापना उसकी व्यापक विविधताओं के कारण प्राय: कठिन हो जाता है।

3.3.4 विकासशील राजनीति पर अधिक बल

तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक दृष्टिकोण विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में आवश्यकता से कुछ अधिक ही उलझता जा रहा है। इन राजनीतिक व्यवस्थाओं में अत्यधिक विविधता है और साथ ही अस्थिरता भी है। इसके प्रति सम्यक् दृष्टिकोण और सामान्यीकरण का कोई निष्कर्ष निकालना बेहद कठिन हो जाता है। नये उभरने वाले राज्यों में राजनीतिक व्यवस्थाओं की उथल-पुथल इतनी अधिक होती है कि उनके अनेक व्यावहारिक प्रयोग संक्रमणकालीन महत्व रखते हैं, जिनसे स्थायी महत्व के निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। ऐसी क्षणिक राजनीति से राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए निरन्तर चलने वाले सामान्यीकरणों की खोज नहीं हो सकती।

3.4 महत्व

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति अध्ययन का एक अत्यन्त चुनौती भरा क्षेत्र है। चुनौतियों के अनेक संदर्भ निराशा पैदा करने वाले भी होते हैं। प्राय: सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए स्वीकार्य अनिश्चित राजनीतिक परिकल्पनाओं या सामान्यीकरणों का निर्धारण कठिन हो जाता है। ऐसी स्थितियों में निराशा उत्पन्न होती है। वैसे आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन इन निराशाओं से उबरने के भी प्रयास करता हुआ दिखाई पड़ता है। वह सभी प्रकार के राजनीतिक व्यवहारों को समझने व विश्लेषित करने की कोशिश कर रहा है, साथ ही इसके आधार पर राजनीतिक व्यवहारों के बारे में सुनिश्चित अवधारणाएं स्थापित करने का भी प्रयत्न करता दिखायी पड़ रहा है। इस दृष्टि से आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन अपना विशिष्ट महत्व बनाने में सफल होता नजर आ रहा है। उसने अनुभवजन्य अध्ययन के रूप में जहाँ अपनी सीमाओं का विस्तार किया है, वहीं अध्ययन की पद्धतियों का वैज्ञानिक परिष्कार करता रहा है। फलत: तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन और उसके निष्कर्षों को लेकर दुनिया भर में लोगों की रूचि बढ़ी है।

3.5 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के विभिन्न उपागम

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के अन्तर्गत आने वाली चुनौतियों को दृष्टिगत रखते हुए नये उपागमों की खोज और उनका प्रस्तुतीकरण भी हो रहा है। ऐसे प्रमुख उपागम निम्नलिखित हैं—

3.5.1 व्यवस्थात्मक राजनीतिक उपागम

आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत नवीन पद्धतियों के द्वारा प्रस्तुत होने वाले अध्ययन व्यस्थित और वैज्ञानिक हैं। इनमें कार्य कारण, सम्बन्ध और क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच एक वैज्ञानिक तर्क पर आधारित तालमेल होता है। विश्लेषण द्वारा सामान्यीकरणों और परिकल्पनाओं तक पहुँचने की पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं। इससे पूर्व तथ्यों की जाँच भी वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित होती है। व्यवस्थित और वैज्ञानिक स्वरूप के अध्ययन के कारण राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन जिस तरह होने लग गया है, उससे ज्यादा विश्वसनीय सामान्यीकरणों तक पहुंचना सम्भव हुआ है। इस तरह विशिष्ट वैज्ञानिक अध्ययन की ओर इस तुलनात्मक राजनीति का विकास हो रहा है।

राजनीतिक व्यवस्थात्मक उपागम राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी सभी पक्षों को समाहित करने पर जोर

देता है। यह अध्ययन राजनीतिक व्यवस्थाओं और राजनीतिक व्यवहार के बारे में किसी भी संरचनात्मक व्यवस्था को सम्पूर्णता के संदर्भ में समझकर ही यथार्थवादी दृष्टि से निष्कर्ष तक पहुँचने का पक्षधर है। वस्तुत: राजनीतिक दलों, हितों, दबाव समूहों, शासन संरचना के अंगों एवं प्रक्रियाओं का पृथक-पृथक अध्ययन करके हम विशिष्ट राजनीतिक घटनाओं के बारे में कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन इससे राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण तक नहीं पहुँचा जा सकता। अत: राजनीतिक व्यवस्था उपागम यह मानकर चलता है कि राजनीतिक व्यवस्था के समग्र स्वरूप के सन्दर्भ में अध्ययन नियोजित होना चाहिए।

3.5.2 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक स्वरूप को राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व्याख्या से ही उभार प्राप्त हुआ है। यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण का एक विशिष्ट प्रयोग है जिसमें राजनीतिक व्यवस्थाओं को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में परिभाषित, विश्लेषित करके समझने का प्रयत्न किया गया है। यह राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी तथ्यों की खोज और उनके विश्लेषण का एक ऐसा माध्यम है जिससे यह बात सुस्पष्ट व्याख्या के साथ सामने रखी जा सकती है कि राजनीतिक व्यवस्था में कौन सी राजनीतिक संरचनाएं क्या-क्या मूलभूत कार्य करती हैं और उनकी क्या भूमिका है। इस उपागम को तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में व्यापक रूप से अपनाया जाने लगा है। यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या में विशेष महत्व अर्जित कर रहा है।

3.5.3 राजनीतिक विकास उपागम

राजनीतिक विकास उपागम की आवश्यकता गैरयूरोपीय देशों में विकसित होती राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को तुलनात्मक राजनीतिक के अध्ययन दायरे में समेटने की आवश्यकता के कारण पड़ी। एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका आदि के देशों में नवस्वतंत्र राज्यों की राजनीतिक संरचना और व्यवस्था तथा उनमें होने वाले परिवर्तन एवं विकास को समझने के लिए अधिक यर्थाथवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम और राजनीतिक व्यवस्था उपागम पश्चिम की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में सहायक थे, लेकिन वह इन नये राज्यों के अध्ययन की ओर मुड़ी तुलनात्मक राजनीति के लिए पूर्ण उपयोगी साबित नहीं हो सकते थे। फलत: राजनीतिक परिवर्तनों को उनके विकास की गति एवं प्रवाह के साथ समझने के लिए राजनीतिक विकास उपागम का विकास हुआ। वस्तुत: इन नवोदित देशों में उभर रहे राष्ट्रवाद के नवोदित स्वरूप, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अन्त:क्रियाओं एवं उनके राजनीतिक प्रभावों, नौकरशाही, सेना, धर्म, जाति, प्रजाति, आदि की भूमिका के प्रभावों तथा अन्य व्यावहारिक राजनीतिक यथार्थों की पृष्ठभूमि में अध्ययन को व्यापक दृष्टिकोण एवं आधार प्रदान करने का प्रयास इस उपागम द्वारा हुआ। राजनीतिक व्यवस्थाओं में आने वाले परिवर्तनों का सही मापन वैज्ञानिक पद्धतियों एवं परिशुद्धता के साथ करते हुए यह उपागम राजनीतिक तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन को विश्लेषणात्मक निष्कर्ष प्रदान करने का प्रयास है।

3.5.4 राजनीतिक आधुनिकीकरण उपागम

राजनीतिक आधुनिकीकरण उपागम का तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में विकास राजनीतिक व्यवहार को समझने का ही एक प्रयत्न और उसके अध्ययन को व्यापक आधार प्रदान करने का एक प्रयास है। राजनीतिक विकास और राजनीतिक संरचनाओं में प्रस्तुत होने वाले व्यापक विभेदों और विशेषीकरणों के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति के विकास में आधुनिकीरण के माध्यमों का व्यापक प्रभाव है। अत: यह उपागम राजनीतिक व्यवस्थाओं को राजनीतिक विकास के परिप्रेक्ष्य में देखने की जगह राजनीतिक आधुनिकीकरण के संदर्भ में देखने और मूल्यांकित करने का उपागम है। इसकी मान्यता है कि आधुनिकीकरण के प्रभावों के सन्दर्भों में ही राजनीतिक प्रक्रियाओं और राजनीतिक विकास का मूल्यांकन करके तुलनात्मक राजनीति के लिये सार्थक निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है इस उपागम की यह मान्यता है कि राजनीतिक विकास कोई स्वतंत्र घटना नहीं, बल्कि राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। समाज में आधुनिकीकरण के प्रक्रिया के विभिन्न आयाम सक्रिय रहते हैं। सामाजिक आधुनिकीकरण की इन

गतिविधियों और प्रक्रियाओं का राजनीतिक आधुनिकीकरण पर भी प्रभाव पड़ता है और इससे राजनीतिक विकास एवं उसके परिणाम भी प्रभावित होते हैं। अत: राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को राजनीतिक आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में देखने से ही राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मक शक्तियों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। इसलिए तुलनात्मक राजनीति के अध्येताओं को राजनीतिक विकास के स्थान पर आधुनिकीकरण की समग्र प्रक्रिया के संदर्भ में अपने अध्ययन को नियोजित करना चाहिए। स्पष्ट है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा का उपयोग तुलनात्मक अध्ययन में संकुचित एवं सीमित था जिसके फलस्वरूप राजनीतिक आधुनिकीकरण उपागम के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

3.5.5 राजनीतिक संस्कृति उपागम

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं और राजनीतिक विकास के स्वरूप में व्यापक भिन्नताओं के दर्शन होते है। फलत: प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन भिन्नताओं के आधारभूत कारण क्या हैं? क्यों कोई राजनीतिक व्यवस्था विकास के एक मार्ग पर चलती है, लेकिन उसी ढाँचे और सिद्धान्तों पर आधारित दूसरी राजनीतिक व्यवस्था में विकास की गति एवं दिशा भिन्न होती है? संसदीय शासन परिणाम ग्रेट ब्रिटेन की ही भाँति भारत में भी प्रस्तुत नहीं हुए। निश्चित रूप से इसके पीछे भारत की अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से उपजे कारण सक्रिय रहे हैं। एक ही पृष्ठभूमि और व्यवस्था से भारत और पाकिस्तान दोनों का जन्म हुआ, लेकिन दोनों के राजनीतिक विकास की दशा और दिशा अलग-अलग रही। भारत में जहाँ लोकतंत्र पल्लिवत हुआ और उसकी जड़ें धीरे-धीरे मजबूत हो रही हैं वहीं पाकिस्तान में लोकतंत्र न केवल उखड़ा बल्कि उसकी जड़ें लगातार खोखली होती रहीं। वहीं पाकिस्तान में लोकतंत्र न केवल उखड़ा बल्कि उसकी जड़ें लगातार खोखली होती रहीं। राजनीतिक संस्कृति उपागम के पक्षधर अध्येताओं का यह मानना है कि इनके पीछे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जुड़े कारण सक्रिय होते हैं जिनमें जातीय, धार्मिक, भाषायी एवं अन्य अनेक प्रकार की पृथक् पृष्ठभूमि एवं उनसे जुड़ी मानसिकता का योगदान होता है। अत: राजनीतिक विकास से सम्बन्धित लक्षणों या पर्यवेक्षणों को उसके वास्तविक यथार्थ स्वरूप के साथ तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक राजनीतिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित राजनीतिक संस्कृति की पृष्ठभूमि को ठीक से नहीं समझ लिया जाए। भिन्न-भिन्न दिशा में विकास राजनीतिक संस्कृति सम्बन्धी विभेदों के आधार पर ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। फलत: तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा का अध्ययन एवं विश्लेषण शुरु हुआ। अब राजनीतिक व्यवस्थाओं के संविधानों, संरचनाओं एवं संस्थाओं को समझने के लिए विकासशील राज्यों में उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना भी जरूरी माना जाने लगा। पश्चिम की राजनीतिक व्यवस्थाओं में स्थिरता के लक्षण रहे हैं। उनके विपरीत नवोदित या विकासशील राज्यों में राजनीतिक व्यवहार और संस्थागत विकास में भारी अन्तर दिखायी देती हैं उन्हें समझने के लिए इनके पीछे वास्तविक प्रभावकारक उत्प्रेरक शक्तियों की खोज पर जोर दिया जाने लगा। दूसरे शब्दों में राजनीतिक व्यवस्थाओं की गत्यात्मक शक्ति को समझने के लिए उनकी संस्कृतियों को समझना आवश्यक माना जाने लगा। यह माना जाने लगा कि इन पर आधारित अध्ययन के द्वारा ही राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है।

3.5.6 मार्क्सवादी उपागम

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक बार दुनिया में सोवियत संघ के व्यापक प्रभाव को उत्कर्ष प्राप्त हुआ। फलत: राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम का भी विकास हुआ। पूर्वी योरोप और एशिया के अनेक राज्यों में साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग शुरू हुए जिनका अपना भिन्न स्वरूप था। अत: जब गैरयूरोपीय और गैर प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के भी तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास आधुनिक दृष्टिकोण के साथ हुआ तो साम्यवादी व्यवस्थाओं के राजनीतिक प्रयोगों की ओर भी अध्ययन की दृष्टि गयी। मार्क्सवादी-लेनिनवादी परिप्रेक्ष्य में इस उपागम ने राजनीतिक सामान्यीकरण की सम्भावनाओं की तरफ ध्यान देना और उसकी खोज करना शुरु किया। इस तरह यह उपागम तुलनात्मक राजनीति के अन्य उपागमों के वैकल्पिक ढाँचे के रूप में प्रस्तुत हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि

तुलनात्मक राजनीति के पश्चिमी उपागम राजनीतिक सामान्यीकरणों के निष्पादन में पूरी तरह सफल नहीं हो रहे थे। दूसरा कारण पश्चिमी विकासवादी प्रत्यय का पतन और तीसरा कारण पाश्चात्य ढाँचे के अन्तर्गत तुलनात्मक अध्ययनों द्वारा नवोदित राज्यों की राजनीतिक समस्याओं का सामान्यीकृत उत्तर नहीं दे पाना था। फलतः अन्य वैकल्पिक प्रयासों के बीच यह उपागम भी विकसित हुआ। मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम राज्य के संरचनात्मक स्वरूप को बहुत कम महत्व देता है। वह जनशक्ति, वर्गीय चेतना और औद्योगीकरण से जुड़ी धारणाओं को अध्ययन का अधिक अनुकूल आधार मानता है। उनका मानना है कि राजनीतिक व्यवहार को समग्रवादी दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है। मार्क्सवाद सामाजिक जीवन में शक्ति के आर्थिक पक्ष की सर्वोच्चता, समाज में आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग के प्रभुत्व की आवधारणा और आर्थिक शक्ति के राजनीतिक शक्ति का नियामक होने जैसी अवधारणाओं में विश्वास करता है। इन आधारभूत मार्क्सवादी चिन्तन की अवधारणाओं का प्रभाव स्वाभाविक रूप से इस उपागम पर भी दिखायी देता है।

3.6 सारांश

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन से हटकर जब इसके अध्ययन में नवीन वैज्ञानिक पद्धतियों का समावेश हुआ और मताग्रहों के संकुलित दायरे से मुक्त होकर तुलना के विभिन्न आयामों का स्पर्श होने लगा, तो उसे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का आधुनिक दृष्टिकोण कहा गया। इससे तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को न्यायिकता मिली। साथ ही ऐसे निष्कर्ष निष्पादित किए जाने लगे, जिनकी राजनीतिक उपादेयता हो। अतः कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन यथार्थपरक, व्यापक, अधिकाधिक तुलनात्मक, व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक, व्यवहारवादी, व्यवस्थामुखी, समाजोन्मुखी, वैज्ञानिक पद्धतियुक्त, गैरपश्चिमी एवं गैर प्रजातांत्रिक अध्ययन को भी समाविष्ट करने वाला तथा सावयवी अध्ययन है। इन विशेषताओं के बावजूद निरन्तर विकसित हो रहे इस आधुनिक दृष्टिकोण में जहां अवधारणात्मक अस्पष्टता, विषय क्षेत्र की अत्यधिक व्यापकता एवं अति व्यवहारवादिता है, वहीं वह विकासशील राजनीति पर अधिक जोर देता है। इसके बावजूद इस विश्वसनीय अध्ययन का महत्व नकारा नहीं जा सकता। बढ़ते क्षेत्र के बीच यह अध्ययन दृष्टिकोण अनेक उपगमों का आश्रय लेता है, जिसमें महत्वपूर्ण हैं व्यवस्थात्मक राजनीतिक उपागम, संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम, राजनीतिक विकास उपागम, राजनीतिक आधुनिकीकरण उपागम, राजनीतिक संस्कृति उपागम एवं मार्क्सवादी उपागम।

3.7 उपयोगी पुस्तकें

1. जे०सी० जौहरी : "तुलनात्मक राजनीति"
2. एस०पी० वर्मा : "आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त"
3. सी०बी० गेना : "तुलनात्मक राजनीति तथा राजनीतिक संस्थाएं"

3.8 सम्बन्धित प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण के अर्थ एवं उसकी प्रकृति का वर्णन करें।
2. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण की विशेषताएं स्पष्ट करें।
3. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण से सम्बद्ध उपागमों का वर्णन करें।
4. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण की कमियां बताएं।

खंड

2

राजनीतिक विश्लेषण के उपागम

इकाई 4

व्यवस्था विश्लेषण 5

इकाई 5

संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण 17

इकाई 6

मार्क्सवादी विश्लेषण 31

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-03 :– *तुलनात्मक राजनीति*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः डॉ. सतीश कुमार, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 3 इकाई
खण्ड दोः डॉ. मानुका खन्ना, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड तीनः डॉ. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड चारः डॉ. राजीव सरन, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड पाँचः प्रो. सी.बी. सिंह, (अ.प्रा.) राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 2 का परिचय : राजनीतिक विश्लेषण के उपागम

तुलनात्मक राजनीति के उपागमों से पिछले खण्ड में परिचय कराया गया है। इन उपागमों ने विश्व युद्ध तक राजनीतिक व्यवस्था को समझने में सहायता की थी। किन्तु समय के साथ इनमें कुछ कमियाँ नजर आने लगीं। परम्परागत अध्ययन दृष्टिकोण प्रधानत: संस्थागत, मूल्य-प्रधान, व्यक्तिपरक, असत्यापनीय व चिन्तनात्मक ही रहे, परन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में नई अवधाराणाओं को अपनाया जाने लगा। दूसरे विश्व युद्ध के बाद आए परिवर्तनों के कारण राजनीति-शास्त्र में प्रचलित राज्य, संविधान, सरकार और कानून आदि प्रत्ययों के आधार पर पूर्ण जानकारी प्राप्त करना सम्भव नहीं रहा।

परम्परागत उपागम में केवल राज्य के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था, किन्तु यह क्षेत्र बहुत संकीर्ण माना जाने लगा। आधुनिक राजनीति ने अपने क्षेत्र को अधिक विस्तृत माना। उसके अन्तर्गत संविधानिक, शासनिक, विधिक और औपचारिक संस्थाओं एवं परिदृश्यों के साथ-साथ संविधानेतर, शासनेतर, विध्येतर एवं अनौपचारिक संस्थाओं एवं परिदृश्यों का भी अध्ययन आवश्यक माना गया। परिणामस्वरूप, आधुनिक उपागम के अध्ययन का क्षेत्र सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें गैर-यूरोपीय देशों का भी समावेश किया गया है। परम्परागत उपागम पश्चिमी देशों तक ही अपना अध्ययन सीमित रखते थे क्योंकि उनके अनुसार लोकतान्त्रिक व्यवस्था, जो इन देशों में प्रचलित थी वही शासन का स्वाभाविक रूप था और उसका विश्व के अन्य भागों में फैल जाना अनिवार्य था। किन्तु दो युद्धों के बीच के काल में यह विश्वास ध्वस्त हो गया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद साम्यवादी सोवियत रूस विश्व की दूसरी 'महान शक्ति' बन कर सामने आया। पूर्वी यूरोप भी साम्यवाद के नियन्त्रण में आ गया था। फिर चीन में भी साम्यवादी क्रान्ति सफल हुई। इसके कारण सम्पूर्ण जगत में लोकतन्त्र के विस्तार की धारणा समाप्त हो गई और राजनीतिशास्त्री विविधता वाली जटिल और तेजी से बदलती राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकता से परिचित हुए। ऐसे राजनीतिक वातावरण में नए उपागमों का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त, नवोदित राज्यों में होने वाले अस्तव्यस्त घटनाक्रमों और परिवर्तनों ने नई चुनौतियां और तुलना के अनेक अपरिचित संदर्भ प्रस्तुत किए। अत: तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों में नए प्रत्ययों का निर्माण करना आवश्यक हो गया।

आधुनिक उपागमों ने संस्कृतियों से ऊपर उठने का प्रयास किया तथा अनेक व्यवस्थाओं के बीच विद्यमान सामान्य समानताओं और असमानताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। ऐसे प्रत्ययों को विकसित किया गया जो स्थान, समय और विचारधारा की सीमाओं से परे, सब प्रकार के राज्यों पर समान रूप से लागू हों और जो राजनीतिक घटनाओं का स्पष्टीकरण कर सकें। आवश्यकता के अनुसार, अध्ययन की पद्धतियों के परिष्कार की ओर अधिक ध्यान दिया गया। मात्र औपचारिकता पर बल न देकर, वास्तविकता की खोज पर आधुनिक उपागमों ने बल दिया। विधिक और शासकीय संस्थाओं को महत्व देने के स्थान पर, आधुनिक उपागम उनकी संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं के परीक्षण पर अधिक बल देता है।

परिणामस्वरूप बदलती परिस्थितियों और दृष्टिकोण के अनुरूप नये उपागमों का प्रतिपादन किया गया। इस खण्ड में आधुनिक युग के तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण की तीन प्रमुख धाराओं का अध्ययन किया जाएगा। व्यवस्था विश्लेषण, संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम तथा मार्क्सवादी उपागम के आधार पर आधुनिक युग में हुए परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया जाएगा। पहले दो उपागमों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम का स्रोत व्यवस्था विश्लेषण में पाया जाता है। तीसरा सिद्धान्त परम्परागत और आधुनिक सिद्धान्तों की परिभाषित सीमाओं से ऊपर है। मार्क्सवादी विश्लेषण नए विश्व को समझने के लिए नए आयाम प्रस्तुत करता है। वह राजनीतिशास्त्र के प्रमुख स्तम्भ, राज्य, को ही अस्वीकार करता है और उसे शोषण का यन्त्र मानते हुए, एक राज्यहीन भविष्य की कल्पना करता है।

इकाई 4 : व्यवस्था विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 सिद्धान्त का उद्देश्य
4.3 सिद्धान्त का उदय
4.4 व्यवस्था का अर्थ
4.5 राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ
4.6 डेविड ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था पर विचार
4.7 राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता
(क) प्रबोधक-प्रक्रिया स्तर
(ख) रूपान्तरण स्तर
(ग) प्रतिसम्भरण स्तर
चार्ट
4.8 आमण्ड और पावेल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या
4.9 मिचैल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या
चार्ट
4.10 ब्लाण्डेल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या
चार्ट
4.11 राजनीतिक व्यवस्था उपागम की आलोचना
4.12 राजनीतिक व्यवस्था उपागम के लाभ
4.13 सारांश
4.14 उपयोगी पुस्तकें
4.15 संबंधित प्रश्न
4.16 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है राजनीतिक व्यवस्था उपागम का परिचय कराना। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में व्यवस्था उपागम एक प्रमुख विचारधारा को प्रस्तुत करता है। इस इकाई में यह समझाया जाएगा कि इस उपागम की आवश्यकता क्यों पड़ी और राजनीति शास्त्र में किस प्रकार से इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इस इकाई को पढ़ने के बाद यह पता चलेगा कि—

- राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ क्या है।
- डेविड ईस्टन ने किस प्रकार से इस अर्थ को अपनाते हुए उसकी क्रियात्मकता को समझाया है।
- मिचैल तथा ब्लाण्डेल के विचार किस प्रकार से ईस्टन से भिन्न हैं।
- साथ ही इस उपागम के लाभ तथा कमियों से भी परिचय कराया जाएगा।

4.1 प्रस्तावना

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण आधुनिक युग का एक प्रचलित उपागम है। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् जो नवीन विश्व की परिस्थितियाँ उभर कर सामने आईं उनको समझने के उद्देश्य से व्यवस्था विश्लेषण का उदय हुआ। यह उपागम संरचनाओं, संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के अध्ययन का उपागम है। यह राजनीतिक व्यवहार तथा उसका विश्लेषण करने की एक पद्धति है।

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण यह मानता है कि राजनीति एक ऐसी परस्पर क्रियाओं का समुच्चय है जो किसी पर्यावरण में घटती हैं। किन्तु विश्लेषणात्मक दृष्टि से व्यवस्था पर्यावरण से भिन्न होती है। इस आधार पर व्यवस्था सिद्धान्त तथा व्यवस्था विश्लेषण में सूक्ष्म किन्तु निश्चित अन्तर है। व्यवस्था सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था, निवेश, निर्गत, पर्यावरण आदि प्रत्ययों से बना है। जब व्यवस्था

सिद्धान्त किसी विशेष परिस्थिति के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो वह व्यवस्था विश्लेषण का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार व्यवस्था विश्लेषण किसी विशेष स्थिति में व्यवस्था सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप है।

4.2 सिद्धान्त का उद्देश्य

जब परम्परागत उपागमों को अध्ययन के लिए उचित नहीं माना गया तब नए सिद्धान्तों की खोज हुई। परम्परागत उपागम अत्यधिक विधिवादी थे तथा केवल औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित थे। इस तर्क को प्रस्तुत करते हुए व्यवस्था उपागम ने उनकी आलोचना की। यह भी माना गया कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को स्वतन्त्र रूप से समझने के प्रयास में सम्पूर्ण वास्तविकता को समझना सम्भव नहीं होता क्योंकि यह प्रत्यय कानूनी और संस्थागत अर्थों द्वारा मर्यादित और सीमित थे। इन प्रत्ययों का प्रयोग हर राज्य में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता रहा। अलग-अलग क्षेत्रों में ज्ञान को कठोरता से विभाजित कर देने से किसी भी समय या परिस्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती थी। साथ ही, परम्परागत उपागम अनौपचारिक व अराजनीतिक समूहों, संगठित हितों, दबाव समूहों, व्यक्तियों की राजनीतिक अभिवृत्तियों और अन्त:वैयक्तिक सम्बन्धों की अवहेलना करते थे। इन सब कमियों को समाप्त करने के लिए एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता थी।

आधुनिक परिस्थितियों में आवश्यकता थी अधिक व्यापक ढाँचे की। केवल संस्थागत अध्ययन के अतिरिक्त यह आवश्यक था कि उन सभी शक्तियों का अध्ययन भी किया जाए जो राज्यों की कानूनी व संवैधानिक गतिविधियों को नियमित, सीमित और नियंत्रित करती हैं। राजनीति के अराजनीतिक तथ्यों को अध्ययनों में सम्मिलित करने के लिए यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाने के लिए यह नया उपागम सहायक था। तुलनात्मक राजनीति में केवल यही नहीं जानने का प्रयत्न करते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था में क्या हो रहा है अपितु विशेष रूप से यह जानने का प्रयास भी किया जाता है कि ऐसा क्यों हो रहा है? कौन सी शक्तियां हैं जो इस व्यवहार को इस प्रकार का बनाती हैं? वास्तविकताओं तक पहुंचने में सहायक अवधारणा का उपयोग तुलनात्मक विश्लेषणों में आवश्यक हो गया। साथ ही तुलनात्मक राजनीति को वैज्ञानिक अध्ययन बनाने के लिए इस नए उपागम का प्रयोग किया गया। वैज्ञानिक स्थिति का अर्थ होता है वह स्थिति जब सामान्य नियमों की उत्पत्ति हो और भविष्यवाणी सम्भव हो सके। राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिकता के स्तर पर ले जाने के उद्देश्य से इस उपागम को अपनाया गया।

4.3 सिद्धान्त का उदय

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यह उपागम राजनीतिशास्त्र के एक उपकरण के रूप में सामने आया। मुख्यत: यह अमरीकी विद्वानों द्वारा विकसित किया गया है। सर्वप्रथम जीव-वैज्ञानिकों, नैतिक सिद्धान्तवादियों तथा अभियन्ताओं ने इसका प्रयोग किया था। 1932 में केवल 'समस्थिति' (होमियोस्टेसिस) के प्रत्यय का प्रतिपादन किया था। प्रसिद्ध जीव-विज्ञानशास्त्री, लुडविग वोन बर्टेलेनफी ने सामान्य व्यवस्था विश्लेषण का विकास किया था। टालकोट पारसन्स, जैसे समाजशास्त्रीयों ने सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में लिखा। पारसन्स, होमन्स, रोइथलिसवर्ग तथा डिकन्स के प्रभाव में डेविड ईस्टन, आलमण्ड तथा मिचैल ने इस सिद्धान्त को राजनीति विज्ञान में लागू किया। राजनीति विज्ञान पर चेस्टर आई० बर्नाड तथा हरबर्ट ए० साइमन सरीखे लोक प्रकाशन के विद्वानों का भी समान रूप से प्रभाव पड़ा।

व्यवस्था की अवधारणा विभिन्न विषयों (disciplines) में विद्यमान कठोर विभक्तीकरण, शोध प्रयासों के अनावश्यक आवृत्तिकरण, प्रति-अनुशासनात्मक (Inter disciplinary) अभाव से उत्पन्न परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए प्रस्थापित हुई। अनेक विद्वानों ने विभिन्न विज्ञानों के एकीकरण

पर बल दिया है। इनका विचार है कि विभिन्न विषयों में अनेक सामान्य बातें समान रूप से पाई जाती हैं। अत: इनको एक तारतम्य में पिरोने के लिए एक ऐसा अमूर्त ढांचा निर्मित करना आवश्यक था जिससे कोई सामान्य सिद्धान्त बनाया जा सके और सभी विषयों में समस्याओं को समझने में लागू किया जा सके। यदि ज्ञान को कठोरता के साथ विभाजित कर दिया जाएगा तो विभिन्न क्षेत्रों के बीच ज्ञान के आदान-प्रदान की प्रक्रिया रुक जाएगी तथा ज्ञान के प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र की प्रगति भी प्रभावित होगी। सामान्य ढांचा बनाने से विभिन्न अनुशासनों से प्राप्त ज्ञान को सार्थक ढंग से संघटित किया जा सकता है। उसके आधार पर एक विज्ञान में होने वाले विकास की सहायता से दूसरे विज्ञानों में भी उसी प्रकार की समस्याओं को समझना सम्भव हो सकता है। अत: व्यवस्था सिद्धान्त का जन्म एक ऐसे व्यापक सिद्धान्त की खोज के लिए हुआ जिसकी सहायता से प्रत्येक विज्ञान को अपनी समस्याएं अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता मिल सके तथा विज्ञान और वैज्ञानिक विश्लेषण का एकीकरण हो सके। इस ध्येय को लेकर व्यवस्था सिद्धान्त की अवधारणा विकसित हुई जो प्रमुखत: 'व्यवस्था' के विचार पर आधारित है।

4.4 'व्यवस्था' का अर्थ

व्यवस्था विश्लेषण में आधार शब्द 'व्यवस्था' है। अलग-अलग विषयों में इस शब्द को भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है। इसलिए कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। विभिन्न विद्वानों के विचारों के आधार पर इसका अर्थ समझा जा सकता है।

व्यवस्था का अर्थ, भौतिक विज्ञानों के अन्तर्गत, सुपरिभाषित अन्त:क्रियाओं के समूह से है जिसकी सीमाएं निश्चित की जा सकें। शाब्दिक परिभाषा के अनुसार 'व्यवस्था' का अर्थ है सम्बन्धित वस्तुओं का समग्र समूह, विधि संगठन पद्धति के निश्चित सिद्धान्त तथा वर्गीकरण का सिद्धान्त। इन अर्थों में महत्वपूर्ण शब्द 'सम्बन्धित', 'संगठित' और 'संगठन' हैं। अर्थात, एक व्यवस्था संगठित होती है या उसके अंगों के बीच सम्बन्ध होता है।

कुछ विद्वानों ने 'व्यवस्था' को इस प्रकार परिभाषित किया है:—

लुडविग बर्टेलेनफी ने 'व्यवस्था' की परिभाषा करते हुए लिखा है कि :

"हर अवयवी एक व्यवस्था है और व्यवस्था से हमारा अभिप्राय है ऐसे तत्वों का जटिल समुच्चय जो परस्पर क्रिया करते हों।"

इस प्रकार, व्यवस्था एक ऐसा समग्र है जो भागों अथवा तत्वों से मिलकर बना हो, और उन तत्वों का परस्पर विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो और वे परस्पर क्रिया करते हों।

हॉल और फैगन ने कहा है कि, व्यवस्था : "वस्तुओं में परस्पर तथा वस्तुओं और उनके लक्षणों के बीच सम्बन्धों सहित वस्तुओं का समूह है।"

व्यवस्था के भागों में परस्पर सम्बन्ध के गुण को कोलिनचेरी ने भी प्रस्तुत किया है—

"व्यवस्था एक ऐसा सम्पूर्ण संघटक है जो लक्षणों के विभिन्न निर्माणक भागों में सम्मिलित रहता है।"

कन्साइस ऑक्सफर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'व्यवस्था' का अर्थ है :

"जटिल समग्र, परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं अथवा भागों का समुच्चय, भौतिक अथवा अभौतिक वस्तुओं का संगठित समुच्चय है।"

'व्यवस्था' का अर्थ समझने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को कुछ तकनीकों का योग भी कहा जा सकता है। इनके द्वारा व्यवस्थित विश्लेषण किया जा सकता है। यह सिद्धान्त संप्रत्ययों, संकल्पनाओं और प्रमाणित प्रतिज्ञप्तियों का एक संघटित और समान्यीकृत समुच्चय है। यह अवधारणा दो प्रकार के अर्थों में प्रस्तुत की जाती है—

(क) प्रथम अर्थ के अनुसार, 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जब वस्तुएं महत्वपूर्ण ढंग से परस्पर सम्बद्ध हों तथा उनकी अन्तर्निर्भरता का स्तर काफी ऊंचा हो। इस

अर्थ में, व्यवस्था, समय एवं स्थान के संदर्भ में द्रष्टत्य और उसके अस्तित्व अनेक अनुशासनों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त संरचनाएं तथा प्रक्रियाएं समय-क्रम के अनुसार बदलती रहने वाली होनी चाहिए। इस अर्थ में व्यवस्था की परिचालनता ही प्रमुख मानी गई है।

(ख) दूसरा अर्थ व्यवस्था के सृजनात्मक पक्ष को महत्वपूर्ण मानता है। इस अर्थ के समर्थक पहले अर्थ को गलत और अव्यवहारिक मानते हैं। वे व्यवस्था का वह पक्ष स्वीकार करते है जिसमें शोध के लिए तथ्य-संकलन और विश्लेषण में 'सहायता व निर्देशन' मिल सके। इस अवधारणा का प्रयोग शोध में हो सके इसी अर्थ में ईस्टन ने राजनीति शास्त्र में इसका प्रचलन किया है।

4.5 'राजनीतिक व्यवस्था' का अर्थ

हर समाज में भाँति-भाँति की पारस्परिक क्रियाएं विद्यमान होती हैं, किन्तु कुछ विशेष प्रक्रियाओं को ही राजनीतिक व्यवस्था कहा जा सकता है। वह एक स्वतन्त्र इकाई नहीं होती है। सामाजिक व्यवस्था की अनेक उप-व्यवस्थाओं में से एक उपव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था होती है। किन्तु वह अन्य उप-व्यवस्थाओं, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक से भिन्न होती है तथा अन्त:क्रियाशील रहते हुए भी बहुत अधिक मात्रा में स्वायत्तता रखती है। राजनीतिक निर्णयों की बाध्यकारी प्रकृति राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक व्यवस्थाओं के बीच के अन्तर को स्पष्ट करती है। इस विशेषता को पूर्णत: समझने के लिए कुछ परिभाषाएं दी जा सकती है।

डेविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा देते हुए लिखा है :

''किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को, जिससे उस समाज में बाध्यकारी या अधिकारपूर्ण नीति-निर्धारण होते हैं, राजनीतिक व्यवस्था कहा जाता है।''

यह परिभाषा बहुत सामान्य थी तथा राजनीतिक व्यवस्था की मौलिक प्रकृति को स्पष्ट नहीं करती थी। ईस्टन ने भी यह माना कि इसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के लक्षणों का व्यापक विश्लेषण करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती थी। इस कारण ईस्टन ने एक नई परिभाषा देते हुए इसके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया—

''राजनीतिक व्यवस्था स्वयं में परिपूर्ण सत्ता है जो उस वातावरण या परिवेश, जिससे वह घिरी हुई होती है और जिसके अन्तर्गत वह प्रचलित होती है, स्पष्टत: प्रथकनीय रहती है।''

आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा देते हुए लिखा है कि :

''राजनीतिक व्यवस्था से इसके अंगों की अन्तर्निभरता और इसके पर्यावरण में किसी न किसी प्रकार की सीमा का बोध होता है। इस परिभाषा में प्रयुक्त शब्द 'अन्तर्निभरता' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''पारस्परिक निर्भरता से हमारा आशय है कि जब किसी व्यवस्था में किसी अंग के गुणों या लक्षणों में परिवर्तन होता है तो इससे सभी अंग और व्यवस्था प्रभावित होते हैं।''

ये परिभाषाएं यह स्पष्ट करती हैं कि राजनीतिक व्यवस्था के समस्त भाग एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और एक भाग में हुए परिवर्तन अन्य अन्त: क्रियाशील अंगों तथा सम्पूर्ण व्यवस्था में भी अनुकूल परिवर्तन लाते हैं। साथ ही, राजनीतिक व्यवस्था एक परिपूर्ण सत्ता है जो एक परिवेश में सक्रिय होती है, उससे प्रभावित होती है किन्तु उसके अधीन नहीं होती। वह स्वयं इस पर्यावरण को निरूपित करती है।

4.6 डेविड ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था पर विचार

डेविड ईस्टन ने अपने तीन ग्रन्थों—

—दि पोलिटिकल सिस्टम (1958)

—ए फ्रेमवर्क फॉर पोलिटिकल एनेलिसिस (1965)

—ए सिस्टम्स एनेलिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ (1965)

में राजनीतिक व्यवस्था उपागम को प्रतिपादित किया। पहले ग्रन्थ में राजनीति के अध्ययन के परम्परागत उपागमों की आलोचना करते हुए ईस्टन ने यह तर्क दिया कि वे अत्यधिक विधिवादी तथा औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित हैं। अन्य दोनों ग्रन्थों में राजनीतिक व्यवस्था के नमूने (मॉडल) का विकास किया गया। ईस्टन से पहले मर्टन और पारसन्स ने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को राजनीतिक अध्ययनों में उपयोगी बताते हुए इसके आधार पर राजनीतिक विश्लेषण भी किए, किन्तु उनके प्रयास समाज-शास्त्रीय ढंग से ही निष्पादित हुए। ईस्टन वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस सिद्धान्त का राजनीतिक विश्लेषण करते समय केवल राजनीतिक संदर्भ को प्रमुख माना। इसके परिणामस्वरूप, आमण्ड और पावेल ने लिखा है कि—"डेविड ईस्टन पहले राजनीतिशास्त्री हैं जिन्होंने राजनीति को स्पष्टतया व्यवस्था के रूप में विश्लेषित किया।"

डेविड ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण के पहले और प्रमुख प्रतिपादक हैं। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की मूल इकाई के रूप में और विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं के पारस्परिक व्यवहार को शोध के प्रमुख क्षेत्र के रूप में चुना है। उसके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था एक खुली और स्वयं-समंजनीय व्यवस्था है, जो कि एक वातावरण में कार्य करती है।

राजनीतिक व्यवस्था का यह वातावरण दो प्रकार का होता है—अन्त:समाजीय और बहि:समाजीय। पहले में वे व्यवस्थाएँ सम्मिलित होती हैं जो उसी समाज में विद्यमान रहती हैं, जिसमें राजनीतिक व्यवस्था है। अन्त:समाजीय व्यवस्था में आर्थिक जीवन, संस्कृति, सामाजिक संरचना तथा व्यक्ति सम्मिलित होते है। वे उसी समाज के अंग होते हैं जिसका भाग राजनीतिक व्यवस्था होती है। वे उन परिस्थितियों को निर्मित और प्रभावित करते हैं जिनमें स्वयं राजनीतिक व्यवस्था को काम करना पड़ता है।

पर्यावरण के दूसरे भाग में उन सब व्यवस्थाओं की गणना की जाती है जिनका अस्तित्व उस समाज के बाहर होता है जिसमें कोई राजनीतिक व्यवस्था स्वयं विद्यमान होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्थाओं को बहि:समाजीय व्यवस्था की कोटि में रखा जाएगा।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के दो विशेष अनुलक्षण होते हैं। एक तरफ तो, वह आदान-प्रदान और कार्य-सम्पादन की प्रक्रिया है तथा दूसरी तरफ, उत्पातों और दबावों के इस सीमा तक वशीभूत है कि इनसे इसका संतुलन भी विखंडित हो सकता है। आदान-प्रदान की प्रक्रिया पर्यावरण और राजनीतिक व्यवस्था के बीच चलती है और दो-तरफा होती है। लेकिन कार्य-सम्पादन की क्रिया, राजनीतिक व्यवस्था के अन्दर ही एक दिशा में चलती है। हर व्यवस्था के अन्दर ही कुछ ऐसी प्रक्रियाएं भी होती हैं जो उसे विखंडित होने से बचाती हैं और दबावों के प्रभाव को सीमित करती हैं। उत्पात-अनुकूल हों या तनाव उपस्थित करने वाले-पर्यावरण से ही आते हैं। यह तनाव या दबाव आंतरिक प्रभाव वाले होते हैं या जो व्यवस्था के आवश्यक परिवर्त्यों को एक सीमा के आगे धकेल देने से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को आदान-प्रदान और कार्य-निष्पादन की ऐसी व्यवस्था माना है जो पर्यावरण के द्वारा उत्पन्न उत्पातों और व्यवस्था के अन्दर की अतिवादी गतिविधियों से उत्पन्न दबावों के वशीभूत रहती है।

4.7 राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था अपने अन्दर उठने वाली मांगों या निवेशों को निर्गतों में रूपान्तरित करती है उसे राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता कहा जाता है। एक राजनीतिक व्यवस्था के कार्य निष्पादन के तीन स्तर होते हैं : (क) प्रबोधक-प्रक्रिया स्तर, (ख)

रूपान्तर-प्रक्रिया स्तर और (ग) प्रतिसम्भरण-प्रक्रिया स्तर।

(क) प्रबोधक-प्रक्रिया स्तर : प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को क्रियाशील बनाने के लिए प्रेरक शक्ति आवश्यक होती है। यह प्रबोधक पर्यावरण स्वयं राजनीतिक व्यवस्था में से आते हैं और निवेश या माँगें और समर्थन कहे जाते हैं। जनता की वह आकांक्षाएं जो प्रभावकारी विन्यासन का सामाजिक स्तर प्राप्त कर लेती हैं उन्हें माँगें कहा जाता है। ये माँगें राजनीतिक व्यवस्था में दबावों का सम्भावित स्त्रोत होती हैं। यह दबाव आयतनी या मात्रात्मक हो सकता है। आयतनी दबाव उस समय उत्पन्न होता है जब व्यवस्था की संसाधन क्षमता से मांगों की संख्या बढ़ जाती है। मात्रात्मक या तत्व-दबाव उस समय उत्पन्न होता है जब राजनीतिक व्यवस्था के पास माँगों का संसाधन करने का समय ही नहीं होता है। माँगें उस समय भी दबाव उत्पन्न कर देती हैं जब उन पर ध्यान देना कठिन हो जाता है क्योंकि वे व्यवस्था के अन्दर विद्यमान लक्षणों के विपरीत जाती हैं या उनसे व्यवस्था के सीमित साधनों का क्षय होता है। कई बार माँगों में जटिलता, उनका अन्य माँगों के साथ टकराव या व्यवस्था से अनुकूलन न होना भी दबाव उत्पन्न कर सकता है।

माँगें अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं, जैसे—वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए माँगें, व्यवहार के नियमन के लिए माँगें, राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता की माँगें, या संचार तथा सूचना हेतु माँगें।

इनको समर्थन भी चार प्रकार का प्राप्त होता है :—भौतिक समर्थन, कानूनों, नियमों तथा विनियमों का पालन, सहभागी समर्थन, तथा शासकीय सूचनाओं की ओर ध्यान देना तथा लोक अधिकारियों, प्रतीकों तथा समारोहों के प्रति सम्मान प्रकट करना।

माँगों और समर्थनों की प्राथमिकता का निर्धारण करना भी इस स्तर का कार्य होता है।

(ख) रूपान्तर-प्रक्रिया स्तर : प्राथमिकता के निर्धारण के बाद अगले स्तर पर उनका रूपान्तरण करना होता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के सम्मुख अनेकों माँगें प्रस्तुत की जाती हैं। उनमें से बहुत सी पूरा कर पाना सम्भव नहीं होता या कुछ माँगें अनुचित भी हो सकती हैं। हर माँग पर विचार करने के पश्चात जो उचित होती हैं उनका रूपान्तरण किया जाता है। साधनों, साध्यों, माँग के समर्थकों की संख्या, माँग के औचित्य और उग्रता आदि को ध्यान में रखकर उसका रूपान्तरण किया जाता है। अत: माँगों को स्वीकार, अस्वीकार या संशोधित करके निर्गत के रूप में पर्यावरण में भेजा जाता है।

ईस्टन का अभिमत है कि शासकों की सम्बन्धित माँगों को भिन्न-भिन्न तरीकों से सम्बोधित किया जा सकता है। उन्होंने चार विधियाँ प्रमुख मानी हैं—

(i) कुछ माँगें प्रत्यक्ष रूप से, नकारात्मक या सकारात्मक ढंग से पूरी कर दी जाती हैं। जैसे नौकरी दे देना या मना कर देना।

(ii) अधिकांश माँगें पहले एक सामान्य माँग में बदली जाती हैं और उसका सामान्य नियम बनाकर सामान्य समाधान कर दिया जाता है।

(iii) कई माँगों को सामान्य हित के मुद्दों में परिवर्तित कर दिया जाता है जिससे वे सामान्य नियम बनाने के स्तर तक महत्व प्राप्त कर सकें और उसके बाद सामान्य नियम बनाकर उनका सामान्य समाधान कर दिया जाता है।

(iv) माँगों की संख्या पहले कम की जाती हैं और फिर उन्हें लोक कल्याण की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं में परिवर्तित करके पूरा कर दिया जाता है।

माँगों का न्यूनीकरण कर के उन्हें पूरा करने का कार्य किया जाता है, जो शासकों का समर्थन बढ़ा या घटा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के समर्थन में कटाव या कमी सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए घातक हो सकती है। इस कारण रूपान्तरण प्रक्रिया बहुत महत्व रखती है।

(ग) प्रतिसम्भरण स्तर : जब निवेश समाज में जाते हैं तब यह देखा जाता है कि वे किस सीमा तक माँगों के अनुरूप हैं। यदि वे माँगों को पूरा नहीं करते हैं तब प्रतिसम्भरण प्रक्रिया के माध्यम से माँग को और अधिक शक्तिशाली बना सकते हैं या माँग समाप्त की जा सकती है।

यदि माँग पूरी होती है तो सरकार के लिए सहयोग बढ़ सकता है या उसका विरोध भी हो सकता है।

जब माँगें रूपान्तरित होने के पश्चात् निर्णयों या नीतियों में परिवर्तित हो जाती हैं तो उन्हें निर्गत कहा जाता है। निर्गतों को पर्यावरण से उत्पन्न उत्पातों या माँगों, दबावों या विभेदों से उत्पन्न राजनीतिक व्यवस्था में आने वाले तनावों के प्रति शासकों की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। इस अर्थ में निर्गत, निवेशों और निर्गतों के बीच प्रतिसम्भरण की अवधारणा को खींच लाते हैं क्योंकि निर्गतों के परिणाम निवेशों के निरन्तर आगम से जुड़े होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था में एक जटिल तथा चक्रीय प्रक्रिया स्थापित हो जाती है। ईस्टन के द्वारा दोहरे प्रतिसम्भरण की संकल्पना प्रस्तुत की गई है। एक प्रतिसम्भरण तो उस जानकारी का होता है जिसके द्वारा शासक अपने निर्गतों की प्रभाविकता को जांचने या अपने निर्गतों को पुनः समायोजित करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरा प्रतिसम्भरण निर्गतों के परिणाम का होता है। यह राजनीतिक समुदाय, राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों, पर्यावरण इत्यादि के ऊपर प्रभाव से सम्बन्धित होता है। इस प्रतिसम्भरण से राजनीतिक व्यवस्था का परिस्थितियों के अनुरूप अनुकूलन या परिस्थितियों को इस तरह परिवर्तित करने से सम्बन्ध है जिससे निर्गत राजनीतिक व्यवस्था के अधिक समरूप या उसके पक्ष में हो जाएं। इस प्रकार प्रतिसम्भरण की धारणा निर्गतों में ही सम्मिलित कर दी गई है। यह निर्गत सत्तात्मक हो सकते हैं या सम्बद्ध। सत्तात्मक या बन्धनकारी निर्णय वे होते हैं जो सामान्य कानूनों से लेकर न्यायालय के विशिष्ट निर्णयों के रूप में हों। सह या सम्बद्ध निर्गत बाध्यकारी नहीं होते और इनका उपयोग केवल संदर्भी या निदेशात्मक होता है। यह नीतियों, प्रतिबद्धताओं और तर्कसंगतताओं से सम्बन्धित होते हैं। इनके माध्यम से शासक अपने उद्देश्यों, लक्ष्यों या कार्यक्रमों को समझाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे उनके शासन और कार्यक्रमों के लिए समर्थन जुटाया जा सके।

इस प्रकार व्यवस्था की क्रियात्मकता को संक्षेप में समझा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था पर्यावरण से प्राप्त निवेशों के परिणामस्वरूप कार्य का प्रारम्भ करती है लोगों के (माँग तथा समर्थन) निवेशों की छानबीन करके राजनीतिक व्यवस्था रूपान्तरण की प्रक्रिया के द्वारा नियमों तथा नीतियों के रूप में निर्गत प्रस्तुत करती हैं। यह निर्गत कार्यान्वित किए जाते हैं तथा पर्यावरण को प्रभावित करते है। प्रतिपुष्टि के द्वारा यह पुनः निवेश के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इस चक्रिय प्रक्रिया को ईस्टन द्वारा प्रस्तुत मॉडल से समझा जा सकता है।

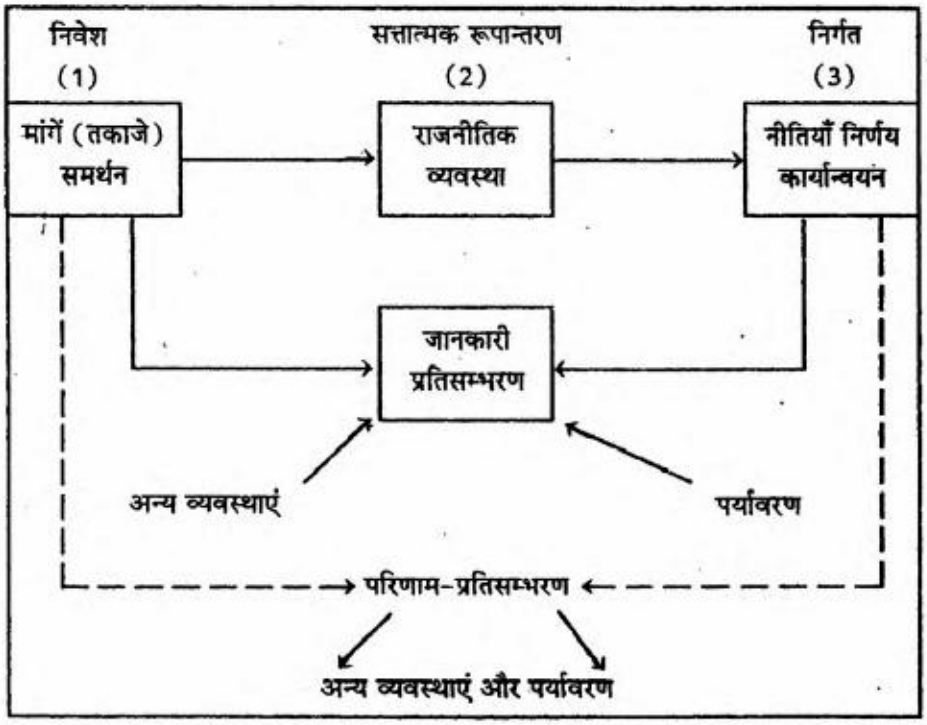

ईस्टन का राजनीतिक व्यवस्था का मॉडल

4.8 आमण्ड और पावेल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या

आमण्ड और पावेल ने मूलयत: ईस्टन की व्याख्या को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने उसके प्रकार्यात्मक पहलुओं को राजनीतिक व्यवस्था की अन्तर्वस्तु से पृथक् करके समझने का प्रयास किया है। राजनीतिक संरचनाओं, राजनीतिक संस्कृति तथा राजनीतिक अभिनेताओं के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया है। इन तीन घटकों के आधार पर विवेचना करते हुए राजनीतिक व्यवस्था को ईस्टन से अधिक विस्तृत व्याख्या दी गई है। इस सिद्धान्त में राजनीतिक व्यवस्था का संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक मॉडल प्रस्तुत किया गया है, जिसका अगले खण्ड में विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

4.9 मिचैल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या

ईस्टन द्वारा प्रतिपादित 'ब्लाक बॉक्स मॉडल' को मिचैल ने अपनाकर एक नए रूप में प्रस्तुत किया। मिचैल ने निवेशों और निर्गतों को अलग प्रकार से प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार माँगें और समर्थन ही केवल निवेशों का गठन नहीं करते हैं। व्यक्तियों की इच्छाएं (जो कि मांगों का रूप न भी धारण कर पाएं) तथा राजनीतिक व्यवस्था में उपलब्ध साधन भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। निर्गतों को भी मिचैल ने अलग प्रकार से परिभाषित किया है और तीन भागों में बाँटा है—लक्ष्य (goals), आदर्श और कीमतें (Values and costs) और नियन्त्रण (Controls) आदर्श सकारात्मक निर्गत हैं जबकी कीमतें नकारात्मक हैं। अधिकतर एक व्यक्ति के आदर्शों को पूरा करने के लिए उस व्यक्ति को या अन्य किसी को कीमत चुकानी पड़ती है। नियन्त्रण वह मार्ग है जिसके द्वारा लक्ष्य, आदर्श तथा कीमत लागू की जाती है।

मिचैल का राजनीतिक व्यवस्था का मॉडल

Exchange Model of the Polity
राजनीति में आदान-प्रदान का मॉडल

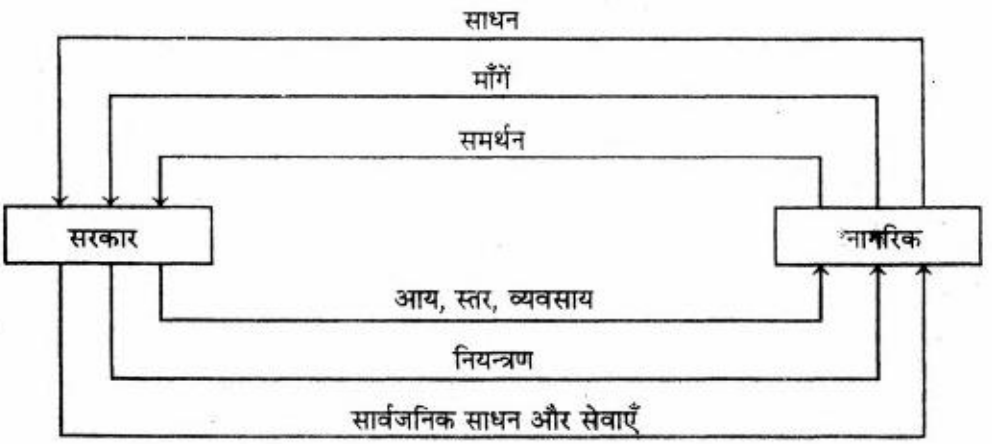

4.10 ब्लाण्डेल की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या

ईस्टन की व्याख्या से भिन्न विश्लेषण ब्लान्डेल ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार राजनीतिक

व्यवस्था का कार्य होता है समाज में उत्पन्न संघर्षों को शान्त करना। राजनीतिक व्यवस्था उन संघर्षों में उत्पन्न माँगों को चुनकर एकत्रित करती है। इन्हीं के द्वारा निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया प्रभावित होती है। किन्तु इतिहास और नैतिक मान्यताओं को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस कारण केवल एक वैज्ञानिक अध्ययन पर्याप्त नहीं होता। सरकार द्वारा प्रस्तुत निर्णय निर्गत के रूप में सामने आते हैं, किन्तु यदि वह समाज की मान्यताओं पर आधारित हों तो प्राकृतिक माने जाते हैं और आसानी से स्वीकृत होते हैं।

डेविड ऐपटर की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या :

ऐपटर ने लोकतान्त्रिक एवं अधिनायकतान्त्रिक प्रकार की व्यवस्थाओं में अन्तर प्रस्तुत करते हुए राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करती है तथा उसकी सफलता समाज और सरकार के बीच के सम्बन्धों की प्रभाविकता पर निर्भर करती है। सरकार समाज में उत्पन्न होने वाले तनावों के प्रति सजग रहती है तथा उनको सुलझाने का प्रयास करती है। किन्तु एक अधिनायकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार स्वयं नीतियां बनाती है और उनके द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाती है। एक **लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रक्रिया** इस प्रकार की होती है :

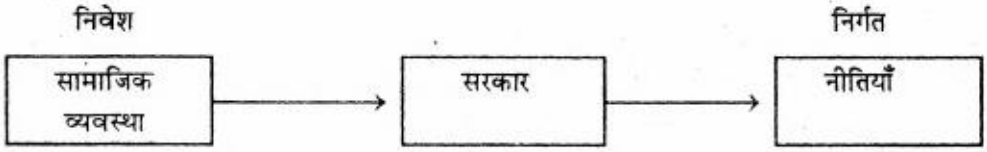

जब कि **अधिनायकतंत्र** में इस प्रकार की होती है :

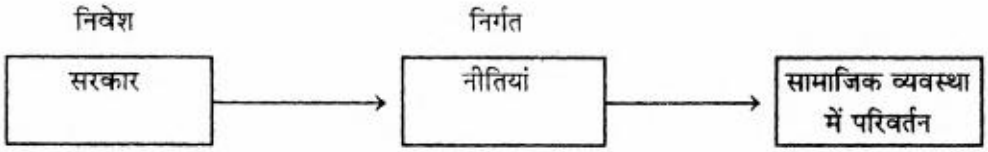

4.11 राजनीतिक व्यवस्था उपागम की आलोचना

अलग-अलग विचारकों ने व्यवस्था सिद्धान्त पर अपने मत प्रस्तुत किए हैं। तुलनात्मक राजनीति में इस सिद्धान्त का उपयोग इस विषय को वैज्ञानिक बनाने के लक्ष्य से किया गया था। किन्तु इसकी सफलता पर आज भी प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। राजनीतिक व्यवस्था उपागम की आलोचनाओं के सामान्यतया दो आधार हैं। प्रथम, आज तक व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था का कोई सर्वमान्य अर्थ नहीं प्रस्तुत किया गया है। इस अर्थ-विभेद के कारण इस अवधारणा का तुलनात्मक विश्लेषणों में विशेष उपयोग सम्भव नहीं हो पा रहा है। द्वितीय, यह अवधारणा इतना अधिक सूक्ष्म या नियमनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाती है कि वह करीब-करीब अव्यावहारिक और अनुपयुक्त हो जाती है।

ईस्टन और आमण्ड ने अपने विचारों में राजनीतिक व्यवस्था को जो स्वायतत्ता प्रदान की है उसके कारण यह सिद्धान्त आलोचित किया गया है। समाज की चार उप-व्यवस्थाओं में से राजनीतिक व्यवस्था एक है। इस आधार पर उसे आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के समान होना चाहिए।

इस सिद्धान्त में यह भी कमी है कि यह क्रान्तिकारी परिवर्तनों का स्पष्टीकरण देने में असमर्थ है क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों को विकासवादी प्रकृति का माना जाता है। इसी विशेषता के साथ यह भी समस्या जुड़ी हुई है कि यह प्रमुखत: इस संदिग्ध प्रस्थापना पर जोर देता है कि राजनीतिक व्यवस्था की सततता से सम्बन्धित समस्याएं राजनीतिक विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण हैं। यह तथ्य-युक्त प्रस्थापना नहीं कही जा सकती है। राजनीति शास्त्र में व्यवस्था की सततता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण समस्याएं परिवर्तन और अप्रत्याशित उथल-पुथल से सम्बन्धित होती है।

यह अवधारणा केवल राष्ट्रीय स्तर की ही राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। यह राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं से अन्त: क्रिया को अपनी व्याख्या में सम्मिलित नहीं करती जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के अध्ययन में इस अवधारणा की उपयोगिता नगण्य ही रह जाती है। इसका दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि निवेश-निर्गत विश्लेषण में केवल राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय व्यक्तियों पर ही बल दिया जाता है। इसके कारण सम्पूर्ण व्यवस्था विश्लेषण अभिजनों के प्रति उन्मुख हो जाता है। इस प्रकार जब इसका सम्बन्ध समाज के अभिजनों से ही रह जाता है तो यह राजनीति का सामान्य सिद्धान्त बनाने के प्रयत्न में असफल हो जाता है।

साथ ही, व्यवस्था विश्लेषण अभिजन-अभिमुखी होने के कारण यथास्थिति के प्रति स्वत: और स्वचालित ढंग से पक्षपाती बन जाता है। यद्यपि इसमें व्यवस्था के गन्तव्यों के पुन: दिशाकरण को स्वीकार किया गया है तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों को छोड़कर व्यवस्था के परिवर्तन और गतिशीलता के सभी पहलुओं को स्वीकार भी किया गया है। किन्तु इस सबके पीछे अभिजनों को रखकर यह यथास्थिति का पोषक बन जाता है। अभिजन ही राजनीतिक व्यवस्था के प्रचालन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं और अपने स्वार्थों या यथास्थिति को बनाए रखकर राजनीतिक व्यवस्था को यथास्थिति वाली स्थिति में ला देते हैं।

इस विश्लेषण में सैद्धान्तिकता अधिक पाई जाती है, जिसके कारण इसे व्यवहार में लागू करना कठिन होता है। राजनीतिक व्यवस्था को मूल्य व्यवस्था या नार्म्स (norms) के साथ जोड़ने के कारण इसकी व्यावहारिक उपयोगिता सीमित हो गई है। हालांकि ईस्टन ने इसको मूल्यों के साथ जोड़कर विचित्र रूप देने का प्रयत्न किया था, किन्तु अनेक विचारक इसे उचित और तर्कसंगत नहीं मानते हैं।

4.12 राजनीतिक व्यवस्था उपागम के लाभ

व्यवस्था सिद्धान्त में पाई जाने वाली इन कमियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह राजनीतिक व्यवस्था का एक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं है। किन्तु इन कमियों के बावजूद राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा पर आधारित विश्लेषणों ने राजनीतिशास्त्र को एक वैज्ञानिक अध्ययन बनाने में बहुत सहायता की है। इससे एक ऐसा प्रत्यय प्रस्तुत हुआ है जो पुराने प्रत्ययों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अन्तरों से अध्ययनों को मुक्त बनाता है।

राबर्ट सी० बोन का मत है कि राजनीतिक व्यवस्था उपागम से तुलनात्मक विश्लेषण का सर्वश्रेष्ठ साधन प्रस्तुत हुआ है। इससे तुलनाएं करना आसान और उपयोगी बना है। इसकी इस कुशलता का कारण यह है कि यह उपागम सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के अवलोकन पर केन्द्रित है और इसके अन्तर्वेशी प्रत्यय और प्रवर्ग तुलना में आसानी पैदा करते हैं।

इस उपागम की एक उपयोगिता यह भी है कि इसने सन्तुलन दृष्टिकोण से आगे तक जाकर व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों और गत्यात्मकताओं पर ध्यान दिया है। ईस्टन ने अनुरक्षण तथा व्यवस्था की सततता में अन्तर किया है। अपने व्यवस्था सिद्धान्त में उसने परिवर्तन और स्थायित्व दोनों को सम्मलित किया है। वह व्यवस्था को एक ऐसी निरन्तरता मानता है जिसमें और पर्यावरण में बराबर आदान-प्रदान होता रहता है तथा इससे व्यवस्था की अनुकूलन क्षमता बढ़ती रहती है। इससे स्पष्ट है कि विश्लेषण गत्यात्मक है और व्यवस्था की सततता का सिद्धान्त निर्मित करने की ओर उन्मुख है क्योंकि इसमें प्रयुक्त प्रत्यय और प्रविधियां स्थैतिकता नहीं रखती हैं।

इस उपागम में यह भी गुण है कि यह सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित करता है, केवल उसके भागों या उपभागों पर ही बल नहीं देता है। इससे तुलनात्मक विश्लेषण सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के अवलोकन पर आधारित हो जाते हैं। साथ ही, इसके द्वारा हर राजनीतिक व्यवस्था की तुलना और विश्लेषण करना सम्भव है, क्योंकि यह किसी विचारधारा से सम्बन्धित नहीं है।

व्यवस्था विश्लेषण की यह विशेषता है कि यह राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता या सामर्थ्य का परिचय देता है। यह व्यवस्था की सततता या उसके अन्दर आने वाले सम्भावित अस्थायित्वों का संकेत भी देता है। राजनीतिक व्यवस्था में आने वाले उत्पातों और अस्थिरताओं को जान कर उनसे बचने और व्यवस्था को बनाए रखने की कार्रवाई को बताता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन और विकास की दिशा और गति का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते हैं।

4.13 सारांश

आधुनिक युग का यह एक प्रमुख उपागम है जिसने दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों को स्पष्ट किया। निवेश, निर्गत तथा पर्यावरण के आधार पर यह एक राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता का विवेचन करता है। ईस्टन, आमण्ड और पावेल, मिचैल, ब्लाण्डेल इत्यादि ने इसका प्रतिपादन किया। राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण की अनेक उपयोगिताएं हैं और इसने निश्चिय ही तुलनात्मक राजनीति को विशेष योगदान दिया है। किन्तु इस अवधारणा के व्यावहारिक उपयोग में कई कठिनाइयां आती हैं जो इसको केवल सैद्धान्तिकता के स्तर पर प्रस्थापित मानने के लिए मजबूर करती हैं। इसकी कमियों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। उनको ध्यान में रखते हुए राजनीतिक विश्लेषण में अनेक नए उपागम आए जिनका आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

4.14 उपयोगी पुस्तकें

1. आमण्ड, गेब्रियल : ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस
2. ऐपटर : इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस
3. बॉल, ए० आर : मॉडर्न पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेन्ट
4. बेरी, कोलिन : ऑन ह्यूमन कम्यूनिकेशन
5. कोकर, फ्रान्सिस : रीसेन्ट पोलिटिकल थौट
6. एंगेल्स, फ्रेडरिक : वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका
7. गैना, एस : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं
8. गौतम, ब्रजेन्द्र प्रताप : समाजवादी चिंतन का इतिहास
9. ग्रे, एलिक्जैन्डर : द सोशलिस्ट ट्रडिशन - मोसिस टू लेनिन
10. हाल, ए और फेमन : डेफिनीशन ऑफ ए सिस्टम्
11. होल्ट, रॉबर्ट टी और टरनर, जॉन ई : द पोलिटिकल बेसिस ऑफ इकोनोमिक डेवेलपमेन्ट
12. ईस्टन, डेविड : पोलिटिकल सिस्टम : एन इन्क्वाइरी इनटू द स्टडी ऑफ पोलिटिकल साइन्स
    : द सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ
13. जौहरी, जे०सी० : तुलनात्मक राजनीति
14. महेश्वरी, श्रीराम : तुलनात्मक राजनीति
15. वर्मा, एस०पी० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
16. वर्मा, एस०एल० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
17. वेपर, सी०एल० : पोलिटिकल थाट
18. यंग, ओरन : सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइंस

4.15 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. व्यवस्था विश्लेषण की आवश्यकता पर टिप्पणी कीजिए।
2. परम्परागत उपागमों की किन कमियों ने व्यवस्था सिद्धान्त को जन्म दिया?
3. 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ स्पष्ट करें।
4. मिचैल ने ईस्टन के मॉडल का किस प्रकार परिवर्तन किया है?
5. राजनीतिक व्यवस्था के आधार-भूत लक्षण कौन से हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. व्यवस्था विश्लेषण पर एक निबन्ध लिखिए।
2. डेविड ईस्टन के व्यवस्था विश्लेषण पर विचार स्पष्ट कीजिए।
3. व्यवस्था विश्लेषण ने आधुनिक युग में अन्तरशास्त्रीय अध्ययन को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। विवेचन कीजिए।
4. डेविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता का वर्णन किन तीन स्तरों पर किया है।
5. क्या व्यवस्था सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था का एक सामान्य सिद्धान्त देने में सफल हो पाया है? अपने विचार व्यक्त करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. सर्वप्रथम सामान्य व्यवस्था विश्लेषण का विकास किस के द्वारा किया गया?

   (क) टालकोट पारसन्स (ग) डेविड ईस्टन

   (ख) लुडविग बोन बर्टेलेनफी (घ) डिकन्स

2. व्यवस्था विश्लेषण का प्रमुख सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्था में किसने प्रस्तुत किया?

   (क) टालकोट पारसन्स (ग) कार्ल मार्क्स

   (ख) डेविड ईस्टन (घ) पावेल

3. 'ए फ्रेमवर्क फॉर पोलिटिकल एनेलिसिस' किसके द्वारा रचित है?

   (क) मिचैल (ग) ईस्टन

   (ख) ब्लानडेल (घ) आमण्ड

4. लोकतान्त्रिक एवं अधिनायकतन्त्र में व्यवस्था को किसने स्पष्ट किया था?

   (क) ऐषटर (ग) मिचैल

   (ख) आमण्ड (घ) ब्लानडेल

4.16 प्रश्नोत्तर

1. (ख)
2. (ख)
3. (ग)
4. (क)

इकाई 5 : संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 नए उपागम की आवश्यकता
5.3 सिद्धान्त का उदय
5.4 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम का अर्थ
5.5 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की विशेषताएं
5.6 आमण्ड के विचार
5.7 राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या
(क) राजनीतिक व्यवस्था के निवेश
(ख) रूपान्तरण प्रक्रिया
(ग) राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत
आमण्ड के मॉडल का चार्ट
5.8 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की आलोचना
5.9 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम के गुण
5.10 सारांश
5.11 उपयोगी पुस्तकें
5.12 संबंधित प्रश्न
5.13 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम के बारे में जानकारी देना। व्यवस्था विश्लेषण की कुछ कमियों के कारण एक नए उपागम का जन्म हुआ था। इस इकाई के द्वारा निम्नलिखित विषयों के बारे में जानकारी मिलेगी :

- संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम का क्या अर्थ है।
- उसकी विशेषताएं क्या हैं।
- आमण्ड ने इस विषय में क्या विचार प्रस्तुत किए हैं।
- इस उपागम के गुण और दोष क्या है।

5.1 प्रस्तावना

खण्ड एक में डेविड ईस्टन तथा अन्य राजनीतिक वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था सिद्धान्त का विवेचन किया गया तथा उसमें पाई जाने वाली कमियों पर भी विचार किया गया। इस उपागम की दुर्बलताओं के कारण दो अन्य उपागम सामने आए—निवेश-निर्गत तथा संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम। इन दोनों सिद्धान्तों का स्रोत यह धारणा है कि समाज एक सम्पूर्ण है और इसको एक इकाई के रूप में ही समझा जा सकता है। इस खण्ड में हम संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम को ही समझने का प्रयास करेंगे।

5.2 नए उपागम की आवश्यकता

तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक व्यवस्थाओं की क्षमता जानना आवश्यक माना जाता है। ईस्टन ने अपने व्यवस्था सिद्धान्त में इससे सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किए थे किन्तु उसने व्यवस्था की सततता पर बल दिया था। ऐसे प्रवर्ग के आधार पर तुलना करने की जरूरत महसूस की जाने लगी जो समझा

सके कि व्यवस्था को जीवित रखने के लिए किन-किन तत्वों की आवश्यकता है? ऐसे उपागम की आवश्यकता मानी गई जो राजनीतिक व्यवस्था की संरचना तथा कार्यों के बीच तालमेल के कारणों तथा परिणामों को पहचाने का प्रयत्न करके उन तत्वों का पता लगाता है जो व्यवस्था को जीवित रखते हैं। यह माना गया कि ऐसा उपागम उपयोगी होगा जो व्यवस्था की अन्तर्वस्तु से इसके कार्यात्मक पक्ष को अलग करके समझने का प्रयास करे।

तुलनात्मक राजनीति की एक और आवश्यकता को अन्य उपागम पूरा नहीं कर पाए थे। परम्परागत सिद्धान्तों ने राज्य, राष्ट्र, संविधान जैसे प्रत्ययों को प्रयोग किया था, किन्तु अर्थ की दृष्टि से इनका प्रतिमानित रूप स्थिर नहीं था। इस कारण एक ऐसे उपागम की आवश्यकता थी जो ऐसे प्रत्ययों और विश्लेषण-प्रवर्गों का प्रयोग करे जो प्रतिमानित और मानवीय होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था को एक माध्यम से समझने का मार्ग स्थापित करे। संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम को उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाले प्रवर्ग और प्रत्यय के कारण स्वीकार किया गया।

इस नए उपागम को अपनाने का एक कारण यह भी था कि न केवल सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए अपितु उसकी प्रमुख गतिविधियों की विभिन्न संरचनाओं के साथ सम्बन्ध-सूत्रता का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। ईस्टन ने भी सम्पूर्ण व्यवस्था पर बल दिया था किन्तु संरचनाओं तथा उनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था। साथ ही, ईस्टन का सिद्धांत राजनीति शास्त्र को सामान्य सिद्धान्त निर्माण में बहुत आगे तक नहीं ले जा पाया था। ईस्टन के द्वारा व्यवस्था सिद्धान्त को अमूर्तीकरण के ऐसे स्तर पर पहुंचा दिया गया कि उसका व्यावहारिक प्रयोग कठिन हो गया। उसके मॉडल की सीमित उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्थाओं को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में समझने के प्रयत्न पर विचार प्रस्तुत किया। उसका मत था कि राजनीतिक व्यवस्थाएं, संरचनाओं और प्रकार्यों के आधार पर समझी जाएं तो परिवर्तन और विकास की दिशाओं का स्पष्टीकरण करना आसान हो जाएगा। इस आधार पर संरचनात्मक-क्रियात्मक अवधारणा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

5.3 सिद्धान्त का उदय

आमण्ड ने इस सिद्धान्त को राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए प्रयुक्त किया। यह उपागम प्राचीन काल से राजनीति में प्रयुक्त हो रहा था। प्लेटो व अरस्तु ने अपनी रचनाओं में ऐसे विशिष्ट कार्यों की चर्चा की है जिन्हें किसी राजनीतिक व्यवस्था को स्वयं अपने को जीवित रखने हेतु सम्पादित करना चाहिए। इन प्राचीन विचारकों के पश्चात् मानवशास्त्र में रैडक्लिफ ब्राउन तथा बी मालिनोवस्की ने अपने अन्वेषणों में इस उपागम का प्रयोग किया। समाजशास्त्र में मर्टन तथा टालकौट पारसन्स ने भी इसका प्रयोग किया। बीसवीं शताब्दी के मध्य से इसका प्रयोग राजनीति शास्त्र में प्रारम्भ हुआ। 1960 में गैब्राइल आलमण्ड तथा जेम्स एस० कोलमैन ने पश्चिमेतर राजनीति के अध्ययन में इसका प्रयोग किया। इस सिद्धान्त का निरूपण ('The Politics of Developing Area') द, पोलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियास (विकासशील देशों की राजनीति) नाम के ग्रन्थ में किया गया। छह वर्ष बाद आलमण्ड तथा बिंघम पॉवल की संयुक्त रचना 'कम्पेरेटिव पोलिटिक्स : ए डेवेलपमेन्टल अप्रोच' (तुलनात्मक राजनीति : एक विकासात्मक उपागम) में यह प्रकाशित हुई।

यह उपागम ऐसी संरचना की खोज करता है जिसे किसी विशिष्ट कार्य को करना हो। इसमें किसी कार्य को लेकर यह जानने का प्रयास किया जाता है कि इसको करने के लिए किस संरचना की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरण के लिए इस उपागम को अपनाने वालों का प्रश्न होगा, 'देखने की क्रिया किस प्रकार सम्पादित होती है?' और उत्तर होगा, 'आँख के द्वारा'। यह उपागम यह नहीं पूछेगा कि आँख क्या करती है। इस प्रकार यह व्यवस्था विश्लेषण का विशिष्ट रूप में प्रयोग करता है तथा इसके द्वारा एक दूसरे से मेल न खाने वाली विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए तुलना के

5.4 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम का अर्थ

इस उपागम का अर्थ स्पष्ट करने के लिए पहले हमें कुछ मान्यताओं को समझना चाहिए जो कि इसका आधार है :

(1) यह समाज को एक पूर्ण रूप में देखता है जिसके विभिन्न भाग आपस में जुड़े हुए हैं किन्तु हर तत्व के अपने विशेष कार्य हैं। सन्तुलन बनाए रखने के लिए विभिन्न भागों का आपसी सम्बन्ध इस व्यवस्था का आवश्यक तत्व है।

(2) हर सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व का तत्व पाया जाता है। यदि कभी तनाव या विभेद होते हैं तो उनको सुलझाया जाता है। इस कारण सामाजिक परिवर्तन क्रान्तिकारी या अकस्मात् नहीं होते अपितु

(3) समस्त सामाजिक व्यवस्था कुछ लक्ष्यों और सिद्धान्तों पर आधारित होती है जिनके आधार पर सदस्य कार्य करते हैं। इसके आधार पर उसकी उपयोगिता को जाना जाता है।

'प्रकार्य' और 'संरचना' का अर्थ :

इन मान्यताओं पर आधारित यह संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम दो प्रमुख प्रत्ययों पर आधारित है—'संरचना' और 'प्रकार्य' या 'क्रिया'। इनके अर्थ को समझ कर उपागम को समझा जा सकता है।

प्रकार्य का अर्थ समझाते हुए आरोन यंग ने लिखा है "प्रकार्य, क्रिया प्रतिमान का व्यवस्था के लिए, जिससे यह प्रचलित होती है, एक वस्तुनिष्ठ परिणाम है।"

इस प्रकार, प्रकार्य का सम्बन्ध अन्ततः व्यवस्था के लिए क्रिया-प्रतिमान के वस्तुनिष्ठ या वस्तुगत परिणामों से होता है। इसको साधारण शब्दों में अन्तः सम्बन्धित भूमिकाओं का प्रतिमान कह सकते हैं या फिर पर्यवेक्षणीय गतिविधियाँ कह सकते हैं।

राबर्ट सी० बोन ने कहा है :

"एक प्रकार्य व्यवस्था को बनाये रखने और उसको विकसित करने के लिए किया जाने वाला ऐसा क्रिया प्रतिमान है जो नियमित रूप से होता रहता है।"

इस परिभाषा में विकार्य का भी संकेत है, अर्थात् एक ऐसी क्रिया जो व्यवस्था के अस्तित्व और विकास के लिए घातक हो। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के साथ विकार्य भी स्वतः निष्पादित होते हैं। एक स्थिति में एक प्रकार्य उससे भिन्न स्थिति में विकार्य बन सकता है। जैसे कि एक क्रिया-प्रतिमान, राजनीतिक व्यवस्था के स्तर पर प्रकार्य हो सकता है किन्तु प्रादेशिक या समूह या व्यक्ति के स्तर पर विकार्य लग सकता है। इस कारण, केवल उन्हीं क्रिया-प्रतिमानों को प्रकार्य कहा जाता है, जो राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने, उसे विकसित करने तथा नियमित रूप से उसमें घटित होते रहते हैं। इसको ध्यान में रखते हुए मर्टन ने प्रकार्य की परिभाषा इस प्रकार की है कि विकार्य को प्रकार्य से अलग करना सम्भव हो सके। मर्टन ने प्रकार्य उन पर्यवेक्षणीय परिणामों को कहा है जो राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल और समायोजन में सहायक होते हैं। इसके विपरीत विकार्य राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूलन और समायोजन को कम करने वाली प्रक्रियाएं हैं। इस संदर्भ में मर्टन स्पष्ट करता है कि प्रकार्य और विकार्य भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रतिमानों द्वारा उत्पन्न होते हैं ऐसी धारणा भ्रमात्मक है। एक क्रिया-प्रतिमान, एक स्तर पर प्रकार्य और दूसरे स्तर पर विकार्य बन सकता है। अतः केवल व्यवस्था के पोषक और अनुरक्षक क्रिया-प्रतिमान ही प्रकार्य होते हैं। यह प्रकट या गुप्त प्रकार की हो सकती है। वास्तविकता को समझने के लिए यह भेद करना आवश्यक होता है क्योंकि प्रकट से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अप्रकट प्रकार्यों की होती है। प्रकट प्रकार्य वह क्रिया प्रतिमान होते हैं जिनके परिणामों को उनके करने वाले चाहते हैं तथा मान्यता देते हैं, जबकि

गुप्त विकार्य उन क्रिया-प्रतिमानों को कहा जाता है जिनके परिणामों को उनके करने वाले न तो मान्यता देते हैं और न ही जिनकी आकांक्षा रखते हैं।

अत: प्रकार्य वह क्रियाएं होती हैं जो राजनीतिक व्यवस्था का अनुरक्षण करें, उन्हें विकसित करें तथा नियमित रूप से घटित होने वाली हों।

संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम में दूसरा प्रत्यय है 'संरचना'। 'संरचना' राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के निष्पादन की व्यवस्थाओं को कहा जाता है। वह व्यवस्थात्मक संगठन जो एक व्यवस्था में प्रकार्यों की क्रिया को पूरा करता है उसे संरचना कहते हैं। संरचनाओं का अर्थ प्रकार्यों के अर्थ के साथ जुड़ा हुआ है। कोई भी संगठन 'संरचना' तब बनता है जब वह एक विशेष प्रकार्य को पूरा करता है। अत: संरचना, क्रिया, परिचालता या सुव्यवस्थित सम्बन्धों का प्रतिमान है।

मर्टन का यह मानना है कि एक संरचना केवल एक ही प्रकार्य तक सीमित रहे यह सही नहीं है। एक ही प्रकार्य अनेक संरचनाओं के समूह के द्वारा निष्पादित हो सकता है। इसी प्रकार, एक ही संरचना अनेक प्रकार्य निष्पादित कर सकती है। इस आधार पर मर्टन ने 'संरचनात्मक प्रतिस्थापन्नता' की धारणा का प्रतिपादन किया है।

यंग ने इसी अवधारणा को संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता माना है। इसके अनुसार, हर व्यवस्था में प्रकार्यों को निष्पादित करने के साधनों या संरचनाओं का एक-सा होना आवश्यक नहीं होता। विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में सांस्कृतिक अन्तर, संरचनाओं में अन्तर अनिवार्य बना देता है। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी शासन व्यवस्था की राजनीतिक संस्कृति की विभिन्नता के कारण एक ही प्रकार्य, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था में एक संरचना द्वारा निष्पादित होता है, यहाँ किसी और संरचना द्वारा निष्पादित हो सकता है। अत: यह कहा जा सकता है कि एक से प्रकार्यों के निष्पादन के लिए संरचनाओं का एक सा होना आवश्यक नहीं है।

इन दो प्रत्ययों पर आधारित यह उपागम मुख्यतया तीन तथ्य देखने का प्रयत्न करता है कि :

(i) किसी व्यवस्था में कौन से आधारभूत प्रकार्य पूरे किए जाते हैं;

(ii) यह प्रकार्य किन संरचनाओं द्वारा पूरे होते हैं; और

(iii) यह प्रकार्य किन परिस्थितियों में पूरे किए जाते हैं?

इनके उत्तर प्राप्त करके राजनीति के सामान्य सिद्धान्त निर्माण का प्रयास किया जाता है। राजनीतिक यथार्थ का प्रकार्यात्मक स्पष्टीकरण विधिक स्पष्टीकरण से इसी कारण अलग और अधिक सही हो जाता है कि इसमें स्थिर तत्वों का उपयोग नहीं करके गत्यात्मक प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

5.5 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की विशेषताएं

व्यवस्था सिद्धान्त के प्रचलन के बाद ही इस नई अवधारणा ने राजनीति शास्त्र में प्रवेश किया। इसने राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का आधार बनाए रखा। आमण्ड और पावेल ने ईस्टन की तरह राजनीतिक व्यवस्था के चार लक्षण स्वीकार किए—

(i) राजनीतिक व्यवस्था के भागों में अन्तर्निर्भरता;

(ii) राजनीतिक व्यवस्था की सीमा;

(iii) राजनीतिक व्यवस्था का पर्यावरण; और

(iv) वैध बाध्यकारी (मौलिक) शक्ति का प्रयोग।

ईस्टन का यह विचार अपनाते हुए आमण्ड आगे बढ़ता है तथा संरचनाओं और प्रकार्यों को भी अपने अध्ययन में प्रयुक्त करता है। इस कारण राजनीतिक व्यवस्था उपागम से संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की विशेषताएं कुछ भिन्न होती हैं। उसकी विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है :

(क) सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की इकाई के रूप में देखा जाता है जैसा कि निवेश-निर्गत विश्लेषण में। यद्यपि, संरचनाओं के सम्पूर्ण व्यवस्था के आधार पर ही समझने की बात पर बल दिया गया है, फिर भी यह दृष्टिकोण इस बात में अधिक आगे बढ़ गया है कि इसने उन सब संरचनाओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया है जो राजनीतिक व्यवस्थाओं को विशेष प्रकृति प्रदान करती है। अत: इसमें भी विश्लेषण की इकाई के रूप में अवश्य ही सम्पूर्ण व्यवस्था पर बल दिया गया है, किन्तु राजनीति की गत्यात्मक शक्तियों की खोज में यह उससे बाहर भी जाने का प्रयास करता है।

(ख) व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए विशिष्ट कार्यों की शर्त का प्रतिपादन किया जाता है। अगर कुछ कार्य या विकार्य अनिवार्यत: निष्पादित नहीं होते हैं तो राजनीतिक व्यवस्था स्थापित नहीं रह पाती। इन कार्यों को निष्पादित करने वाली संरचनाओं में अन्तर हो सकता है किन्तु व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रकार्यों का एक-सा निष्पादन आवश्यक है। जैसे कि हर व्यवस्था में व्यवस्थापन का कार्य आवश्यक है उसे बनाए रखने के लिए, किन्तु किस संरचना के द्वारा यह निष्पादित होगा यह भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं में अलग हो सकता है।

(ग) व्यवस्था की विविध संरचनाओं में प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता पाई जाती है। यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मक शक्तियों की खोज करता है तथा यह दिखाने का प्रयास करता है कि संरचनाओं में आए अन्तर से व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। अगर परिवर्तित संरचना वह कार्य कर रही है जो पहले किसी अन्य संरचना के द्वारा किया जाता था तो यह संरचनात्मक परिवर्तन व्यवस्था के अन्त का कारण नहीं होता। इसी कारण यह दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी तथा तुलनात्मक राजनीति में लोकप्रिय हो गया।

(घ) संरचनात्मक प्रतिस्थापन्नता को स्वीकार करना इस दृष्टिकोण की एक प्रमुख विशेषता है। संस्कृति विशेष के अनुसार संरचनाओं में अन्तर होता है जो एक से प्रकार्यों को निष्पादित करती हैं। अत: संरचनात्मक एकरूपता पर बल न देते हुए यह उपागम संरचनाओं के रूप परिवर्तन या नई संरचनाओं के निर्माण या प्रतिस्थापना को स्वीकार करता है।

(घ) संरचनाओं के प्रकार्यात्मक तथा विकार्यात्मक पहलू को यह उपागम स्वीकार करता है। वह मानता है कि कोई भी संरचना एक समय में प्रकार्य और दूसरे समय में विकार्य करने की स्थिति में धकेली जा सकती है। प्रकार्य किसी व्यवस्था को विकसित करने में सहायक कार्य होते हैं जबकि विकार्य व्यवस्था को कमजोर करने अथवा तोड़ने से सम्बन्धित होते है।

5.6 आमण्ड के विचार

राजनीतिक व्यवस्थाएं एक समान नहीं होती हैं। किन्तु आमण्ड ने उन सब में पाए जाने वाले कुछ समान गुण बताए हैं। राजनीतिक व्यवस्था के संरचनात्मक तत्वों तथा क्रियात्मक पहलुओं को समझने के लिए चार विशेषताएं बताई गई हैं। आमण्ड के अनुसार ये विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(i) हर राजनीतिक व्यवस्था में संरचना होती हैं। इसमें मात्रा और आकार की विशिष्टता हो सकती है पर बिना संरचना के कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है। इन्हीं राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचनाओं के विभिन्नीकरण और विशेषीकरण के आधार पर व्यवस्थाओं को विकसित या अविकसित माना जाता है।

(ii) कुछ सामान्य कार्यों का निष्पादन सभी व्यवस्थाओं के द्वारा होता है किन्तु सभी व्यवस्थाएं उन कार्यों का समान ढंग से और समान अंश में सम्पादन नहीं करती है। सभी व्यवस्थाएं चार कार्य करती हैं—मांगों का चयन और संयुक्तीकरण, मांगों का रूपान्तरण, व्यवस्था का अनुरक्षण तथा व्यवस्था का अनुकूलन। विभिन्न व्यवस्थाओं में इनका निष्पादन आवश्यक होता है परन्तु विभिन्न संरचनाएं तथा सांस्कृतिक विविधताओं के कारण आवृत्ति, मात्रा तथा शैली में अन्तर हो सकता है।

(iii) इस अवधारणा की यह प्रमुख विशेषता है कि यह राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचनाओं के

द्वारा अनेक प्रकार के कार्यों का निष्पादन स्वीकार करती है। परम्परागत विचार कि एक संरचना एक ही कार्य कर सकती है को नकारते हुए यह दृष्टिकोण संरचनाओं को बहु-प्रकार्यात्मक मानती है। इसके आधार पर आधुनिक लोकतन्त्र में यह समझना सम्भव हो जाता है कि कार्यपालिकाएं व्यवहार में व्यवस्थापन का कार्य करने लगी हैं। अत: यह उपागम राजनीतिक यथार्थ को स्वीकार करता है।

(iv) सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं, आधुनिक एवं परम्परागत, मिश्रित प्रकृति की होती हैं। इसका अर्थ है कि उनमें आधुनिक एवं परम्परागत दोनों ही प्रकार के तत्व सम्मिलित होते हैं। इसका प्रमुख आधार सांस्कृतिक होता है। संरचनाए तथा संस्थाएं परिवर्तित होती रहती हैं या जबरदस्ती परिवर्तित की जा सकती हैं या तानाशाही व्यवस्थाओं में आरोपित हो सकती हैं। किन्तु इससे संबंधित लोगों की अभिवृत्तियों में लम्बे समय के बाद भी परिवर्तन नहीं आता। इस कारण व्यवस्था आधुनिक नहीं बन जाती। उसमें दोनों प्रकार के तत्व एक साथ पाए जाते हैं।

आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की जो ये विशेषताएं बताईं, उनके आधार पर वह एक ऐसे सिद्धान्त का निरूपण करना चाहते थे जो यह बता सके कि राजनीतिक व्यवस्थाएं बदलती कैसे हैं। दूसरे, आमण्ड को इस बात की भी चिन्ता थी कि विभिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं और शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाए कि उससे तुलनात्मक अन्वेषण में सहायता मिल सके। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए उसने प्रकार-विद्या (टाइपोलॉजी) की रचना की तथा कार्यक्षमता के आधार पर वर्गीकरण की कसौटियां निर्धारित कीं। इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को एक माप-सारणी (स्केल) के आधार पर क्रमबद्ध किया जा सकता है। चूँकि एक राजनीतिक व्यवस्था को कुछ कार्य सम्पादित करने पड़ते हैं, अत: यह स्वाभाविक है कि कुछ व्यवस्थाएँ उन कार्यों का समान परिस्थितियों में दूसरों की तुलना में, अधिक कुशलता के साथ सम्पादन करेंगी।

5.7 राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या

ईस्टन की भाँति आमण्ड और पावेल ने भी संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या में तीन चरण स्वीकार किए हैं—निवेश, रूपान्तरण प्रक्रिया तथा निर्गत। ईस्टन के सिद्धान्त से यह सिद्धान्त निवेशों के स्तर पर समानता रखता है, किन्तु रूपान्तरण और निर्गतों में मौलिक मतभेद न रखते हुए भी इनको विश्लेषणात्मक और अवधारणा की दृष्टि से पर्याप्त व्यापकता प्रदान कर देता है।

(क) राजनीतिक व्यवस्था के निवेश

आमण्ड भी, ईस्टन की भांति, निवेशों को मांगों तथा समर्थनों में विभाजित करता है। किन्तु आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यों का अधिक संरचनात्मक विचार अपनाया है इसलिए वह मांगों को ईस्टन से अधिक व्यापक अर्थ देते हुए चार श्रेणियों में विभक्त करता है। ये हैं—

(i) वस्तुओं और सेवाओं के वितरण या आवंटन सम्बन्धी मांगें;

(ii) व्यवहारों को नियंत्रित करने सम्बन्धी मांगें;

(iii) राजनीतिक सहभागिता सम्बन्धी मांगें; और

(iv) संचार से सम्बन्धित मांगें।

ईस्टन के अर्थ को स्वीकार करते हुए, आमण्ड ने समर्थनों को भी चार भागों में विभक्त किया है। ये हैं—

(i) दृव्यात्मक समर्थन;

(ii) आज्ञाकारिता के समर्थन;

(iii) सहभागिता समर्थन; और

(iv) श्रद्धात्मक समर्थन।

आमण्ड का यह मत है कि इन मांगों और समर्थनों के आकार-प्रकार की निर्णायक राजनीतिक संस्कृति होती है। संस्कृति की भूमिका को विशेषकर राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक भर्ती के आधार पर समझा जा सकता है। उसका कहना है कि मांगें किस प्रकार की होंगी तथा समर्थनों में जनता की सक्रियता की मात्रा कितनी होगी इसका नियामक जनता का राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक भर्ती ही होती है।

राजनीतिक समाजीकरण स्वयं में निवेश नहीं है। यह निवेशों की प्रकृति, उग्रता तथा मात्रा का नियामक है। समाजीकरण जितना अधिक होगा उतनी ही जनता की सक्रियता बढ़ेगी और मांगों की प्रकृति प्रभावित होगी। राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो राष्ट्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा तथा विशिष्ट मूल्यों को अपनाने में सहायता दे सकती है। यह जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जो राजनीतिक संस्कृति के मूल्य, विश्वास, आस्थाएं और भावनाएं वर्तमान और आगामी पीढ़ियों को प्रदान करती हैं। यह कहा जा सकता है कि यही प्रक्रिया व्यक्ति को राजनीतिक प्राणी बनाती है। इसके द्वारा व्यक्ति के मानस में राजनीति के ज्ञानात्मक नक्शे (मानचित्र) बनते हैं जो कि उसकी किसी राजनीतिक घटना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने में सहायता करते हैं। अत: इसी प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में निवेशक की भूमिका निभाने के लिए तैयार होता है।

यह केवल संयोग पर निर्भर नहीं करता है। समान्यतया परिवार, शिक्षण संस्थाएं, पड़ोस, स्वयं-सेवक समूह, जन सम्पर्क माध्यम, सरकार, दबाव समूह और राजनीतिक दल इस कार्य में प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

राजनीतिक भर्ती समाजीकरण के साथ चलने वाली प्रक्रिया नहीं है परन्तु दोनों प्रक्रियाएं परस्पर गठबन्धित हैं। राजनीतिक समाजीकरण की सन्धि-रेखा पर ही राजनीतिक भर्ती प्रकार्य निष्पादित होता है। राजनीतिक भर्ती का अर्थ है व्यक्ति का राजनीतिक समाजीकरण के आधार पर राजनीतिक सक्रियता प्राप्त करना। हर व्यक्ति का राजनीतिक समाजीकरण भिन्न होता है, अत: उसकी राजनीतिक सक्रियता में भी अन्तर होता है। सभी व्यक्ति एक सी भूमिका नहीं निभाते हैं। इसके परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक भर्ती का प्रेरक होता है तथा यह दोनों राजनीतिक व्यवस्था में उसकी सक्रियता का नियमन करते हैं तथा मांगों और समर्थनों को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं में निवेश अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत होते हैं और राजनीतिक समाजीकरण तथा राजनीतिक भर्ती द्वारा प्रभावित होते हैं।

(ख) रूपान्तरण प्रक्रिया

आमण्ड ने रूपान्तरण प्रक्रिया को नया सूत्रीकरण (formulation) दिया है जो कि इस प्रक्रिया को एक प्रकार्यात्मक दृष्टि प्रदान करता है। उसका मत है कि रूपान्तरण प्रक्रिया दोहरी होती है। एक तरफ रूपान्तरण में अनेक ऐसे परिचालन या क्रियाएं होती हैं, जिनसे मांगों का ऐसा संसाधन किया जाता है कि वह निर्णय या सत्तात्मक रूपान्तरण के लिए सत्ताओं द्वारा ध्यान देने लायक बनाई जाती हैं। दूसरी तरफ, विशिष्ट क्रियाएं हैं, जिनके माध्यम से सत्ताओं द्वारा ध्यान देने योग्य बनाई गई मांगों पर वास्तव में ध्यान दिया जाता है और सत्तात्मक निर्णय लिए जा सकते हैं।

ईस्टन के विपरीत, आमण्ड मानते हैं कि रूपान्तरण की प्रक्रिया सरल नहीं होती। इस कारण उसने इस प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त करके, प्रकार्यात्मकता के प्रवर्गों में बाँटा है। राजनीतिक स्तर तथा सरकारी स्तर।

ख (i) राजनीतिक स्तर पर रूपान्तरण प्रक्रिया

इस स्तर पर तीन प्रकार्यात्मक प्रवर्गों को प्रमुख ना गया है—(i) हित-स्वरूपीकरण, (ii) हित-

समूहीकरण और (iii) राजनीतिक सचार।

(i) हित-स्वरूपीकरण : यह रूपान्तरण का प्रथम चरण होता है जिसमें व्यक्ति और समूह अपनी इच्छाओं को सरकार या राजनीतिक व्यवस्था के ध्यान-योग्य बनाने के लिए आरंम्भिक रूप प्रदान करके सत्ताओं को सम्बोधित करते हैं। राजनीतिक संस्कृति तथा समाजीकरण इस बात का निर्धारण करते हैं कि किस प्रकार के व्यक्तिगत हित या मांगें इस स्तर पर उठाई जाएंगी। यह मांग किस रूप में प्रस्तुत होगी, उसके साथ कौन सी शर्तें जुड़ी होंगी तथा किन विधियों का प्रयोग कर उसको राजनीतिक व्यवस्था में रूपान्तरण के दूसरे स्तर पर पहुंचाया जाएगा—ये सब तथ्य आगे के चरणों को प्रभावित करेंगे। यह प्रकार्य अनेक संरचनाओं द्वारा निष्पादित होता है। संचार के साधनों, जन-सम्पर्क के साधनों, प्रदर्शनों इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। विचित्र सम्प्रेषण शैलियाँ अधिक उपयोगी मानी जाती हैं।

आमण्ड ने इस प्रक्रिया को रूपान्तरण का प्रथम चरण इसलिए माना क्योंकि यहाँ निवेश का वह स्वरूपीकरण हैं जो राजनीतिक व्यवस्था के अन्दर होता है। यद्यपि मांग निवेश से रूपान्तरण स्तर पर कब आई हुई मानी जाएगी इसकी सीमा-रेखा खींच सकना संभव नहीं है, किन्तु जब मांग सत्ताओं की किसी भी शैली से सम्बन्धित हो जाती है तो वह निवेश से रूपान्तरण के पहले स्तर पर आ जाती है। इस आधार पर आमण्ड ने उसे मांगों का प्रतिपादन या सूत्रीकरण कहा है।

(ii) हित-समूहीकरण : आमण्ड ने ईस्टन के मांगों के न्यूनीकरण को हित समूहीकरण अथवा मांगों को संयुक्तीकरण कहा है। इसमें अनेकों मांगों को एक सामान्य मांग में रूपान्तरित करके उसका एक सामान्य निर्णय के माध्यम से समाधान कर दिया जाता है। इस दूसरे चरण में तीन पहलुओं और अभिकरणों पर बल दिया गया है :

- हित-समूहीकरण के अभिकरणों में राजनीतिक दल, दबाव समूह, हित-समूह, संस्थाएं और संगठन आते हैं। ये जनता के बिखरे हुए हितों को समूहीकृत करके, ठोस रूप से अनेक क्रिया-विकल्प बनाकर रूपान्तरण की अवस्था में लाते हैं।
- हित-समूहीकरण की शैलियों में सौदेबाजी, परम-मूल्य अभिमुखीकरणों पर आधारित शैली या परम्परागत शैलियां होती हैं। सौदेबाजी में वास्तविक स्थितियों व तथ्यों के आधार पर हितों का समूहीकरण होता है, जबकि मूल्यों के अभिमुखीकरण के आधार पर या एक मूल्य या एक ही प्रकार के मूल्यों के आधार पर भी यह हो सकता है। विकासशील राज्यों में आमण्ड ने परम्परागत शैली को महत्वपूर्ण माना है।
- हित-समूहीकरण के परिणाम अभिकरणों एवं शैलियों पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए अगर राजनीतिक दल के स्थान पर हित-समूहीकरण का अभिकरण उग्र व प्रतिक्रियावादी हित-समूह है तो इससे रूपान्तरण करने वाली व्यवस्था पर बोझ बढ़ सकता है। इसी प्रकार यह सम्भव है कि परम्परागत शैली के द्वारा सम्बोधित मांग को सत्ताओं द्वारा संसाधन व रूपान्तरण प्रक्रिया में सम्मिलित न किया जाए।

इस प्रकार रूपान्तरण प्रक्रिया में हित-समूहीकरण का विशेष महत्व होता है क्योंकि यह राजनीतिक व्यवस्था के सामने रूपान्तरण के लिए अनेक विकल्प प्रस्तुत करती है। इन विकल्पों की अनेकता राजनीतिक व्यवस्था के खुलेपन का सबूत मानी जाती है।

(iii) राजनीतिक संचार : यह वह माध्यम है जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के अन्य सभी कार्यों का अनिवार्यत: सम्पादन किया जाता है। किन्तु यह एक पृथक् कार्य नहीं है, बल्कि अन्य सभी राजनीतिक कार्यों का एक पहलू है। रूपान्तरण प्रक्रिया में संचार-प्रकार्यों का विशेष स्थान होता है। संचार प्रक्रिया की संरचनाएं ही समाज और अन्य व्यवस्थाओं को आपस में जोड़ती हैं। इन्हीं से राजनीतिक व्यवस्था में अन्त:क्रियाएं सम्भव होती हैं। आमण्ड और पावेल के अनुसार रूपान्तरण प्रक्रिया को संचार सम्बन्धी तीन तथ्य प्रभावी ढंग से निरूपित करते हैं। ये तथ्य इस प्रकार हैं :

— संचार की संरचनाओं की उपस्थिति या उनका अभाव;

— सूचना या जानकारी की मात्रा जो संचार की संरचनाओं के द्वारा दी जाती है या उनमें से गुजरती है; तथा

— संचार की संरचनाओं की स्वतन्त्रता या इसका अभाव।

आमण्ड जिन पाँच संरचनाओं को रूपान्तरण-प्रक्रिया से जुड़ा हुआ मानते हैं वे हैं—

— अनौपचारिक, प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत सम्पर्क जो कि अन्य संरचनाओं से अलग और स्वतन्त्र रूप से संचालित होते हैं।

— परम्परागत सामाजिक संरचनाएं जैसे परिवार और धार्मिक संगठन।

— राजनीतिक निर्गतों से संबंधित संरचनाएं जैसे व्यवस्थापिका, नौकरशाही।

— राजनीतिक निवेश संरचनाएं जैसे राजनीतिक दल, हित समूह, दबाव समूह।

— जन-सम्पर्क और-जनसंचार साधन, जैसे रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र, मंच, सिनेमा, साहित्य आदि।

संचार की इन्हीं संरचनाओं के द्वारा निवेशों को रूपान्तरण के लिए ले जाया जाता है तथा रूपान्तरणों को निर्गतों के रूप में राजनीतिक व्यवस्था तथा पर्यावरण में पहुंचाया जाता है। इन पाँच संरचनाओं में से सबसे अधिक महत्व अन्तिम तीन संरचनाओं का है। किन्तु यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इनमें से कितनी मात्रा में जानकारी गुजरती है तथा इस जानकारी को नियन्त्रण रहित या स्वतन्त्र होना आवश्यक होता है। अत: संचार के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न संरचनात्मक भाग अन्त:क्रियाशील होते हैं तथा राजनीतिक व्यवस्था और पर्यावरण में सम्बन्ध सूत्रता स्थापित करते हैं।

ख (ii) शासकीय स्तर पर रूपान्तरण प्रक्रिया

राजनीतिक स्तर पर रूपान्तरण प्रक्रिया के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह महत्वपूर्ण है तथा वास्तविक रूपान्तरण इसी स्तर पर होता है। साथ ही यह अनौपचारिक है इस कारण इसमें लचीलापन होता है तथा इसमें शासकों के मान-सम्मान के मुद्दे नहीं उलझे होते हैं। किन्तु शासकीय स्तर पर भी रूपान्तरण प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। यहाँ पर प्रक्रिया औपचारिक होती है।

यहां पर आमण्ड और पावेल ने तीन प्रकार्यात्मक प्रवर्गों को सरकार के परम्परागत तीन कार्यों के अनुरूप ही माना है। इनको निर्गतों के रूप में न स्वीकारते हुए वे इन्हें सरकारी रूपान्तरण मानते हैं जिनको आधिकारिक या सत्तात्मक रूपान्तरण कहा जा सकता है। उनका अभिमत है कि इन रूपान्तरणों से कुछ निर्गत सामने आते हैं। ये रूपान्तरण हैं :

— नियम-निर्माण

— नियम-प्रयुक्ति

— नियम अधिनिर्णय

इन तीन प्रवर्गों को देने का कारण यह था कि आमण्ड के अनुसार वर्तमान की जटिल व्यवस्थाओं में शासकीय रूपान्तरण में परम्परागत सरकारी कार्यों का औचित्य समाप्त हो गया है। शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं रह गया है और अब व्यवस्थापन, कार्यपालन और न्यायपालन के कार्य सुनिश्चित संरचनात्मक व्यवस्थाओं के द्वारा निष्पादित नहीं होते हैं। इस कारण आमण्ड ने सरकार के तीन परम्परागत कार्य सरकारी स्तर पर निष्पादित माने हैं, किन्तु उसने इनको संरचनात्मक दृष्टि से न देखकर प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इसके परिणामस्वरूप वह व्यवस्थापन कार्य के स्थान पर नियम निर्माण का कार्य मानता है,

कार्यपालिका कार्य के स्थान पर नियम प्रयुक्ति का कार्य मानता हैं, और न्यायपालिका कार्य के स्थान पर नियम-अधिनिर्णय का कार्य मानता है।

ये तीनों ही कार्य सरकारी स्तर के रूपान्तरण वैधता की परिधि में निष्पादित होते हैं। इनमें औपचारिकता तथा विधिकता इतनी अधिक होती है कि इनका रूपान्तरण राजनीतिक स्तर के रूपान्तरण से बहुत अधिक बेमेल नहीं हो सकता है। यहाँ भी राजनीतिक रूपान्तरण प्रक्रिया की तरह एक निश्चित प्रतिमान प्रक्रिया की प्रधानता होती है। नियम-निर्माण के बाद ही नियम प्रयुक्ति और नियम-अधिनिर्णय की स्थिति आती है। इन तीनों रूपान्तरणों को आमण्ड ने व्यवस्थापन, कार्यपालन तथा न्यायपालन के परम्परागत त्रिमुखी सरकारी कार्यों के समान नहीं माना है। इनके व्यापक अर्थ स्वीकार करते हुए यह दिखाया गया है कि ये सरकारी स्तर के रूपान्तरण होते हुए भी राजनीतिक स्तर के रूपान्तरणों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं और सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में व्याप्त रहते हैं। इनको किसी संरचना विशेष से सम्बन्धित मानना वास्तविक तथ्यों की अनदेखी करना है। राजनीतिक व्यवस्थाओं में संरचनात्मक विभिन्नीकरण और विशेषीकरण का यह आशय नहीं है कि एक विशेष कार्य को एक विशेष संरचना ही निष्पादित करे अपितु, इसका अर्थ यह है कि विशेष प्रकार्य विशेष प्रकार से ही निष्पादित हों।

(ग) राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत

आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक व्यवस्था के निर्गतों के विवेचन में ईस्टन का मॉडल स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार निर्गतों के चार प्रकार होते हैं, जो कि निवेशों की ही भांति, राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती से जुड़े होते हैं। ये प्रकार हैं—

(i) निकालने या उगाहने या लेने वाले निर्गत

(ii) विनियामक निर्गत

(iii) वितरणी निर्गत

(iv) प्रतीकात्मक निर्गत

इस पहली श्रेणी का सम्बन्ध कर वसूली, व्यक्तिगत सेवाओं तथा सहयोग और योगदान से है। दूसरे में मानव व्यवहार को नियमित और नियन्त्रित करना सम्मिलित रहता है। वितरणात्मक निर्गतों में वस्तुओं, सेवाओं, लाभों, अवसरों, सम्मानों आदि का आवंटन सम्मिलित है। प्रतीकात्मक निर्गत मूल्यों की पुष्टि तथा राजनीतिक प्रतीकों का प्रदर्शन, नीतियों और उद्देश्यों की घोषणा से सम्बन्धित होता है।

ये सभी निर्गत समर्थनों से सम्बन्धित होते हैं तथा इनका रूपान्तरण पर भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु ये मांगों के प्रति अनुक्रियात्मक हों यह आवश्यक नहीं है। ये मांगों के अनुरूप या प्रतिकूल या उनसे असम्बन्धित भी हो सकते हैं। मांगों से असम्बन्धित निर्गत सामने आ सकते हैं। उसका कारण है कि कई बार रूपान्तरण के स्तर पर ऐसे पहलू उभर कर सामने आते हैं जिनका रूपान्तरण करने पर ही निवेश में आई किसी मांग को रूपान्तरण की अवस्था में लाया जा सकता है। अत: इन निर्गतों का मांगों से असम्बन्धित होना अस्वाभाविक या असम्भव नहीं है। पर सामान्यतया अधिकांश निर्गत मांगों के प्रति अनुक्रियाशील ही माने जा सकते हैं।

गैना ने संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या के द्वारा निवेश, रूपान्तरणों तथा निर्गतों को समझाने के उद्देश्य से यह मॉडल प्रस्तुत किया है।

आमण्ड और पावेल का राजनीतिक व्यवस्था मॉडल (गैना)

इस चित्र में बाह्य पर्यावरण, जिसके अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्थाएं और उनकी सामाजिक व्यवस्थाएं

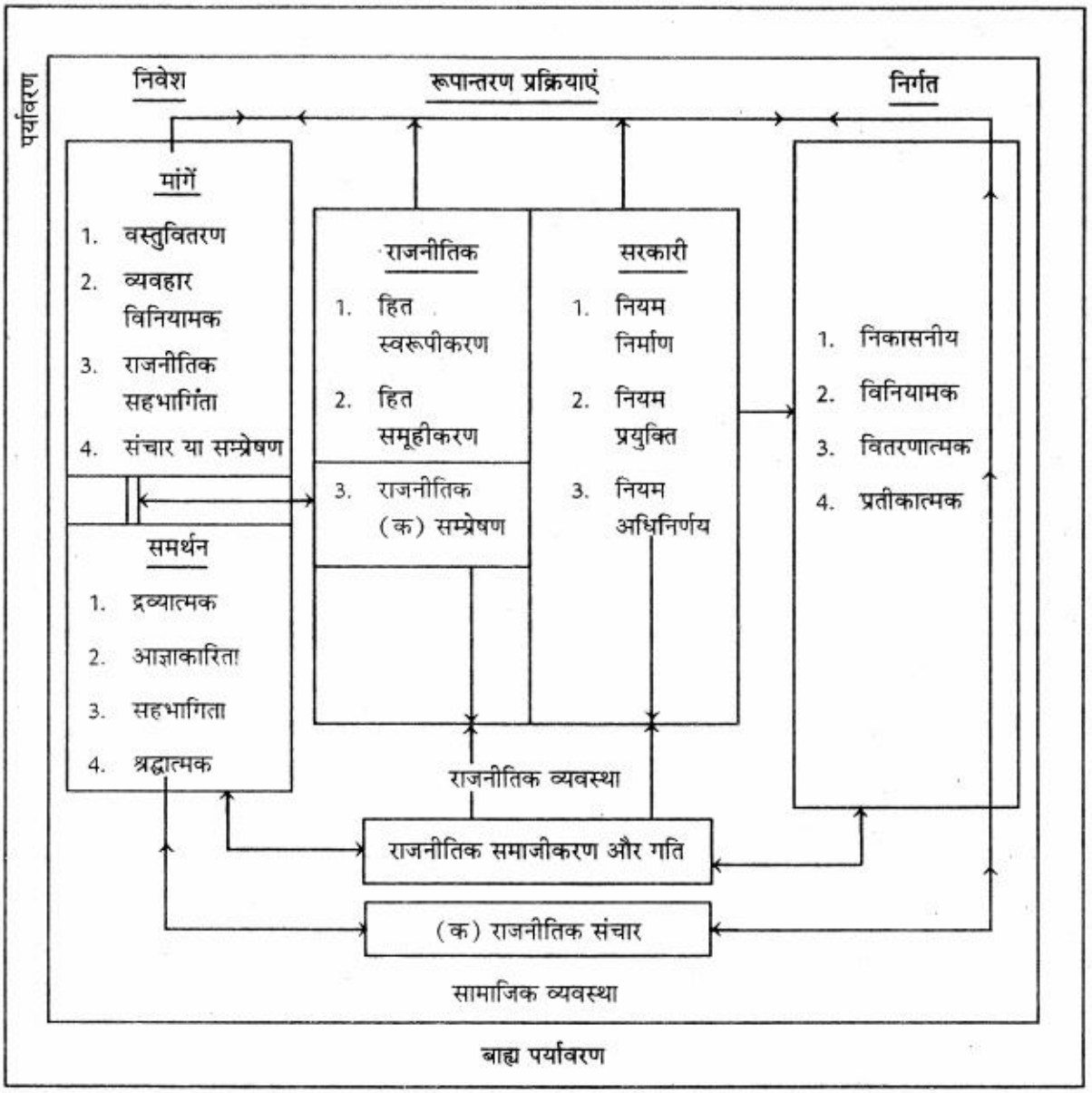

अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण आता है, के अन्दर सामाजिक व्यवस्था को दिखाया गया है। इस सामाजिक व्यवस्था में निवेश, मांगों और समर्थनों के रूप में, राजनीतिक व्यवस्था में जाते हैं। वहां उनका राजनीतिक और फिर शासकीय रूपान्तरण होकर उत्पादनों के रूप में पुन: सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश होता है। इनमें संचार के माध्यम से सब संरचनाएं अन्त:सम्बन्धित बन जाती हैं। इसी तरह निवेशों, रूपान्तरणों तथा निर्गतों पर राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक भर्ती का प्रभाव हर स्तर पर प्रत्यक्ष पड़ता हुआ दिखाया गया है।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक भर्ती निवेश नहीं है, अपितु यह निवेशों, रूपान्तरणों और निर्गतों की नियामक और प्रेरक प्रक्रियाएं हैं। यह सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का आधार होती है। साथ ही संचार भी केवल एक प्रकार्य नहीं है, अपितु सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था और निवेशों तथा निर्गतों में सम्बन्ध सूत्रता का माध्यम है। इस कारण यह राजनीतिक संरचनाओं और राजनीतिक प्रकार्यों को गत्यात्मक रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि आमण्ड और पावेल ने ईस्टन का मॉडल अपनाते हुए भी उससे भिन्न और अधिक व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने व्यवस्था विश्लेषण के संरचनात्मक-क्रियात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग विकास का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए किया है। राजनीतिक

विकास के स्तरों का निरूपण भी इन्होंने राजनीतिक व्यवस्था में संरचनात्मक-क्रियात्मक परिवर्तनों के आधार पर किया है। इस प्रकार आमण्ड ने राजनीतिक विकास के सिद्धान्त की खोज में इस विश्लेषण का प्रयोग किया है।

5.8 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम की आलोचना

संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम को राजनीतिक विकास के सिद्धान्त से सम्बन्धित माना गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वह पश्चिमी उदारवादी-लोकतान्त्रिक अर्थ में लोकतान्त्रीकरण का व्याख्यात्मक सिद्धान्त है। होल्ट और टर्नर का कहना है कि आमण्ड के निर्देशतन्त्र में "अनेक कमियाँ हैं जिनके कारण इस बात में बाधा पड़ती है कि उसे राजनीतिक आधुनिकीकरण के अधिक सामान्य सिद्धान्तों का विकास करने का पूर्णत: प्रभावकारी आधार बनाया जाय। इससे अधिक इस निरूपण का एक दोष यह भी है कि वह आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था तथा आधुनिक आंग्ल अमरीकी लोकतांत्रिक व्यवस्था, इन दोनों को एक रूप मान लेता है।"

इसी कारण आमण्ड के विश्लेषण को साम्यवादी देशों के राजनीतिक विकास पर लागू नहीं किया जा सकता।

दूसरे, इस उपागम में व्यवस्था के पोषण-अनुरक्षण पर इतना अधिक जोर है कि यह रूढ़िवादी और सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध पूर्वाग्रही प्रतीत होता है। किन्तु यह आलोचना पूर्ण रूप से सही नहीं है क्योंकि यह विश्लेषण गत्यात्मक शक्तियों का भी वर्णन करता है। यह इस आलोचना को क्षीण करता है कि यह रूढ़िवादी है। अत: यह आलोचना सैद्धान्तिक है और व्यावहारिक दृष्टि से तर्कसंगत नहीं लगती है।

तीसरे, यह उपागम कोई वस्तुनिष्ठ मानदण्ड या कसौटी नहीं प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि यह व्यवस्था कब ठीक प्रकार से अनुरक्षित है। विकासशील राज्यों के संदर्भ में यह अधिक महत्व रखती है। ऊपर से स्थायित्व वाली व्यवस्था क्या वास्तव में विकसित हो रही है या पतन की ओर जा रही है इसको आंकने के कोई मानदण्ड प्रस्तुत नहीं किए गए। साथ ही, यह व्याख्या विशिष्ट संरचनाओं की अन्तर्निर्भरता की प्रकृति का सुनिश्चय और सविस्तार प्रतिपादन करने में असफल रहा है। यह उपागम यह स्पष्ट करता है कि एक संरचना में परिवर्तन होने से कोई प्रकार्य किस प्रकार से निष्पादित होता है तथा उसमें और सम्पूर्ण व्यवस्था में किस प्रकार से परिवर्तन आता है। किन्तु यह इस प्रकार के परिवर्तनों से अन्यत्र आने वाले परिवर्तनों और प्रभावों की प्रकृति, तीव्रता और मात्रा का ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन सुलभ नहीं कर पाता है। उदाहरण के लिए यह बता सकता है कि दल व्यवस्था में परिवर्तन से राजनीतिक व्यवस्था के निष्पादन में परिवर्तन आता है पर यह नहीं जान पाता कि निष्पादन परिवर्तनों की प्रकृति, उग्रता और हद क्या है।

यह उपागम प्रमुखतया राजनीतिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक अपेक्षाओं के आधार स्तम्भ पर ही आधारित है। हर राजनीतिक व्यवस्था में अपेक्षित प्रकार्यों की विविधता होती है तथा हर व्यवस्था का एक अपेक्षित प्रकार्यों का सेट हो जाता है। इस कारण, प्रकार्यों के अभिज्ञान का कोई सुनिश्चित मानदण्ड नहीं रह जाता। इसके अभाव में किसी अध्ययन में प्रकार्यों का सेट निष्पादन के आधार पर चुना जाए या कोई अन्य आधार लिया जाए यह भ्रांति उत्पन्न होती है।

इसके साथ यह भी समस्या आती है कि प्रत्ययों या शब्दों की परिचालनात्मक ढंग से परिभाषा देना कठिन है तथा यह अस्पष्टता भी है कि कौन सी संरचना कौन से प्रकार्यों को निष्पादित करती है। राजनीतिक व्यवस्था में कौन से प्रकार्य किस हद तक पूरे हो रहे हैं इसका निश्चय कर सकने में भी कठिनाई होती है।

इस उपागम में यह भी दोष है कि यह राजनीतिक व्यवस्था की अत्यधिक स्वायत्तता पर अनावश्यक बल देता है। इसके अतिरिक्त, यह स्वाभाविक संरचनाओं के पक्ष में तथा जान-बूझकर आरोपित संरचनाओं के विरूद्ध पूर्वाग्रही है।

इन सब आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह उपागम प्रमुखत: पाश्चात्य जगत् की लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या और तुलना तक सीमित रहा। इसने राजनीति के अनेक ऐसे तथ्यों को अनदेखा किया जो व्यवस्था की परिचालनता में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

5.9 संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम के गुण

हर उपागम की भांति इसमें भी अनेक कमियां पाई गई हैं। किन्तु इसने एक सुसंगत एवं समग्रवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिससे राजनीतिक व्यवस्था के सभी पहलुओं से सम्बन्धित स्पष्टीकारक परिकल्पनाएं प्रस्थापित की जा सकती हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओं का कोई सामान्य सिद्धान्त तो न प्रस्तुत किया जा सका लेकिन यह सामान्य सिद्धान्त के अन्तत: निर्माण की सम्भावनाएं प्रस्तुत करता है।

इस उपागम का यह प्रमुख गुण है कि यह तुलनात्मक विश्लेषणों को राजनीतिक और सामाजिक अनुलक्षणों की अन्त:सम्बद्धताओं की पेचीदगियों के प्रति संवेदनशील बनाता है। विभिन्न उप-व्यवस्थाओं की अन्तर्निर्भरताओं और अन्त:क्रियाओं की पेचीदगियों का ज्ञान प्रदान करता है। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था की परिचालकता की जटिलता के प्रति सचेत और सतर्क रहने की आवश्यकता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की ओर ध्यान आकर्षित करता है तथा स्वीकार करता है कि घटनाएं अलग-अलग नहीं समझी जा सकती हैं। इसीलिए यह राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रखकर राजनीतिक घटनाओं को समझने का प्रयास करता है।

5.10 सारांश

राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त की कमियों को दूर करने के लिए निर्मित संरचनात्मक-क्रियात्मक उपागम ने एक समग्रवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आमण्ड और पावेल ने इस सिद्धान्त का विवेचन किया तथा निवेश रूपान्तरण प्रक्रिया तथा निर्गत के आधार पर प्रक्रिया को समझाया। इस उपागम ने राजनीतिक संरचनाओं तथा प्रकार्यों को गत्यात्मक रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार यथार्थवादी निष्कर्ष निकालने और राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविक गत्यात्मक शक्तियों को समझने में इसकी विशेष उपयोगिता है। अभी इस उपागम में अनेक कमियां हैं जो परिभाषा की दृष्टि से कठिनाई उत्पन्न करती हैं फिर भी यह एक ऐसा सैद्धांतिक विचारबंध प्रस्तुत करता है जो विश्लेषणात्मक दृष्टि से संगत है और आनुभविक रूप में लाभप्रद प्रयोग की क्षमताएं रखता है।

5.11 उपयोगी पुस्तकें

1. आमण्ड, गेब्रियल : ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस
2. ऐपटर : इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस
3. बॉल, ए० आर : मॉडर्न पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेन्ट
4. बेरी, कोलिन : ऑन ह्यूमन कम्यूनिकेशन
5. कोकर, फ्रान्सिस : रीसेन्ट पोलिटिकल थौट
6. एंगेल्स, फ्रेडरिक : वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका
7. गैना, एस : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं
8. गौतम, ब्रजेन्द्र प्रताप : समाजवादी चिंतन का इतिहास
9. ग्रे, एलिक्जैन्डर : द सोशलिस्ट ट्रडिशन - मोसिस टू लेनिन
10. हाल, ए और फेमन : डेफिनीशन ऑफ ए सिस्टम्
11. होल्ट, रॉबर्ट टी और टरनर, जॉन ई : द पोलिटिकल बेसिंस ऑफ इकोनोमिक डेवेलपमेन्ट
12. ईस्टन, डेविड : पोलिटिकल सिस्टम : एन इन्क्वाइरी इनटू द स्टडी ऑफ पोलिटिकल साइन्स
    : द सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ
13. जौहरी, जे०सी० : तुलनात्मक राजनीति
14. महेश्वरी, श्रीराम : तुलनात्मक राजनीति
15. वर्मा, एस०पी० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
16. वर्मा, एस०एल० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त

17. वेपर, सी०एल० : पोलिटिकल थाट
18. यंग, ओरन : सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइंस

5.12 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. राजनीतिक समाजीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. राजनीतिक तथा शासकीय स्तर की प्रक्रिया में क्या अन्तर है?
3. आमण्ड के अनुसार निर्गत के चार प्रकार क्या हैं?
4. राजनीतिक संचार की भूमिका स्पष्ट करें।
5. आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की क्या विशेषताएं बताई हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण पर एक निबन्ध लिखिए।
2. आमण्ड और पावेल की संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या का विवेचन कीजिए।
3. आमण्ड के रूपान्तरण प्रक्रिया पर विचारों का विवेचन कीजिए।
4. 'संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण व्यवस्था सिद्धान्त का एक विशिष्ट रूप है'। इस पर टिप्पणी कीजिए।
5. 'संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण राजनीतिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।' इस तथ्य की पुष्टि कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. 'द पोलिटिक्स ऑफ डेवेलपिंग एरियास' किसके द्वारा रचित ग्रन्थ है?
   (क) टालकोट पारसन्स (ग) आमण्ड और पावेल
   (ख) गैब्राइल आलमण्ड तथा कोलमैन (घ) डेविड ईस्टन
2. संरचनात्मक-क्रियात्मक व्याख्या के तीन चरण स्वीकार किए गए हैं :
   (क) निवेश, माँग, समर्थन (ग) निवेश, निर्गत, समर्थन
   (ख) निवेश, रूपान्तरण प्रक्रिया, निर्गत (घ) निवेश, हित-स्वरूपीकरण, निर्गत
3. रूपान्तरण प्रक्रिया के दो प्रमुख स्तर कौन से हैं?
   (क) राजनीतिक, आर्थिक (ग) राजनीतिक, शासकीय
   (ख) राजनीतिक, सामाजिक (घ) आर्थिक, सामाजिक
4. निवेश में कौन से तत्व सम्मिलित होते हैं?
   (क) संचार, भर्ती (ग) माँगें, समर्थन
   (ख) वितरणात्मक, प्रतीकात्मक (घ) राजनीतिक, सरकारी

5.13 प्रश्नोत्तर

1. (ख) 2. (ख) 3. (ग) 4. (ग)

इकाई 6 : मार्क्सवादी विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2. मार्क्सवादी विश्लेषण का उदय
6.3 मार्क्सवादी विश्लेषण का आधार
6.4 मार्क्सवाद के सिद्धान्त
(क) द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त
(ख) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त
(ग) इतिहास की आर्थिक व्याख्या
(घ) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त
6.5 मार्क्सवादी धारणा
6.6 मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विशेषताएं
6.7 व्यवहार में प्रयुक्तता
6.8 उपागम की उपयोगिता
6.9 सारांश
6.10 उपयोगी पुस्तकें
6.11 संबंधित प्रश्न
6.12 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में मार्क्सवादी बिश्लेषण का परिचय प्रस्तुत किया गया है। तीसरे विश्व की विशेष परिस्थितियों की व्याख्या करते तथा गत्यात्मकता को समझने के लिए इस नए उपागम को सर्वप्रथम अपनाया गया था। कार्ल मार्क्स के साम्यवादी विचारों को आधार बनाते हुए यह उपागम विश्लेषण का एक नया मार्ग प्रस्तुत करता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद यह ज्ञात होगा कि :

- कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं।
- इन सिद्धान्तों के आधार पर बनी मार्क्सवादी धारणा क्या है।
- विश्लेषण का यह उपागम किन कारणों से व्यवहारिक स्थिति में उपयोगी रहा।

6.1 प्रस्तावना

मार्क्सवादी विश्लेषण उन्नीसवीं शताब्दी का एक प्रमुख उपागम है। यह परम्परागत तथा आधुनिक उपागमों से कुछ आधारों पर समान है किन्तु मूल्यत: दोनों से भिन्न है। अनेक आधुनिक उपागमों ने यथार्थ को समझने का प्रयास किया था। पचास से भी अधिक सालों तक व्यवस्था सिद्धान्त से लेकर राजनीतिक संस्कृति के आधार पर तुलनाएं करके सामान्यीकरणों तक पहुंचने के प्रयास जारी रहे। किन्तु ये सब प्रयास तुलनात्मक राजनीति को सिद्धान्त निर्माण की ओर बहुत दूर तक नहीं ले जा पाए। तुलनात्मक अध्ययनों को लेकर इकाई सम्बन्धी विवाद उठे, अध्ययनों में नये-नये प्रत्ययों का प्रचलन व प्रयोग हुआ। परन्तु इन सब ने एक सीमा के आगे राजनीति व्यवस्थाओं के बारे में हमारी जिज्ञासा को शान्त नहीं किया।

राजनीतिशास्त्रियों ने पाश्चात्य जगत के अपने अनुभव के आधार पर विकासशील राज्यों में होने वाले राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तनों का अध्ययन किया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अनेकों नई अवधारणाएं, प्रस्थापनाएं एवं आयाम प्रस्तुत किए। किन्तु विकासशील एवं विकसित देशों में महत्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। इन अध्ययनों के आधार पर कोई ऐसा सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया जा सका जो विकासशील देशों की

राजनीतिक व्यवस्था को पूर्णत: समझा सकने में समर्थ हो।

6.2 मार्क्सवादी विश्लेषण का उदय :

इस अभाव को पूरा करने के लिए स्टेफेन क्लार्कशन जैसे कुछ विचारकों ने एक नयी राह सुझाई उन्होंने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि सोवियत-रूस का 'विकास-सिद्धान्त' अर्थात् मार्क्सवादी-लेनिनवादी परिप्रेक्ष्य तुलनात्मक विश्लेषण के वैकल्पिक ढांचे के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि 'क्या इस उपागम का प्रयोग करके तुलनात्मक अध्ययन करने पर किसी प्रकार के सामान्यीकरण तक पहुंचने की सम्भावना है?' इस प्रश्न ने मार्क्सवादी विश्लेषण को विकसित करने का प्रारम्भ किया।

इस नए उपागम के जन्म का प्रमुख कारण था पाश्चात्य जगत् के विद्वानों की राजनीतिक व्यवस्था का सामान्य सिद्धान्त देने में असफलता। आधुनिक सिद्धान्त राजनीतिक अध्ययनों को अत्यन्त सुव्यवस्थित, सुनिश्चित तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप एक घटना विशेष के सब पहलुओं पर प्रकाश डालने में वे समर्थ थे। किन्तु इन प्रत्ययों के आधार पर एक सामान्य सिद्धान्त का निर्माण नहीं सम्भव था। इस कारण, तुलनात्मक अध्ययन इतना विशिष्ट तथा व्यक्तिवादी बन गया कि उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसका राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्ध ही टूट सा गया है। विकासशील राज्यों में तीव्र गति से बदलती हुई परिस्थितियों को इन सीमित पैमानों के आधार पर समझ पाना सम्भव नहीं था। विकासशील राज्यों में परिवर्तन अचानक होते हैं और अनेक बार वे परिस्थितियों को पूर्णत: बदल देते हैं। उस समय वैज्ञानिक आधार पर किए गए अध्ययन अर्थहीन हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, एक व्यक्ति पाकिस्तान में व्यवस्थापिका का अध्ययन कर रहा हो और वहाँ तानाशाही स्थापित हो जाए। उसी क्षण व्यवस्थापिका और उससे सम्बन्धित अध्ययन की उपयोगिता समाप्त हो जाएगी।

इस नए उपागम को अपनाने का दूसरा कारण यह दिया जाता है कि पाश्चात्य विकासवादी विश्लेषण का प्रत्ययी पतन हुआ है। प्रत्ययों में अनेक परिवर्तन आते रहे हैं जिनके फलस्वरूप हर शोधकर्ता के द्वारा प्रत्ययों को पुन: परिभाषित करना पड़ता है तथा हर एक की भाषा विशिष्ट बन गई है। 'प्रत्ययों की परिभाषा करना' यह शोधकार्य में एक आवश्यक चरण बन गया है। जब तक दो शोधकर्ताओं ने प्रत्ययों की समान परिभाषा नहीं ली होती है तब तक वे एक दूसरे की उपलब्धियों से लाभ नहीं उठा सकते हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण का समर्थन करने वाले विद्वानों ने माना कि प्रत्ययी क्रमिकता व अनुरूपता के अभाव को समाप्त करने के लिए एक नए उपागम की आवश्यकता है।

तीसरा कारण था कि पाश्चात्य देशों के आधार पर किए गए तुलनात्मक अध्ययन नए राज्यों की राजनीति का संतोषजनक स्पष्टीकरण देने में असफल थे। पाश्चात्य अर्थात् विकसित देशों में होने वाले परिवर्तनों की गति से विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की तुलना कर पाना सम्भव नहीं था। यहां आवश्यकता थी एक ऐसे उपागम की जो तुलनात्मक विश्लेषणों में ऐतिहासिक स्थायित्व ला सके। एक ऐसा दृष्टिकोण जो विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर विशेष रूप से लागू हो तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों के बारे में दिशात्मक संकेत दे सके।

इन तीन कारणों के आधार पर एक नई दिशा को अपनाने का आरम्भ किया गया जिसके आधार पर एक यर्थाथवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सके।

6.3 मार्क्सवादी विश्लेषण का आधार

मार्क्सवादी विश्लेषण के सिद्धान्त को समझने से पहले यह आवश्यक है कि कार्ल मार्क्स के मूल विचारों को स्पष्ट कर दिया जाय। कार्ल मार्क्स (1818-1883) विश्व के एक नवीन सामाजिक, दार्शनिक हैं जो कि वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। उसने न केवल समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया अपितु सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की है। मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारकों ने नवयुग के सपने बनाए थे.

किन्तु मार्क्स ने उन सपनों को साकार बनाने के लिए प्रयास किया। मार्क्स के विचारों को 'वैज्ञानिक' इसलिए कहा गया क्योंकि उसने एक वैज्ञानिक की भांति समाज के स्वरूप एवं विकास के नियमों की खोज करने का प्रयत्न किया था। उसने यह पता लगाया था कि समाज में परिवर्तन क्यों होते हैं, भविष्य में यह परिवर्तन किस प्रकार तथा किस दिशा में होंगे और यह निष्कर्ष निकाला कि मानव समाज में परिवर्तन अकस्मात् नहीं होते हैं, अपितु कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं।

अत: मार्क्सवाद का सम्बन्ध यथार्थ, वास्तविकताओं, ठोस दुनियाँ, सामाजिक विकास को नियन्त्रित करने वाले वस्तुगत नियमों से है। मार्क्स के द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त सम्यक विश्व का दृष्टिकोण है। इसमें प्रकृति एवं समाज, उसके विकास को नियन्त्रित करने वाली नियमितता, उनके संज्ञान तथा क्रान्तिकारी ढंग के पुनर्गठन के साधन एवं उपाय की सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति है।

6.4 मार्क्सवाद के सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में अपने वैज्ञानिक समाज का प्रतिपादन किया था। इन विचारों के आधार पर बीसवीं शताब्दी के विद्वानों ने एक विश्लेषण की पद्धति को विकसित किया। इस दृष्टिकोण को समझने से पहले यह आवश्यक है कि मार्क्स के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को समझा जाए। मार्क्स के द्वारा दिए गये प्रमुख सिद्धान्त हैं :

(1) द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त

(2) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त

(3) इतिहास की आर्थिक व्याख्या

(4) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

(क) द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त :

कार्ल मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त अपनाकर उसका प्रतिपादन आर्थिक दृष्टि से किया, न कि आध्यात्मिक दृष्टि से। हेगेल की ही भाँति उसने माना कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, अर्थात् एक व्यवस्था में परिवर्तन होने की प्रक्रिया का कारण प्रथम व्यवस्था में अन्तर्विरोध का होना तथा उसके प्रतिषेध के रूप में एक विरोध प्रवृत्ति का उत्पन्न होना है। वह मानता है कि समाज में प्रगति प्रत्यक्ष न होकर, एक टेढ़े-मेढ़े तरीके से हुई है, जिसके तीन अंग हैं—वाद, प्रतिवाद और संवाद। 'वाद' समाज की एक साधारण स्थिति है जिसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाया जाता। थोड़े समय बाद 'वाद' से असन्तुष्ट होकर उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप 'प्रतिवाद' उत्पन्न हो जाता है। यह निषेधात्मक स्थिति 'वाद' की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानी जाती है। 'वाद' और 'प्रतिवाद' के अन्तर्विरोध के फलस्वरूप एक समझौता हो जाता है, जिसमें एक नए विचार की उत्पत्ति होती है, जिसे 'संवाद' या 'संश्लेषण' कहते हैं। यह 'संश्लेषण' आगे चल कर 'वाद' हो जाता है। इसका फिर 'प्रतिवाद' उत्पन्न होता है तथा 'संश्लेषण' को जन्म देता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का निषेध होता है और उसके पश्चात् 'निषेध का निषेध' होता है, जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आती है।

इस प्रकार द्वन्द्ववाद विरोधी तत्वों में निहित संघर्ष के माध्यम से संचालित होता है। यह संघर्ष अन्ततः उन पारस्परिक विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित कर देता है जिससे उच्च स्थिति में उन दोनों तत्वों के गुण विद्यमान होते हैं। कुछ समय में यह समन्वय पुन: अपने विरोधी विचार को जन्म देकर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देता है और फिर समन्वय के द्वारा विचार परिमार्जन के उच्च स्तर को प्राप्त कर लिया जाता है। संघर्ष और समन्वय की यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहती है जब तक विचार का आदर्श रूप प्राप्त नहीं हो जाता और वह अपने आन्तरिक विरोधों से मुक्त नहीं हो जाता।

मार्क्स ने हेगेल का द्वन्द्ववाद तो स्वीकार किया परन्तु उसने भौतिक तत्व के अस्तित्व को परिवर्तन का कारण माना है न कि दैवी विवेक को। उसने आत्मा के स्थान पर पदार्थ तत्व को महत्व देकर इसका

भौतिकीकरण किया है। समाज के विकास में मानव सम्बन्धों का निरूपण करने में मार्क्स हेगेल के विचारों से प्रभावित होकर इतिहास की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के रूप में करता है।

(ख) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त :

मार्क्स ने माना है कि भौतिक तत्व विकास का आधार है। यह विकास भौतिक पदार्थ में निहित आन्तरिक विरोध के कारण संचलित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद की त्रयी को लेकर आगे चलता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से यह भौतिक जगत अपनी पूर्णता की यात्रा पर अग्रसर है और उसके विभिन्न रूप उसकी इस यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। इस भौतिक जगत में प्रकृति एक सम्पूर्णता है जिसका हर पहलू एक दूसरे पर निर्भर है तथा एक-दूसरे से प्रभावित है। यह परस्पर निर्भर पदार्थ गतिशीलता रखते हैं जिसके कारण भौतिक विश्व निरन्तर परिवर्तनशील अथवा विकासशील है और अपने साथ सामाजिक जीवन में भी अनुरूप परिवर्तन लाता है। आर्थिक शक्तियां सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियाँ है और द्वन्द्ववाद के माध्यम से यह भौतिक तत्व सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को चलाते रहते हैं। परिमाणात्मक तथा गुणात्मक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पुरानी व्यवस्थाएं एक सीमा तक परिमाणात्मक परिवर्तन दिखाती हैं तथा उसके बाद क्रान्तिकारी नीति तथा शीघ्र गति से गुणात्मक परिवर्तन होते हैं। यह गुणात्मक परिवर्तन क्रान्ति का संकेत होते हैं।

इन परिवर्तनों का आधार प्रकृति के नकारात्मक तथा सकारात्मक पहलुओं के बीच पाया जाने वाला अन्त:विरोध होता है। संघर्ष के कारण समाज का विकास होता है, तथा इसके कुछ निश्चित नियम हैं :

(i) विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम

(ii) परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन के रूपान्तरण का नियम

(iii) निषेध के निषेध का नियम

(i) **विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम:** आन्तरिक विरोध विकास को संचालित करता है। जब तक विरोधी तत्व संतुलित होते है तब तक परिवर्तन नहीं होता। लेकिन जब एक तत्व दूसरे से अधिक प्रबल हो जाता है तो परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। जिस प्रकार से एक चुम्बक के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव कभी अलग नहीं होते उसी प्रकार से श्रमिक तथा पूँजीपति वर्ग एक दूसरे के विपरीत वर्ग होते हुए भी एकताबद्ध पूँजीवादी समाज का निर्माण करते हैं। विपरीतों का यह परस्पर निषेधक स्वरूप अनिवार्यत: पुरातन और नूतन के मध्य, परम्पराजनित और आधुनिक के बीच संघर्ष को जन्म देता है।

(ii) **परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन के रूपान्तरण का नियम:** द्वन्द्ववाद का दूसरा नियम है कि मात्रा में भारी अन्तर होने से गुण में भी अन्तर पड़ जाता है। सामाजिक क्षेत्र में जब इस प्रकार से सहसा एक विशेष मात्रा में परिवर्तन हो जाता है तो उसे क्रान्ति कहते हैं। मार्क्स क्रान्ति की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग करता है कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन करने वाली ये क्रान्तियां समाज के विकास में विशेष महत्व रखती हैं, ये पुरातन सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करके नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करती हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रगति के मार्ग में उत्पन्न कठिनाइयों को हटाती हैं।

(iii) **निषेध के निषेध का नियम:** भौतिक जीवन का कोई भी तत्व हमेशा कायम नहीं रहता। हर वस्तु एक समय पर अपना अस्तित्व खो देती है। पुरानी चीज के नए में बदल जाने पर उसका निषेध हो जाता है। निषेध के निषेध का नियम यह सिद्ध करता है कि विरोधी शक्तियों के टकराव से मूल चीज का निषेध हो जाता है और जो नई चीज जन्म लेती है वह उससे कहीं बढ़कर शक्तिशाली और उन्नत होती है।

(ग) इतिहास की आर्थिक व्याख्या :

इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की है। मार्क्स के पूर्व सामाजिक विकास की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने राजाओं, सेनापतियों तथा युद्धों को इतिहास का निर्माता माना था। हेगेल ने महान विचारों को सामाजिक विकास का आधार माना। इनके विपरीत मार्क्स ने कहा कि मानवीय क्रियाएं, नैतिकता, धर्म या राष्ट्रीयता से नहीं, वरन् केवल आर्थिक तत्वों से यह विकास प्रभावित होता है। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और अध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती हैं। मार्क्स ने उत्पादन के साधनों के आधार पर बदलने वाले समाज के इतिहास को पाँच युगों में बाँटा है : आदिम साम्यवादी युग, दास युग, सामन्ती युग, पूंजीवादी युग तथा साम्यवादी युग।

हर युग में उत्पादन सम्बन्ध इस बात पर आधारित होते हैं कि उत्पादन के साधनों पर किसका स्वामित्व है। स्वामित्व के स्वरूप पर भौतिक सम्पदा के वितरण का स्वरूप भी अवलम्बित होता है। चूँकि भौतिक उत्पादन सामाजिक विकास का आधार है, अत: समाज का इतिहास प्रथम उत्पादन की एक पद्धति का अधिक विकसित और उच्चतर दूसरी पद्धति द्वारा नियम नियमित स्थानग्रहण करने का इतिहास है।

प्रारम्भिक आर्थिक्र व्यवस्था एक साम्यवादी व्यवस्था थी जिसमें मनुष्य प्रकृति के साधनों पर निर्भर था। वह प्रकृति द्वारा प्रदान किए हुए फल-फूलों को खाता था या शिकार द्वारा, अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर जानवरों को मारकर खाता था। इस अवस्था में सभी मनुष्य समान तथा स्वतन्त्र थे, टकराव नहीं था तथा शासक और शासित में कोई भेद नहीं था। किन्तु मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व ने नए औजारों के निर्माण को प्रेरित किया। परिणामस्वरूप कबीले पेशों के आधार पर बँट गए और उनके बीच लड़ाइयां शुरू हो गईं। समाज मालिक और दास में बँट गया और एक ऐसे वर्ग ने जन्म लिया जो दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहता था। मालिक अपने दास को अपनी सम्पत्ति का भाग मानता था तथा उसे खरीदा तथा बेचा जा सकता था। दास के द्वारा शारीरिक श्रम के कार्य किए जाते और मालिक अपना समय आमोद-प्रमोद, विद्या, कला, राजनीति आदि में लगा सकते थे। किन्तु मालिक को दास के विद्रोह करने का भय रहता था, इस कारण उन्होंने दास को नियन्त्रित करने के लिए कानूनों का निर्माण किया।

इस व्यवस्था में अर्न्तद्वन्द्व आने के बाद सामन्ती युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग में राजा और उसके सैनिक सामन्त भूमि के मालिक होते थे। किन्तु खेतों में काम किसान करता था। इस काम के बदले में उसे जमीन का एक टुकड़ा या फसल का हिस्सा मिलता था। लेकिन उसे जमीन को छोड़कर जाने का अधिकार नहीं था। सामन्त और किसान के दो विरोधी वर्गों में समाज बँट गया। सामन्तों द्वारा किसान का शोषण हुआ लेकिन सामन्ती व्यवस्था में किसान के पास कुछ समय बच जाता था जिसका उपयोग करघे और दस्तकारी की चीजों का निर्माण करने के लिए किया जाता था। पहले इन वस्तुओं का प्रयोग अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए किया गया। फिर इनके व्यापार द्वारा व्यक्ति ने पैसे इकट्ठा करना प्रारम्भ किए। मशीनों के निर्माण के बाद सामन्ती समाज पूंजीवादी समाज में बदल गया।

पूंजीवादी समाज में महंगी मशीनों तथा बड़े कारखानों में उत्पादन होने लगा। छोटे उद्योग तथा हाथ से सामान बनाने वालों के लिए इस व्यवस्था में स्थान नहीं रहा। धीरे-धीरे यह छोटे उद्योग बड़े उद्योगों के द्वारा खरीद लिए गए तथा पूंजी कुछ ही हाथों में केन्द्रित होने लग गई। बड़े उद्योगों और आधुनिक मशीनों के कारण उत्पादन आवश्यकता से अधिक होने लगा। पूंजीवाद समाज में अनेक बुराइयों का कारण बन गया—मांग से अधिक पूर्ति, बाजारों में अधिक सामान, व्यापारिक संकट तथा रोजगार सम्बन्धी समस्याएं। इन लक्षणों ही के आधार पर मार्क्स ने माना कि पूंजीवाद के अन्दर ही अपने पतन के बीज थे। पूँजी के केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इस अवस्था में मालिक (पूंजीपति) तथा मजदूर वर्ग के बीच का संघर्ष क्रान्ति का कारण बन जाता है। यह क्रान्ति अवश्याभावी है तथा एक वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज को जन्म देती है।

कुछ समय तक एक संक्रमणकालीन युग आएगा जिसमें 'सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद' स्थापित होगा तथा उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण किया जाएगा। यह युग पूंजीवाद का अन्त करके एक साम्यवादी युग का प्रारम्भ करेगा जो कि राज्य विहीन और वर्ग विहीन होगा। इसमें वितरण का सिद्धान्त होगा—"प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।"

मार्क्स के अनुसार इतिहास की यह धारा इस अवस्था पर आकर रुक जाएगी।

(घ) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या करते समय हर युग में दो वर्गों के अस्तित्व पर बल दिया है। उसके अनुसार, समाज का विकास वर्गों के आपसी सहयोग के कारण नहीं, अपितु उनके आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है। विकास के विभिन्न चरणों में यह संघर्ष विद्यमान था—दासयुग में मालिक तथा दास के बीच, सामन्ती युग में सामन्त और किसान के बीच, पूँजीवादी युग में पूँजीवादी या बुर्जुआ और श्रमजीवी या सर्वहारा वर्ग के बीच। दो वर्ग एक दूसरे पर सदा निर्भर होते हुए भी परस्पर विरोधी हित रखते हैं। शोषणकारी कम से कम मजदूरी में ज्यादा से ज्यादा काम कराना चाहता है तथा शोषित अधिक मजदूरी चाहता है। शोषणकारी तथा शोषित का यह अनवरत संघर्ष जारी रहता है तथा परिवर्तन का आधार बनता है। इसी कारण मार्क्स का यह मानना था कि अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।

6.5 मार्क्सवादी धारणा

मार्क्स के इन मूल्य सिद्धान्तों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह दृष्टिकोण राज्य की औपचारिक संस्थाओं और संरचनाओं को बहुत कम महत्व देता है। व्यवहारवाद के उदय और प्रचलन के बाद औपचारिक संरचनात्मक व्यवस्थाओं को पाश्चात्य तुलनात्मक विश्लेषणों में भी विशेष स्थान नहीं दिया जाता है। अन्य उपागमों के विपरीत इस आधार पर किए गए तुलनात्मक अध्ययन वास्तविक राजनीतिक प्रक्रियाओं से अधिक सम्बद्ध है।

यह दृष्टिकोण विशेषत: विकासशील देशों के अध्ययन के लिए अपनाया जाता है। इसका कारण है कि विकासशील देशों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की मार्क्सवादी राज्य शक्ति, वर्ग तथा औद्योगिकीकरण की धारणाओं से अधिक अनुकूलता है और इस विश्लेषण के आधार पर उन्हें समझा जा सकता है।

इस उपागम में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि स्तर को इकाई के लिए चुनना उपयुक्त ठहराया गया है। इसकी मान्यता है कि व्यष्टि स्तर पर किए गए अनेक अध्ययनों को जोड़कर सामान्यीकरण करने का प्रयास विफल हो जाता है। हर देश में राजनीतिक व्यवहार इतने अधिक परिवर्त्यों से प्रभावित रहता है कि किसी भी व्यष्टि अध्ययन में कोई परिवर्त्य छूट जाएगा और किसी में कोई नया जुड़ जाएगा। इसलिए यह सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को इकाई या संदर्भ मानकर उसकी प्रक्रियात्मक अभिव्यक्तियों को समझने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह पाश्चात्य उपागमों की तरह होते हुए भी कुछ आधारों पर उनसे भिन्न है।

6.6 मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विशेषताएं

मार्क्सवादी विचारों तथा धारणाओं पर आधारित मार्क्सवादी दृष्टिकोण आधुनिक धारणाओं का वह भाग है जो कि विशेष तौर पर विकासशील देशों की व्याख्या के लिए उपयोगी माना जाता है। उसकी कुछ विशेषताओं का वर्णन किया गया है :

(क) प्रत्ययी स्थायित्व :

मार्क्सवादी विश्लेषण के समर्थकों ने अन्य आधुनिक उपागमों पर यह आरोप लगाया था कि उनमें

प्रत्ययी पतन हो गया था तथा उनमें प्रत्ययी क्रमिकता तथा अनुरूपता का अभाव था। मार्क्सवादी विश्लेषण ने इस कमी को दूर किया। पिछली कई दशब्दियों से इसकी प्रत्ययी व्यवस्था में स्थायित्व दिखाई देता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत प्रत्ययों जैसे 'वर्ग संघर्ष', 'राज्य', या 'सरकार' के अर्थ आज भी इसी रूप में स्वीकार किए जाते है। प्रत्यय, शब्दावली, अध्ययन का सामान्य दृष्टिकोण इसकी आदर्शी पूर्वधारणाएं और पद्धतियां सभी समय के साथ बदली नहीं है।

समय और परिस्थितियों के साथ व्याख्या में परिवर्तन आए हैं किन्तु प्रत्ययों का अर्थ बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यदि प्रत्ययों के अर्थ में समानता न हो तब तुलना करते समय गलतियाँ होने की सम्भावना रहती है। इस कारण तुलनात्मक राजनीति में सही निष्कर्ष निकालने के लिए कई कारणों से यह प्रत्ययी स्थायित्व आवश्यक होता है।

प्रथम, यह स्थायित्व प्रत्यय बुद्धिजीवियों, नीति-निर्धारकों तथा आम जनता के बीच सम्प्रेषण या संचार सम्भव बनाते हैं। शोधकर्ताओं की भाषा इससे अलग नहीं बनती और शोध का नीति-निर्धारण में उपयोग सम्भव होता है तथा नेताओं की बात जनसाधारण तक पहुंच जाती है। द्वितीय, प्रत्ययों, बौद्धिक प्रवर्गों और शब्दावली पर भ्रांति और विवाद का अभाव रहता है। तृतीय, हर शोधकर्ता के द्वारा प्रत्ययों को पुन: परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं रहती जैसा कि पाश्चात्य जगत् में होता है। चतुर्थ लाभ है कि तुलनात्मक अध्ययन-विश्लेषणों को इसके द्वारा समझना सरल हो जाता है क्योंकि विश्लेषणों की भाषा एक समान तथा सरल होती है। तथा, विवेचित घटना की सैद्धान्तिक सुविज्ञता बनी रहती है। इसके कारण सम्पूर्ण शोध प्रयत्न एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं तथा शोध से अधिक लाभ तथा व्यवस्थितता रहती है।

(ख) संघटित पद्धति

समस्त सामाजिक घटनाएं अनेक तत्वों एवं परिवर्त्यों से प्रभावित होती है। इस कारण, उनके अध्ययन के आधार पर यदि कोई निष्कर्ष निकालना हो तो इन सब तत्वों को केवल ध्यान में ही नहीं रखना होता है अपितु इनको अध्ययन में सम्मिलित भी करना होता है। इस आधार पर, मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीतिक घटनाक्रमों को समझने के लिए संघटित पद्धति या समग्रवादी पद्धति का प्रयोग करता है। विकासशील देशों में परिवर्तनों की तीव्र गति को ध्यान में रखते हुए केवल यही पद्धति उपयोगी होती है। एक व्यवस्था के इतिहास, समाज की अवस्था, अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा राजनीति को एक साथ समाहित कर के ही पूर्ण रूप से घटनाक्रम समझे जा सकते है।

(ग) ऐतिहासक दृष्टि से गत्यात्मक उपागम

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकता विचारों के आधार पर इतिहास की व्याख्या तथा आने वाले समय के लिए भविष्यवाणी की गई है। जैसा कि मार्क्स के द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में बताया गया है वर्ग संघर्ष के द्वारा समाज की गत्यात्मकता को समझने का प्रयास किया गया है तथा बताया गया है कि ऐतिहासिक विकास की प्रमुख प्रेरक शक्तियाँ विश्लेषणों से बाहर नहीं रखी जा सकतीं। इस कारण मार्क्सवादी विश्लेषण गत्यात्मक उपागम बन जाता है।

(घ) सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक ढांचा है

जैसा कि मार्क्सवादी विचारों के वर्णन में बताया गया है, मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था पर मुख्यत: प्रहार किया है तथा उसका अन्त अवश्यसंभावी बताया है। मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है किन्तु भावी साम्यवादी व्यवस्था का विश्लेषण नहीं किया है जो कि आर्थिक और सामाजिक विकास का अन्तिम चरण होगी। परिणामस्वरूप मार्क्स ने समाज की वास्तविक समस्याओं को समझकर केवल उनका विश्लेषण किया है न कि कोई आदर्श सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। समाज से सम्बन्धित व प्रासंगिक विषयों का अध्ययन तथा तुलनाएं की गई हैं ताकि वह अध्ययन उपयोगी हो और सैद्धान्तिकता के कल्पनाकोश से दूर हो सके। इस प्रकार यह विश्लेषण सामाजिक दृष्टि से एक प्रासंगिक दृष्टिकोण है।

मार्क्सवादी विश्लेषण की ये विशेषताएं यह संकेत करती हैं कि परिशुद्धता, प्राविधियों के परिष्करण वैज्ञानिकता और सैद्धान्तीकरण पर बल न देकर तुलनात्मक अध्ययनों से उपलब्ध ज्ञान की व्यावहारिकता को ही महत्वपूर्ण माना जाता है। विकासशील देशों के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त उपयोगी माना गया है।

6.7 व्यवहार में प्रयुक्तता

मार्क्सवादी विश्लेषण प्रमुखत: विकासशील देशों में तेजी से हो रहे परिवर्तनों के अध्ययन के लिए अपनाया गया था। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की तुलना अन्य राजनीतिक व्यवस्था से करने के लिए तीन आधारों पर व्यावहारिक तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

(i) तुलना का पहला आधार है अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों की संरचना, शक्ति एवं प्रभावकारिता। इन्हीं के आधार पर किसी देश में राजनीति का रूप-निर्धारण होता है। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में से कौन सा अधिक सक्रिय है अथवा कौन सा दूसरे को नियन्त्रित करने वाला है या फिर क्या एक क्षेत्र दूसरे को प्रोत्साहित करता है या सहूलियतें देता है—ये सब प्रश्न तुलनात्मक अध्ययन का पहला आधार होते हैं।

राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति, संरचनात्मक प्रतिमान व प्रक्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा शासकों के बारे में लोगों की अभिवृत्तियां, अर्थव्यवस्था में इन दोनों क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर ही निर्भर करती है। केवल ऊपरी व्यवस्थाओं तक सीमित रहने की बजाय मार्क्स गहराई में जाने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उदाहरण के लिए, अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का आधार बहुत बड़ा हो सकता है, किन्तु यह निष्क्रिय रह सकता है या वास्तव में निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित कर सकता है या उसके लिए अप्रत्यक्ष रूप से सहायता व्यवस्था कर सकता है। इस कारण तुलनाएं करते समय सावधानी रखना आवश्यक है कि जो ऊपर से दिखाई देता है केवल उसी के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए। वर्तमान के अनेक विकासशील देशों में यह देखा गया है कि राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाकर अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े भाग पर सार्वजनिक नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाता है किन्तु यह अधिकतर दिखावा होता है। वास्तविक रूप में सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित करता रहता है। इसके द्वारा अभिजन सत्ता में बने रहने का आर्थिक आधार भी बनाए रख पाते हैं तथा जनता का समर्थन प्राप्त करने का दिखावा भी कर पाते हैं।

(ii) तुलना का दूसरा आधार है शासकों की वर्ग रचना जिसके द्वारा किसी भी देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति समझी जा सकती है। जैसा कि मार्क्स के सिद्धान्तों का वर्णन करते समय बताया गया था, मार्क्स वर्ग के आधार पर समाज को सदा ही बँटा हुआ मानता है। मार्क्स द्वारा दिए हुए इन आधारों पर ही यह देखना आवश्यक होता है कि शासक समाज के किस वर्ग से सम्बन्धित हैं—जैसे कि शासक वर्ग सामन्ती या बुर्जआ प्रकार का है कि जनसाधारण से सम्बन्धित है। वह प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी? वह विदेशी पूँजी पर आश्रित रहता है अथवा नहीं? इन प्रश्नों के उत्तर ही राजनीतिक व्यवस्था के संचालन को प्रभावित करते हैं।

विकासशील देशों के अध्ययन के समय जब इस आधार को अपनाया जाता है तब यह तथ्य सामने आता है कि शासक वर्ग सम्पूर्ण समाज में से भर्ती नहीं होता है इसके फलस्वरूप, अनेक समस्याएं एवं सामाजिक पेचीदगियाँ जन्म लेती हैं। समय-समय पर यहाँ चुनाव होते हैं तथा राजनीतिक दल भी बदलते हैं परन्तु शासक वर्ग हमेशा प्रतिक्रियावादी, विदेशी पूँजी पर आश्रित तथा धनिक वर्ग ही रहता है। इसके कारण विकासशील देशों में सदैव आवश्यक दबाव व तनाव की स्थिति रहती है। राजनीतिक शिक्षण, जागरूकता और संचार साधनों से सम्भव हुई सम्पर्कता के कारण विकासशील राज्यों में जनसाधारण राजनीतिक प्रक्रियाओं में सही अर्थों में सहभागिता प्राप्त करना चाहता है, किन्तु शासक वर्ग इसमें बाधाएं डालता है और इससे अनेकों अन्य समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार से शासकों की वर्ग रचना के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को समझा जा सकता है।

(iii) तीसरा आधार जो राजनीतिक व्यवस्था को समझने में सहायक होता है—अर्थव्यवस्था की प्रकृति

अर्थात् औद्योगीकरण की मात्रा, सर्वहारा वर्ग का आकार तथा औद्योगिक और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आपसी सम्बन्ध जैसा कि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया है कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में स्वयं के विनाश के बीज निहित रहते हैं। यह एक दिन असन्तोष तथा क्रान्ति का कारण बनती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह माना जाता है कि औद्योगीकरण की अधिक मात्रा वाले राज्य में अधिकाधिक व्यक्ति राजनीतिक सहभागिता की मांग करने लगते हैं। इस प्रकार के राज्य में, औद्योगीकरण से राजनीतिक शिक्षण इस स्तर तक पहुंच जाता है कि इस प्रकार के जागरूक व्यक्ति राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक क्रियाओं तथा राजनीतिक सत्ता में सहभागी होना चाहते हैं। अगर राजनीतिक व्यवस्था में इनकी सहभागिता की व्यवस्था नहीं हो पाती है तो वह व्यवस्था को तोड़ने वाले तत्व बन जाते हैं। इसको ध्यान में रखते हुए तुलना करनी होती है।

उसी प्रकार से सर्वहारा वर्ग का आकार आर्थिक व्याख्या की प्रकृति का स्पष्टीकरण करता है तथा यह भी संकेत देता है कि राजनीतिक शक्ति को किस प्रकार की चुनौतियां मिलती हैं। इसमें अनेक पहलुओं को सम्मिलित करना होता है। यह देखना आवश्यक है कि वर्ग संगठित है अथवा नहीं तथा यदि संगठित है तब उसके नेताओं का वर्ग आधार कैसा है अत: सर्वहारा वर्ग को अनेक आधारों पर आंका जाना चाहिए ताकि सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में दो समानान्तर अर्थव्यवस्थाओं का होना इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि इन दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं का आपसी सम्बन्ध होता है। औद्योगिक तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पारस्परिकता रहते हुए भी अन्तर्निहित विरोधाभास उत्पन्न हो जाते हैं या वह सतह पर उभर आते हैं। यह 'ग्रामीण बनाम शहरी' की समस्या के उदय का कारण बन सकता है। इस पहलू को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करना आवश्यक होता है।

इन तीन आधारों के द्वारा मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था को अर्थव्यवस्था के आधार पर समझने का प्रयास करता है तथा इस पर आधारित तुलनाएं राजनीतिक प्रक्रियाओं को पूर्णत: समझने में सहायक होती हैं। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन को अलग-अलग भागों में बाँटा नहीं जा सकता, उसी प्रकार समाज, अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था भी एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इस कारण संघटक पद्धति ही अध्ययन विश्लेषण में सहायक होती है। मार्क्सवादी विश्लेषण का समग्रवादी दृष्टिकोण इसी कारण विकासवादी व्यवस्थाओं को समझने तथा तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में उपयोगी माना गया है।

विकासशील देशों की आपसी तुलना करते समय यदि इस दृष्टिकोण का उपयोग किया जाता है तो कुछ निम्नलिखित मापदण्ड या मानदण्डों को अपनाया जा सकता है :

(क) राज्य विशेष के अ-उपनिवेशीकरण के आन्दोलन के सम्बन्ध में विश्व ऐतिहासिक व्यवस्था।

(ख) राज्य के पश्चिमी साम्राज्यवादियों या साम्यवादियों से सम्पर्क व सम्बन्ध।

(ग) राज्य की राजनीतिक सत्ता की वर्ग-रचना के संदर्भ में सामाजिक विशेषता।

(घ) शासन या सरकारी संरचना की प्रकृति इस रूप में कि यह निजी आर्थिक क्षेत्र की नियंत्रक है या उसके द्वारा नियंत्रित रहती है।

(च) देश की विदेश नीति, विशेषकर 'तीनों विश्वों' के राज्यों के साथ सम्बन्धों में किस 'विश्व' के राज्यों से अधिक समीपता, सम्पर्कता तथा उस पर आश्रितता है।

(छ) अर्थव्यवस्था के विकास का देश में स्तर और स्थिति व विकास की गति तथा दिशा। और

(ज) कृषि व ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादन का ढंग।

इस प्रकार से जब सम्पूर्णता को ध्यान में रखकर चला जाता है तो मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाने से तुलनात्मक अध्ययनों में यथार्थवादी निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं।

6.8 उपागम की उपयोगिता

मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्थाओं, विशेषकर, विकासशील देशों की गत्यात्मक शक्तियों को समझने में बहुत उपयोगी रहा है। यह दृष्टिकोण सामाजिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक शक्तियों को एक साथ लेकर राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करता है। यह उन सभी तथ्यों को ध्यान में रखता है जो परोक्ष या अपरोक्ष रूप में राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, चाहे वह सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में विद्यमान हो।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण समझ प्रदान करने में समर्थ हैं क्योंकि यह एक साथ अनके पहलुओं को देखता है न कि सभी पहलुओं को एक-एक कर के। विशेष तौर से यह विकासशील देशों के सम्बन्ध में उपयोगी है क्योंकि यहाँ घंटनाक्रम तेजी से बदलता है। विकसित राज्यों की व्यवस्था में स्थायित्व पाया जाता है तथा उनके अध्ययन के लिए प्रयोग किए जाने वाले उपागम विकासशील देशों के लिए उपयोगी नहीं होते हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का एक अन्य लाभ यह है कि इसके प्रत्ययी स्थायित्व के कारण शोध तथा तुलनात्मक विश्लेषण अधिक व्यवस्थित बन जाता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों में हुए शोध कार्य को संश्लेषित करके निष्कर्ष निकालना सम्भव हो जाता है। साथ ही शोध नीति-निर्माण में भी सहायक होता है।

वर्तमान को समझने के लिए ऐतिहासिक विकास का आधार अपनाना भी इस दृष्टिकोण का एक प्रमुख योगदान है। इतिहास के अध्ययन के महत्व को इस उपागम ने भली-भांति स्वीकार किया है।

6.9 सारांश

मार्क्सवादी विश्लेषण विकासशील देशों के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण उपागम है जो कि साम्राज्यवादी शोषण के परिप्रेक्ष्य में एशिया-अफ्रीका के देशों के आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक परतन्त्रता को समझने का प्रयास करता है। यह उपागम वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील है। यह एक ऐसे भावी समय की कल्पना करता है जो वर्ग संघर्ष से ऊपर उठकर महान मानवीय मूल्यों (ह्यूमन वैल्यूस) को जन्म देगा। इस प्रकार यह सामाजिक विकास के द्वारा एक आदर्श अवस्था तक जाने की कल्पना करता है। किन्तु इसकी यह कमजोरी है कि यह एक विचारधारा में परिवर्तित हो गया है। इसके परिणामस्वरूप यह व्यक्ति के ऊपर अपने दृष्टिकोण का दबाव बनाए रखता है। अपनी कमजोरी के बावजूद यह सिद्धान्त परम्परागत उपागमों की उपयोगिताओं को आधुनिक उपागमों की विशेषता के साथ जोड़ने में सफल रहा है।

6.10 उपयोगी पुस्तकें

1. आमण्ड, गेब्रियल : ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस
2. ऐपटर : इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस
3. बॉल, ए० आर : मॉडर्न पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेन्ट
4. बेरी, कोलिन : ऑन ह्यूमन कम्यूनिकेशन
5. कोकर, फ्रान्सिस : रीसेन्ट पोलिटिकल थौट
6. एंगेल्स, फ्रेडरिक : वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका
7. गैना, एस : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं
8. गौतम, ब्रजेन्द्र प्रताप : समाजवादी चिंतन का इतिहास
9. ग्रे, एलिक्जैन्डर : द सोशलिस्ट ट्रडिशन - मोसिस टू लेनिन

10. हाल, ए और फेमन : डेफिनीशन ऑफ ए सिस्टम्
11. होल्ट, रॉबर्ट टी और टरनर, जॉन ई : द पोलिटिकल बेसिस ऑफ इकोनोमिक डेवेलपमेन्ट
12. ईस्टन, डेविड : पोलिटिकल सिस्टम : एन इन्क्वाइरी इनटू द स्टडी ऑफ पोलिटिकल साइन्स
: द सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ
13. जौहरी, जे०सी० : तुलनात्मक राजनीति
14. महेश्वरी, श्रीराम : तुलनात्मक राजनीति
15. वर्मा, एस०पी० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
16. वर्मा, एस०एल० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
17. वेपर, सी०एल० : पोलिटिकल थाट
18. यंग, ओरन : सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइंस

6.11 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वर्ग संघर्ष से मार्क्स का क्या अर्थ है?
2. इतिहास की व्याख्या मार्क्स ने किस आधार पर की है?
3. साम्राज्यवाद पूंजीवाद का आखिरी चरण क्यों कहलाता है?
4. द्वन्द्ववाद से क्या तात्पर्य है?
5. मार्क्सवादी विश्लेषण किस प्रकार की व्यवस्था पर ज्यादा उपयुक्त सिद्धान्त प्रस्तुत करता है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मार्क्सवादी विश्लेषण एक वैज्ञानिक उपागम है। सत्यापित कीजिए।
2. मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था को किस आधार पर समझने का प्रयास करता है।
3. विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए किस उपागम को अपनाया गया?
4. दूसरे विश्वयुद्ध के बाद मार्क्सवादी विश्लेषण क्यों विकसित हुआ?
5. मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मार्क्सवादी विश्लेषण किन देशों की व्याख्या के लिए उपयोगी है?
   (क) तीसरे विश्व के देश (ग) अमेरिका के सहयोगी
   (ख) विकसित देश (घ) रूस के सहयोगी
2. मार्क्स ने किस विचारक के सिद्धान्त को अपनाकर सुधारा था?
   (क) लाक्स (ग) ह्यूम (ख) एंगेल्स (घ) हेगेल
3. इतिहास की आर्थिक व्याख्या किस विचारक के द्वारा प्रस्तुत की गई?
   (क) आमण्ड, पावेल (ग) कार्ल मार्क्स
   (ख) एस०पी० वर्मा (घ) औरन यंग

4. द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के तीन अंग है :

(क) वाद, प्रतिवाद, संचार (ग) प्रतिवाद, संश्लेषण, प्रतिमान

(ख) वाद; प्रतिवाद, संवाद (घ) इतिहास, प्रतिवाद, वाद

6.12 प्रश्नोत्तर

1. (क) 2. (घ) 3. (ग) 4. (ख)

NOTES

NOTES

खंड

3
शासन के रूप

इकाई 7

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियाँ 5

इकाई 8

एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणालियाँ 18

इकाई 9

प्रजातंत्र एवम् तानाशाही 30

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-03 :– *तुलनात्मक राजनीति*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः डॉ. सतीश कुमार, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 3 इकाई

खण्ड दोः डॉ. मानुका खन्ना, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीनः डॉ. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चारः डॉ. राजीव सरन, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड पाँचः प्रो. सी.बी. सिंह, (अ.प्रा.) राजनीतिक विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

MAPS-03/82

खण्ड तीन का परिचय : शासन के रूप

प्रस्तावना

राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य है। राज्य की एक आवश्यक आवश्यकता सरकार है। प्राचीन समय से ही राज्यों का वर्गीकरण तथा सरकारों या शासनों का वर्गीकरण राजनीतिक विचारकों के लिए विचारणीय रहा है। वर्तमान समय में संवैधानिक व्यवस्थाएं भी राज्यों की अपरिहार्यताएं बन चुकी हैं, इसीलिए प्रत्येक राज्य अपने लिए एक संविधान का निर्माण आवश्यक रूप से करता है। राजनीति के विचारकों के लिए यह विषय भी चर्चित रहा है कि हम राज्यों को वर्गीकृत करें, शासनों को वर्गीकृत करें अथवा संविधानों को वर्गीकृत करें। प्राय: प्राचीन काल से ऐसे सभी वर्गीकरणों के जितने भी प्रयास किए गए हैं उन्हें विशुद्ध रूप से उपर्युक्त में से किसी एक वर्गीकरण के रूप में नहीं देखा जा सकता।

यह भी देखा गया है कि राज्यों तथा शासनों के वर्गीकरण को क्रमश: प्राचीन तथा आधुनिक वर्गीकरण के रूप में विभाजित किया जाता है। परन्तु यह आधार बहुत सार्थक नहीं प्रतीत होता क्योंकि वर्गीकरण में जिन व्यवस्थाओं की पहचान कराई जाती है उन्हें व्यवहार में सभी युगों में देखा जा सकता है। कदाचित् यह सारे वर्गीकरण राज्यों तथा शासनों के लिए समानार्थी भी दिखाई पड़ते हैं। राजनीति विज्ञानियों में विलोबी, गिलक्राइस्ट तथा गार्नर जैसे विद्वान इसे शासनों का वर्गीकरण मानते हैं तो लीकॉक इसके लिए राज्यों अथवा संविधानों के वर्गीकरण की शब्दावली को उचित ठहराते हैं।

उद्देश्य

इस खण्ड का उद्देश्य तुलनात्मक राजनीति के विषय की विषय वस्तु के अंतर्गत शासनों के रूपों का अध्ययन करना है। इस उद्देश्य से इसमें हमें क्रमश: संसदीय एवं अध्यक्षात्मक, एकात्मक एवं संघात्मक तथा प्रजातांत्रिक एवं तानाशाही शासन प्रणालियों का अध्ययन करना है, परन्तु यह इस उद्देश्य के लिए समीचीन होगा कि इस वर्गीकरण को जिस स्रोत में देखा जा सकता है उसे जाना जाए।

लीकॉक ने अपने वर्गीकरण को दर्शाते हुए राज्यों को क्रमश: दो श्रेणियों तानाशाही तथा प्रजातांत्रिक में विभक्त किया है। प्रजातांत्रिक राज्यों को वह क्रमश: सीमित राजतंत्र तथा गणतंत्र इन दो रूपों में देखता है। इनको वह क्रमश: एकात्मक और संघात्मक इन दो रूपों में विभाजित करता है और फिर इनमें से प्रत्येक को क्रमश: संसदीय और असंसदीय राज्यों के रूप में देखता है। (टेबल संख्या-1 देखें)

टेबल-1

लीकॉक का वर्गीकरण

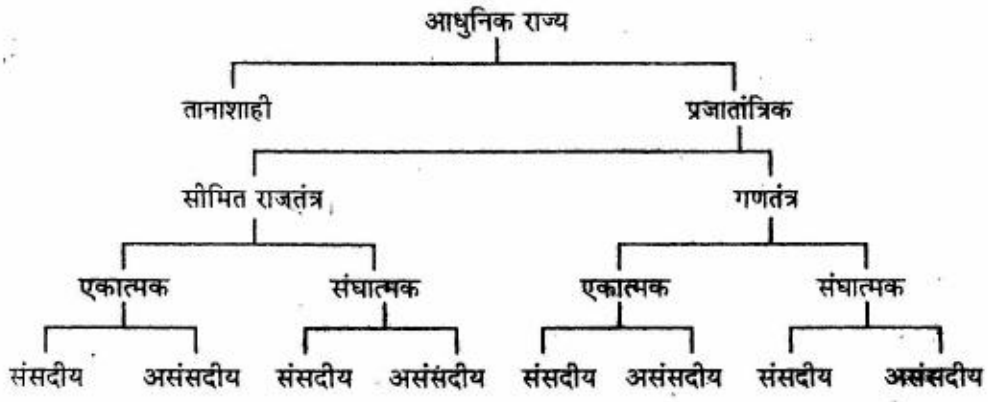

ब्राइस, जेंक्स, स्ट्रांग तथा मैरियट जैसे विद्वान आधुनिक राज्यों के वर्गीकरण में पहला आधार राज्यों के क्रियाक्षेत्र की अवधारणा को मानते हैं और इस आधार पर उन्हें क्रमशः उदारवादी (प्रजातांत्रिक) तथा सर्वाधिकारवादी (साम्यवादी तथा फासीवाद) दो श्रेणियों में रखते है। इनके विभाजन का दूसरा आधार राजनीतिक संगठन की प्रकृति है जिसे वे छह रूपों में देखते हैं और प्रत्येक रूप के अंतर्गत दो तरह से राज्यों को दर्शाते हैं। इस क्रम में पहला आधार राज्य की प्रकृति है जिसके अंतर्गत राज्य क्रमशः एकात्मक और संघात्मक कहलाते हैं जो राज्यों की शासन प्रणालियों को भी दर्शाते हैं। दूसरा आधार संविधान की प्रकृति है जो क्रमशः संविधान के लचीलेपन और कठोरता इन दो रूपों को व्यक्त करता है। तीसरा आधार निर्वाचक मण्डलों की प्रकृति का है साथ ही इसके तरीकों की भी पहचान कराता है। चौथे, पाँचवें तथा छठे आधार के रूप में क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की प्रकृति को रखा गया है और इनके आधार पर राज्यों को वर्गीकृत किया गया है। कार्यपालिकाओं की प्रकृति के आधार पर राज्यों को क्रमशः संसदीय एवं असंसदीय इन दो रूपों में दर्शाया गया है। (देखें टेबल संख्या-2)

टेबल-2

ब्राइस, जेंक्स व मैरियट का वर्गीकरण

	वर्गीकरण का आधार	अ	ब
I	राज्य की क्रिया क्षेत्र की अवधारणा	उदारवादी	सर्वाधिकारवादी (i) साम्यवादी (ii) फासीवादी
II	राजनीतिक संगठन की प्रकृति		
	1. राज्य का स्वरूप	एकात्मक	संघात्मक
	2. संविधान का स्वरूप	लचीला	कठोर
	3. निर्वाचक मंडल का स्वरूप	(i) वयस्क मताधिकार (ii) एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र	(i) सीमित मताधिकार (ii) बहुल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र
	4. व्यवस्थापिका का स्वरूप	द्विसदनात्मक (a) निर्वाचित या आंशिक रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन (b) गैर निर्वाचित द्वितीय सदन	एकसदनात्मक
	5. कार्यपालिका का स्वरूप	संसदीय	गैर संसदीय
	6. न्यायपालिका का स्वरूप	कानून का शासन	प्रशासकीय कानून

इकाई 7 : संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियाँ

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संसदीय शासन प्रणाली

- 7.2.1 संसदीय शासन की विशेषताएं
- 7.2.2 संसदीय शासन के गुण
- 7.2.3 संसदीय शासन के दोष

7.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली

- 7.3.1 अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ
- 7.3.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण
- 7.3.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष

7.4 सारांश

7.5 उपयोगी पुस्तकें

7.6 सम्बन्धित प्रश्न

7.7 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- संसदीय शासन प्रणाली की व्याख्या कर सकेंगे।
- अध्यक्षात्मक शासन की व्याख्या कर सकेंगे।
- उक्त शासनों के गुण दोषों की समीक्षा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

शासन के राजनीतिक अंगों — व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के मध्य संबंधों के आधार पर शासन प्रणालियों को क्रमश: संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों के रूप में विभक्त किया जाता है। जहाँ पर इन दो अंगों के मध्य घनिष्ठ संबंध पाया जाता है, कार्यपालिका का चुनाव व्यवस्थापिका के सदस्यों में से किया जाता है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी एवं जवाबदेह होती है वहाँ शासन संसदीय कहलाता है। इससे भिन्न जहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक होती है, दोनों के मध्य शक्ति पृथक्करण होता है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती वहाँ शासन प्रणाली को अध्यक्षात्मक कहा जाता है। आधुनिक शासन प्रणालियों के विकास क्रम में इन दो शासन प्रणालियों के आदर्श प्रतिमान हमें क्रमश: ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में देखने को मिलते हैं। ब्रिटेन में हम एक विकसित पर अलिखित संविधान देखते हैं जिसे सभी संविधानों का जनक भी कहा जाता है, इससे भिन्न संयुक्त राज्य अमेरिका ने समकालीन जगत में सर्वप्रथम लिखित संविधान को अपनाने की प्रक्रिया को जन्म दिया। स्पष्ट है कि शासन प्रणालियों के संसदीय तथा अध्यक्षात्मक रूपों की विवेचना इन दो संविधानों तथा शासन प्रणालियों के विवेचन से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है।

7.2 संसदीय शासन प्रणाली

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है संसदीय शासन प्रणाली की पहचान शासन के कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका रूपी अंगों के मध्य संबंधों के आधार पर की जाती है। संसदीय शासन के अंतर्गत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य घनिष्ठ संबंध विद्यमान रहते हैं। यह एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका का कार्यकाल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर करता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ही चुनी जाती है और व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। संसदीय शासन की परिभाषा करते हुए **गार्नर** ने लिखा है कि ''यह वह प्रणाली है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल या मंत्रिपरिषद्) अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिए प्रत्यक्षतः तथा कानूनी दृष्टि से व्यवस्थापिका अथवा इसके एक अंग (जो आमतौर से अधिक जनतंत्रीय सदन होता है) के प्रति उत्तरदायी होती है जबकि नाममात्र की कार्यपालिका (राज्याध्यक्ष) अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति में रहती है।'' वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमण्डल में निहित रहने के कारण इस प्रणाली को कैबिनेट प्रणाली अर्थात् मंत्रिमण्डलीय शासन भी कहा जाता है।

संसदीय शासन प्रणाली का विकास ब्रिटेन में अठारहवीं शताब्दी में 'हैनोवर काल' में देखा जाना चाहिए जब राजाओं ने अपने सलाहकारों के रूप में मंत्रियों की नियुक्ति करना प्रारंभ किया। इसी क्रम में सर राबर्ट वालपोल ने स्वयं को प्रधानमंत्री के रूप में नाम निदेशित किया और मंत्रियों द्वारा सदन का विश्वास खो देने पर अपने पदों से त्यागपत्र देने की परम्परा भी स्थापित हुई। राजनीतिक दलों के संगठित रूप में उभर जाने तथा संसदीय चुनाव के दलीय आधार पर संपन्न होने की प्रक्रिया के साथ ही मंत्रिमण्डल के संसद में बहुमत प्राप्त दल में से चुने जाने की परम्परा का भी प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन में विकसित यह संसदीय प्रणाली विश्व भर में अन्य राज्यों के लिए उनके द्वारा अपनायी जाने वाली संसदीय शासन प्रणालियों का आधार बनी।

7.2.1 संसदीय शासन की विशेषताऐं

संसदीय शासन की विशेषताओं को निम्नांकित बिंदुओं में रखा जा सकता है :

(1) **एक नामधारी राज्याध्यक्ष का होना**— यह संसदीय शासन की पहली आवश्यकता है। शासन की कार्यपालिका शक्ति, भले ही वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमण्डल द्वारा प्रयोग की जाती हो पर इसका प्रयोग राज्याध्यक्ष के नाम पर किया जाता है। कानूनी रूप से मंत्रिमण्डल की नियुक्ति ही करता है जो इसे पदच्युत भी कर सकता है पर राजनीतिक व्यवहार यह है कि मंत्रिमण्डल को व्यवस्थापिका के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए साथ ही यह भी कि ऐसे बहुमत के रहते मंत्रिमण्डल का राज्याध्यक्ष द्वारा पदच्युत किया जाना असंभव है।

(2) **समूहिक उत्तर दायित्व**—संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका को निर्मित करने वाला मंत्रिमण्डल संसद के प्रति (व्यवहार में जनप्रिय सदन के प्रति) सामूहिक रूप से उत्तरदायी कहा जाता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य एक साथ तैरते और एक साथ डूबते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' हैं। मंत्रिमंडलीय नीतियां एक बार तय हो जाने के बाद जब संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाती है तो मंत्रिमंडल एकजुट हो जाता है और विधायिका के अंदर किसी भी विरोध का एक टीम की तरह मुकाबला करता है। मंत्रिमण्डल के सामूहिक निर्णय से विरोध रखने वाले मंत्री या तो अपना पद छोड़ें अथवा निर्णय हो जाने के बाद उससे अपनी सहमति जताएं। संसदीय शासन प्रणालियों के अंतर्गत ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं जैसे ब्रिटेन में 1938 में एन्थोनी ईडन द्वारा प्रधानमंत्री चेम्बरलेन की विदेश नीति से सहमति न रखने पर त्यागपत्र दे दिया जाना या फिर भारत में सी.डी. देशमुख द्वारा बम्बई के भविष्य के प्रश्न पर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से सहमति न रखने पर त्यागपत्र दे दिया जाना।

(3) **वैयक्तिक उत्तरदायित्व**—मंत्रिमण्डल के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व का एक पक्ष वैयक्तिक रूप से मंत्रियों का, जो कि किसी विभाग विशेष के प्रभारी होते हैं, विभागीय कार्यों के कुशल संचालन हेतु उत्तरदायी होना है। इसका अर्थ यह है कि विभागीय प्रशासन की कार्यकुशलता तथा उसके लिए जवाबदेही विभागीय मंत्री की है और किसी भी तरह की अनियमितता, अकुशलता तथा लापरवाही हेतु वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। प्रायः ऐसे मामलों में व्यवस्थापिका के द्वारा व्यक्तिगत मंत्रियों के त्यागपत्र दिए जाने की मांगें भी की जाती है। ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं जब मंत्रियों द्वारा व्यक्तिगत जिम्मेदारी लेते हुए मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दिए गए।

(4) **राजनीतिक सजातीयता**— संसदीय शासन लोकतंत्रात्मक राज्यों की एक प्रणाली है चूँकि आधुनिक लोकतंत्र प्रतिनिध्यात्मक हैं अतः जनप्रतिनिधि दलीय आधार पर जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों के रूप में चुने जाते हैं। इसका यह भी आशय है कि राजनीतिक दल जनतंत्र की अनिवार्यताएं है। इन्हें जनतन्त्र के वाहनों के रूप में देखा जा सकता है। दलों द्वारा आम निर्वाचनों में जनता से दलीय कार्यक्रमों, नीतियों, विचारधाराओं, घोषणाओं आदि के आधार पर जनादेश मांगा जाता है और जनता द्वारा बहुमत से चुने गये राजनीतिक दल को सरकार बनाने की वैधानिक, लोकतांत्रिक तथा नैतिक अधिकार प्राप्त होता है। विधायिका में बहुमत प्राप्त दल का नेता प्रधानमंत्री नियुक्त होता है जो अपने ही दल के सदस्यों में से अपना मंत्रिमण्डल निर्मित करता है इसलिए मंत्रिमण्डल में राजनीतिक सजातीयता पायी जाती है। परन्तु एक दल विशेष द्वारा बहुमत प्राप्त न किए जाने की स्थिति में मिले जुले या साझा मंत्रिमण्डल बनाए जाने की स्थितियाँ भी प्रायः देखी जा सकती है। इस संबंध में भारत में 1989 के बाद विशेष रूप से ऐसे उदाहरण सामान्य नियम से बन गए हैं।

(5) **प्रधानमंत्री का नेतृत्व**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रधानमंत्री कैबिनेट का नेता होता है वह मंत्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला होता है। उसकी स्थिति को विद्वानों द्वारा कई रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। उसे **'नक्षत्रों में चन्द्रमा'**, **'सौरमण्डल के ग्रहों में सूर्य'**, **'समकक्षों में प्रथम'** आदि कई नामों से पुकारा गया है। वस्तुतः प्रधानमंत्री की स्थिति मंत्रिमण्डल में केंद्रीय होती है। **लास्की** ने तो लिखा है कि "प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल के निर्माण, जीवन तथा मरण में केन्द्रीय है।" राज्याध्यक्ष द्वारा मंत्रिमण्डल का निर्माण करते समय सर्वप्रथम प्रधानमंत्री को नियुक्त किया जाता है। तदुपरान्त प्रधानमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त किया जाता है। यह भी स्मरणीय है कि राज्याध्यक्ष के पास प्रधानमंत्री की नियुक्ति करते समय अपने स्वविवेक के प्रयोग का बहुत ही सीमित अधिकार प्राप्त है। प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों के चयन तथा उनके मध्य विभागों के वितरण में विशेषाधिकार का प्रयोग करता है। उसके चयन पर कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। वह संसदीय दल का नेता होता है, मंत्रिमण्डल का नेता होता है, आम चुनाव में उसकी छवि ही उसके दल की जीत अथवा हार का कारण होती है तथा उसके द्वारा पदत्याग देने पर मंत्रिमण्डल स्वयं ही भंग हो जाता है।

(6) **संसद की सदस्यता की अनिवार्यता**—संसदीय शासन में मंत्रिपरिषद के सदस्यों के लिए संसद की सदस्यता का होना एक अनिवार्यता है। यहाँ उन्हें विधायिकाओं की बहसों में भाग लेने का आधार प्रस्तुत करती है और इसी के कारण संसद उनके ऊपर नियंत्रण भी स्थापित करती है। इसीलिए मंत्रिपरिषद के सदस्य संसद सदस्यों में से ही लिए जाते हैं तथा ऐसा न होने की स्थिति में उनके लिए एक निश्चित समयावधि में (जो कि भारत में छह माह है) संसद के किसी एक सदन की सदस्यता प्राप्त करना अनिवार्य है।

(7) **कार्यप्रणाली की गोपनीयता**—इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ मंत्रिमण्डल एक सजातीय टीम के रूप में कार्य करता है वहीं उसके द्वारा शासन के दायित्वों का निर्वहन करने से पूर्व पद तथा गोपनीयता की शपथ भी ली जाती है। गोपनीयता का आशय यह है कि मंत्रिमण्डल के सदस्य अवांछित एवं गैर-प्राधिकार प्राप्त व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के सम्मुख शासन की नीतियों का

खुलासा नहीं करेंगे। आधुनिक संदर्भों में शासन की नीतियों में गोपनीयता का महत्व और अधिक बढ़ गया है विशेषकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते तथा जटिल परिवेश के संदर्भ में। सामान्य प्रशासन में भी बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ गोपनीयता एक आवश्यक शर्त बन जाती है। उदाहरण के लिए बजट जिसे संसद में पेश किए जाने से पूर्व एक गोपनीय नीतिगत प्रस्ताव के रूप में देखा जा सकता है।

(8) **एक सुदृढ़ तथा प्रभावशाली विरोधी दल का होना**—जनतंत्र एवं संसदीय शासन की कल्पना एक सशक्त विरोधी दल के अभाव में नहीं की जा सकती है। एक प्रजातांत्रिक राज्य का जीवन दल प्रणाली पर आधारित होता है। संसदीय शासन में एक दल शासन करता है और अन्य दल विरोधी दलों की भूमिका अदा करते हैं। विरोधी दल में एक छाया मंत्रिमण्डल को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है जो एक वैकल्पिक सरकार देने के लिए उपलब्ध रहता है। एक सशक्त विरोधी दल के अभाव में शासन के ऊपर विधायी नियंत्रण संभव नहीं है। विरोधी दल अपने पास उपलब्ध विधायी नियंत्रण रूपी सभी अस्त्रों के माध्यम से शासन को स्वेच्छाचारी होने से बाधित करता है तथा शासन की मनमानी, स्वेच्छाचारिता तथा तानाशाही प्रवृत्तियों पर रोक लगाता है।

7.2.2 संसदीय शासन के गुण

संसदीय शासन की विश्वव्यापी लोकप्रियता उसमें विद्यमान ऐसे गुणों के कारण है, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(1) **कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य एकरसता**—यह शासन सरकार के कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका अंगों के मध्य एकरसता बनाए रखता है। वस्तुत: इस शासन में मंत्रिमण्डल व्यवस्थापिका की एक समिति जैसा होता है। मंत्रिमण्डल तथा विधानमण्डल के बीच संघर्ष के कारण बहुत सीमित रहते हैं। **विलोबी** ने इस बात पर बल दिया है कि इस व्यवस्था में शक्तियां एकजुट होती हैं और उत्तरदायित्व एक एकल अंग में निहित रहता है। अत: उत्तरदायित्व, निर्देशन तथा शक्ति की एकता बनी रहती है।

(2) **शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण**—संसदीय शासन में शक्ति प्राप्त मंत्री संसद के सतत् नियंत्रण में बने रहते हैं। क्योंकि संसद के पास मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण स्थापित करने के कई साधन होते हैं जैसे संसदीय प्रश्न, कटौती प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव, निन्दाप्रस्ताव कार्यस्थगन प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव उपलब्ध होते हैं। अत: मंत्रिमण्डल विधानमण्डल की निगरानी में कार्य करता है। अविश्वास प्रस्ताव उसे शासन से पदच्युत भी कर सकता है।

(3) **उत्साही लोगों का शासन**—यह शासन प्रणाली उत्साही लोगों के लिए शासन के पदों तक पहुँचने का अवसर प्रदान करती है। यह शासन ऐसे योग्य व्यक्तियों का शासन है, जो अपने राजनीतिक कौशल और राजनीतिक सामान्य बुद्धि तथा प्रतिभा से शासन सत्ता तक पहुँचते हैं। **लास्की** ने संसदीय शासन के इस गुण को बहुत अधिक प्रशंसनीय कहा है। उसके विचार से यह उच्च राजनीतिक चरित्र तथा प्रतिभा को प्रमाणित करता है साथ ही यह वाक्चातुर्य तथा प्रशासनिक अंतर्दृष्टि का भी मापन है।

(4) **शासन में कुशलता बनाए रखना**—विधायिका तथा कार्यपालिका का तालमेल शासन की कुशलता का उत्तम साधन है। कार्यपालिका अपनी नीतियों को लागू करने, विधि निर्माण तथा वित्तीय साधनों के लिए व्यवस्थापिका पर निर्भर रहती है। इस शासन में कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं अत: अपने उपक्रम द्वारा विधायिका से सुविधानुसार विधि निर्माण अथवा वित्तीय स्वीकृति करा लेते हैं। इसका परिणाम शासन में कार्य कुशलता होता है। **डायसी** ने कहा है कि इस पद्धति का आधार ही कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका शक्तियों का सम्मिश्रण और उनके मध्य समन्वयित संबंधों को बनाए रखना है। इसी प्रकार **गार्नर** ने भी माना है कि प्रारंभ से अंत तक एक ओर विधि निर्मात्री तथा वित्तीय स्वीकृति देने वाली सत्ता तथा दूसरी ओर

विधि को कार्यान्वयित करने वाली तथा धन का उपयोग करने वाली सत्ता के मध्य पूर्ण एवं समन्वयित सहचार बना रहता है।

(5) **लोकतंत्र के विकास तथा प्रचार हेतु उत्तम व्यवस्था**—लोकतांत्रिक व्यवस्था सहमति तथा वाद-विवाद पर आधारित व्यवस्था है। संसदीय शासन में जनप्रतिनिधि कार्यपालिका तथा विधायी अंगों में कार्यरत रहते हैं। अत: सभी शासन संबंधी प्रश्नों पर वे विचार, परिचर्चा तथा वाद-विवाद करते हैं। अंतिम निर्णय प्रतिनिधियों की सहमति तथा बहुमत के नियम के आधार पर लिए जाते हैं। विविध संचार साधन जनता तक संसदीय चर्चाओं तथा वाद-विवादों को पहुँचाते हैं साथ ही वे जन-प्रतिक्रियाओं से शासन को भी परिचित कराते हैं। इस तरह यह व्यवस्था लोकतंत्र की भावना के विकास की उत्तम व्यवस्था है। स्मरणीय है कि लोकतंत्र में जनमत की शक्ति ही संप्रभु होती है। अत: जनप्रतिनिधि जनता की आकांक्षाओं तथा जनहित की उपेक्षा करने का दुस्साहस नहीं कर सकते।

(6) **शासन में लचीलापन**—एक लोचपूर्ण शासन से अभिप्राय उस शासन से है, जो समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल सरलता से शासन संगठन तथा प्रणाली में परिवर्तन करने में सक्षम हो। संसदीय शासन में यह गुण सदैव मौजूद रहता है। क्योंकि इस व्यवस्था में मंत्रिमण्डल को बदलना कठिन नहीं है साथ ही कार्यपालिका और विधायिका के मध्य सहयोग न होने पर विधायिका को भंग करके नए चुनाव कराने का विकल्प मौजूद रहता है। इस शासन में इसके अतिरिक्त यह प्रावधान भी उपलब्ध है कि प्रधानमंत्री विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं से गंभीर राष्ट्रीय प्रश्नों पर सलाह तथा चर्चा करके आम सहमति बनाकर शासनिक निर्णय ले सकता है।

(7) **तुरन्त निर्णय लेने की सुविधा**—संसदीय शासन का यह गुण **ब्राइस** के द्वारा बताया गया है। इनके अनुसार मंत्रिमण्डल के लिए उन कार्यों एवं निर्णयों को जिन्हें वह महत्वपूर्ण समझते है, विधायिकाओं द्वारा स्वीकृत कराने की सुविधा उपलब्ध होती है। यह चाहे घरेलू नीतियों से संबंधित विषय हो या विदेश नीतियों से, इसके साथ ही यदि विधायिका का सत्र न चल रहा हो तो कार्यपालिका अध्यादेशों के माध्यम से भी आवश्यक कानूनों के माध्यम से भी आवश्यक कानूनों की व्यवस्था कर लेती है जिन्हें बाद में व्यवस्थापिका से अधिनियमित करा लिया जाता है।

(8) **एक वैकल्पिक शासन का प्रावधान**—यह गुण संसदीय शासन में ही उपलब्ध है। संसदीय जनतंत्र की आत्मा एक सशक्त एवं प्रभावशाली विरोधी दल का होना है। ऐसा विरोधी दल न सिर्फ शासन की कमजोरियों को प्रकाश में लाता है बल्कि शासन के अपदस्थ हो जाने पर उसके दायित्व को संभालने के लिए तत्पर भी रहता है। इस तरह वह वैकल्पिक सरकार की भूमिका का निर्वहन करता है। **जैनिंग्स** ने विरोधी दल के नेता को वैकल्पिक प्रधानमंत्री की संज्ञा दी है।

इन गुणों के अतिरिक्त संसदीय शासन में अत्यधिक शैक्षणिक मूल्यता भी देखी जा सकती है और यह कार्य राजनीतिक दल का है। संसदीय शासन यह सुनिश्चित करता है कि शासन द्वारा लिए गए निर्णय अंतत: जनता के ही निर्णय हैं। संसदीय शासन का यह भी एक गुण ही कहा जाएगा कि इस शासन के चलते राजतंत्र का प्रजातंत्रीकरण हो गया है। जिसका एक ज्वलंत उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन है, जहाँ वंशगत राजतंत्र व्यवहार में एक संवैधानिक प्रजातंत्र बन गया है।

7.2.3 संसदीय शासन के दोष

संसदीय शासन में जहाँ उपर्युक्त गुणों को देखा जा सकता है वहीं यह शासन पूर्णत: दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता इसके कतिपय दोष निम्नवत हैं—

(1) **शक्ति पृथक्करण का अभाव**—संसदीय शासन में ऐसा अभाव शासन की स्वेच्छाचारिता को बढ़ा सकता है। कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का समन्वय अत्याचारी कानूनों को जन्म नहीं देगा इसका कोई आश्वासन नहीं है। यह स्थिति उन परिस्थितियों में और भयावह हो सकती है जब

कार्यपालिका को व्यवस्थापिका में प्रचण्ड बहुमत हासिल हो और अकस्मात् कार्यपालिका स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति की हो।

(2) शासन में अस्थायित्व—संसदीय शासन का यह दोष दो रूपों में देखा जाना चाहिए—**प्रथमत:** कार्यपालिका की व्यवस्थापिका पर अति निर्भरता चूँकि कार्यपालिका के ऊपर व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास की तलवार सदैव लटकी रहती है, द्वितीयत: इस शासन में चूँकि कार्यपालिका बहुमत के आधार पर निर्भर होती है अत: उन परिस्थितियों में जब किसी एक दल विशेष को व्यवस्थापिका में बहुमत हासिल नहीं हो पाता तो सरकार बनाना दुष्कर हो जाता है ऐसी स्थिति में साझा सरकारें अस्तित्व में आती है। संसदीय शासनों का इतिहास इस बात का गवाह है कि साझा सरकारें बहुत स्थायी सिद्ध नहीं होती। फ्रांस में 'चौथे रिपब्लिक' के संविधान में साझा अथवा मिश्रित सरकारों के बार-बार बनने और टूटने के परिणाम स्वरूप 'पाँचवे रिपब्लिक' में फ्रांस ने संसदीय व्यवस्था को ही त्याग दिया। भारत में भी साझा सरकारों के बनने के पश्चात शासन व्यवस्था में अस्थायित्व स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। केन्द्र में 1989, 1996 तथा 1998 की घटनाएं इसका प्रमाण है साथ ही राज्यों में और विशेष कर उत्तर-प्रदेश में विगत पंद्रह वर्षों का इतिहास इसका प्रमाण है कि साझा सरकारें अधिक दिनों तक जीवित न रह सकीं।

(3) शासन में निरन्तरता का अभाव—शासन का अस्थायित्व शासकीय निरन्तरता तथा नीतिगत एकरूपता के मार्ग में बाधक बनता है परिणामस्वरूप प्रशासन की कुशलता प्रभावित होती है। शासन में होने वाला परिवर्तन प्रशासन में भी बड़े पैमाने पर परिवर्तन को जन्म देता है।

(4) अवांछनीय दलबंदी का विकास—राजनीतिक दल जनतंत्र के आधार हैं। जनतांत्रिक शासन प्रणालियों के अंतर्गत जनप्रतिनिधि राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों के रूप में ही निर्वाचन में भाग लेते हैं। राजनीतिक दल जनादेश प्राप्त करने हेतु जनता के समक्ष अपनी नीतियों, विचार धाराओं तथा कार्यक्रमों का प्रचार करते हैं। संसदीय शासन में बहुमत प्राप्त दल को सरकार बनाने का परंपरागत अधिकार प्राप्त होता है। द्विदलीय व्यवस्थाओं के अंतर्गत संसदीय शासन अपने आदर्श रूप में देखा जा सकता है क्योंकि एक दल सत्ता में और दूसरा एक सशक्त विरोधी दल की भूमिका निभाता है। ऐसी व्यवस्था में जनता के समक्ष स्पष्ट विकल्प मौजूद रहता है परन्तु बहुदलीय व्यवस्थाओं में या तो एकदलीय प्रभुत्व की स्थिति दिखाई पड़ती है या फिर किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो सकने के कारण साझा सरकारों को बनाने हेतु जोड़-तोड़ की राजनीति का सहारा लेना पड़ता है। प्राय: दल-बदल जैसी कुप्रवृत्ति जन्म लेने लगती है। ऐसी प्रवृत्ति राजनीतिक सत्ता हासिल करने के उद्देश्य से युक्त होती है। इसके अंतर्गत जनादेश की अवमानना होती है साथ ही राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा भी मिलता है। विधानमण्डलों के अंदर क्षुद्र स्वार्थों की गुटबंदी तथा दलीय राजनीति, शासन-व्यवस्था को उसके आदर्शों से विमुख कर देती है। साझा सरकारें राजनीतिक अस्थायित्व का भी कारण बनती है। साझा मंत्रिमण्डलों के रहते संसदीय शासन के नियम 'राजनीतिक सजातीयता' की भी अवहेलना होती है। प्राय: ऐसे शासन अकुशल शासन और अस्थायी शासन के उदाहरण बनते हैं। राजनीतिक दलबंदी के चलते विरोधी पक्ष भी अपनी रचनात्मक भूमिकाओं का यथोचित निर्वहन नहीं कर पाते।

(5) मंत्रिमण्डल की तानाशाही—संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रिमण्डल व्यवस्थापिका में बहुमत दल द्वारा निर्मित होता है। सैद्धांतिक स्थिति यह है कि मंत्रिमंडल, दल की नीतियों एवं कार्यक्रमों को, शासन संचालन के व्यवहार में प्रयोग करेगा। मंत्रिमण्डल के ऊपर दलीय नियंत्रण तो बना ही रहेगा साथ ही विपक्ष का भी नियंत्रण रहेगा, परन्तु व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि प्रधानमंत्री बहुमत दल का एक श्रेष्ठ और प्रभावशाली नेता होता है। आम-चुनाव ऐसे नेतृत्व के नाम पर ही लड़े जाते हैं। ज्ञातव्य है कि कार्यपालिका शासन के सभी अंगों में सर्वाधिक शक्ति का प्रयोग करती है। एक स्पष्ट बहुमत प्राप्त संसदीय कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) कठोर दलीय अनुशासन की व्यवस्था के रहते सत्ता के केन्द्रीकरण की ओर प्रवृत होती है। सत्ता का ऐसा केन्द्रीयकरण मंत्रिमंडल को अधिनायकवादी बना देता है। संसदीय शासन के अंतर्गत प्रधानमंत्री का नेतृत्व होने के कारण यह मंत्रि मण्डलयी अधिनायकवाद प्रधानमंत्री के अधिनायकत्व का परिचायक होता है। प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमण्डल तब

तक विधानमंडल में विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त किए रहता है जब तक यह स्थिति और भी अधिक वास्तविक दिखाई पड़ती है। संसदीय शासन प्रणालियों को दृष्टिगत रखते हुए ऐसी परिस्थितियों को देख पाना मुश्किल भी नहीं है। हमारे देश में ही श्रीमती गाँधी द्वारा 1975 में जिस तरह आपातकाल को लागू करवाया गया वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। निर्णय लेने में व्यवहार में चाहे सौजन्यतावश ही प्रधानमंत्री अपनी विशिष्ट तथा सर्वोच्च स्थिति को बनाए रखता है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि मंत्रिमण्डल का प्रधान यदि अधिनायक नहीं तो सहमति द्वारा अधिनायक तो कहा ही जा सकता है।

(6) **अविशेषज्ञों की सरकार**—वस्तुत: यह बात सभी जनतांत्रिक सरकारों के लिए कही जा सकती है। संसदीय शासन में यह विशेष रूप से चरितार्थ होती है क्योंकि मंत्री जनप्रतिनिधियों में से लिए जाते हैं और जनप्रतिनिधि राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों के रूप में आम निर्वाचनों में चुने जाते हैं। जनप्रतिनिधियों के लिए शासन-संचालन का ज्ञान होना कोई योग्यता नहीं होती। कोई प्रतिनिधि बहुमत प्राप्त दल में अपनी विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के आधार पर मंत्री नियुक्त किया जा सकता है। वह ऐसे विभाग का मंत्री नियुक्त हो सकता है जिस विभाग के कार्य-कलापों की उसे बिलकुल भी जानकारी न हो। यह सत्य है कि राजनीतिक कार्यपालिका से सदैव ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती साथ ही राजनीतिक कार्यपालिका तो नीति-निर्देशन का कार्य करती है। मंत्रालयों में सचिवालयीय पदाधिकारी जो सामान्य प्रशासनिक सेवा-वर्ग के होते हैं वे उन नीतियों के निर्माण करने तथा इनके कार्यान्वयन का कार्य संपन्न करते हैं। ये प्रशासनिक अधिकारी ही अक्सर शासन संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते है। ये अधिकारी न तो जनप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं और न ही जनता के प्रति जवाबदेह, इसीलिए कहा जाता है कि 'मंत्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के आवरण में नौकरशाही पनपती है।'

(7) **शासन में विलम्ब**—संसदीय शासन का एक दोष इसमें विलम्ब का होना भी कहा जा सकता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत कार्यपालिका अपनी नीतियों की स्वीकृति हेतु व्यवस्थापिका पर निर्भर करती है और व्यवस्थापिकाएं अपना अधिकतम समय वाद-विवादों तथा सरकार की आलोचनाओं में नष्ट कर देती हैं। फलस्वरूप शासन विषयक निर्णय लेने में विलम्ब होता है। संकट काल में तो ऐसे विलम्ब हानिकारक ही हो सकते हैं।

उपर्युक्त गुण-दोषों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संसदीय शासन व्यवस्था में उपरोक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी विश्व में संसदीय शासन एक लोकप्रिय शासन प्रणाली है और जनतांत्रिक पद्धति के सर्वाधिक नजदीक है। संसदीय शासन में जिन दोषों की चर्चा की जाती है उनको दूर करने के बहुत से सुझाव भी दिये जा सकते है, जो निम्नवत है :

(1) जनता में राजनीतिक जागरूकता की अभिवृद्धि की जानी चाहिए।

(2) प्रबुद्ध जनमत के साधनों का सही दिशा में विकास किया जाना चाहिए।

(3) शासन दल तथा सरकार के मध्य समुचित सामंजस्य बना रहे ऐसे प्रयास किये जाने चाहिए।

(4) विपक्षी दल विरोध के लिए विरोध या अनुशासन हीन विरोध के तरीकों के स्थान पर रचनात्मक विरोध की ओर प्रवृत्त हों।

(5) सत्ताधारी दल द्वारा भी विरोधी दलों को यथोचित सम्मान दिया जाना चाहिए तथा शासन संचालन में उनसे सलाह करने और सलाह लेने की प्रवृत्ति अपनानी चाहिए। यह बात भी गौरतलब है कि वर्तमान युग में सुशासन (Good Governance) एक विश्वव्यापी आंदोलन का रूप अपना चुका है और सुशासन का दायित्व विधायिका तथा कार्यपालिका दोनों का ही है।

(6) नौकरशाही को नियंत्रण में रखा जाए। उसका दलगत राजनीतिकीकरण न किया जाए। नौकरशाही में ऐसी क्षमता विकसित हो कि वह किसी भी राजनीतिक दल, जो शासन में आए, के साथ अनुकूलन कर सके। और निष्पक्ष एवं निर्भीक होकर राजनीतिक कार्यपालिका के साथ सहचार

कर सके। राजनीतिक नेतृत्व द्वारा नौकरशाही के कार्यों में अवांछनीय हस्तक्षेप नौकरशाही में भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा कारण है।

(7) कार्यपालिका में दलीय आधार पर परिवर्तन होने पर नई सरकार को अपनी पूर्ववर्ती सरकार के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। उसे बदले की भावना से कार्य नहीं करना चाहिए।

7.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली

शासन के प्रमुख अंगों—कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए शासनों को क्रमश: संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कहा जाता है। अध्यक्षात्मक शासन उस प्रणाली को कहा जाता है। जिसमें राष्ट्राध्यक्ष (राष्ट्रपति) राज्य की कार्यपालिका शक्तियों को धारण तथा वास्तविक रूप से प्रयोग करता है। शक्तियों के प्रयोग करने में वह न केवल व्यवस्थापिका से पृथक् होता है बल्कि स्वतंत्र भी। शक्ति पृथक्करण सिद्धांत अपने सहचारी 'अवरोध तथा संतुलन' के सिद्धांत के साथ अध्यक्षात्मक शासन की सर्वाधिक विशिष्ट विशेषता है। ऐसा पृथक्करण सामंजस्य के साथ शासन के तीनों अंगों के मध्य पाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की शासन व्यवस्था अध्यक्षात्मक शासन का शास्त्रीय तथा सच्चा दृष्टांत प्रस्तुत करती है।

7.3.1 अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ

अध्यक्षात्मक शासन को उसकी निम्नलिखित विशेषताओं से पहचाना जा सकता है—

(1) **कार्यपालिका का प्रधान शासन का वास्तविक प्रधान होता है**—संसदीय शासन के अंतर्गत हम कार्यपालिका के दो प्रधानों क्रमश: नाममात्र तथा वास्तविक के मध्य अंतर करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में ऐसे किसी अंतर को नहीं देखा जा सकता। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का पद एक संवैधानिक पद है पर दोनों ही देशों में राष्ट्रपति के कार्य तथा शक्तियों के मध्य एक बड़ा अंतर देखा जा सकता है। इसका कारण इन दो देशों में दो विभिन्न प्रणालियों का होना है। भारत के राष्ट्रपति की स्थिति मात्र एक नामधारी तथा वैधानिक अध्यक्ष की है जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति राज्य का वास्तविक अध्यक्ष और शासनाध्यक्ष भी है। भारत में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमण्डल में निहित रहती है जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है।

(2) **कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल**—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का चुनाव एक निश्चित कार्यकाल के लिए किया जाता है। इससे पूर्व कार्यपालिका को सिर्फ महाभियोग द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है (मृत्यु एवं त्याग पत्र अन्य कारण हो सकते हैं)। कार्यपालिका का चुनाव व्यवस्थापिका में से या व्यवस्थापिका द्वारा नहीं होता [विशेष परिस्थिति में ही अमेरिकी राष्ट्रपति व्यवस्थापिका द्वारा चुना जाता है]। कार्यपालिका जनता द्वारा सिद्धांतत: अप्रत्यक्ष पर वस्तुत: प्रत्यक्ष रूप में चुनी जाती है। यहाँ कार्यपालिका का अभिप्राय राष्ट्रपति से है न कि उसके सलाहकारों से अपने सलाहकारों को (जिन्हें सौजन्यतावश कभी-कभी मंत्री कहा जाता है) राष्ट्रपति स्वेच्छा से चयनित करता है, राष्ट्रपति के ऊपर इनके चयन हेतु कोई सीमाएं नहीं है। राष्ट्रपति अपने सलाहाकरों का प्रमुख या स्वामी होता है और उसकी स्थिति 'समकक्षों में प्रथम' जैसी नहीं है।

(3) **कार्यपालिका की भाँति व्यवस्थापिका का भी निश्चित कार्यकाल**—इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यवस्थापिका के सदस्य निश्चित कार्यकाल के लिए जनता द्वारा चुने जाते हैं। कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका को भंग नहीं किया जा सकता और न ही व्यवस्थापिका किसी आपातकाल में अपने कार्यकाल में वृद्धि ही कर सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापिका को 'कांग्रेस' कहा जाता है। जिसके दो सदन क्रमश: सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा है। जिनका कार्यकाल क्रमश: छह (6) और दो (2) वर्ष का है।

(4) **कार्यपालिका की स्वतंत्रता**—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका अपनी कार्यावधि में

व्यवस्थापिका अथवा अन्य किसी संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अत: वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करती है। यही स्थिति शासन के अन्य अंगों व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका की भी होती है।

(5) शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांत की मान्यता—शासन के तीन प्रमुख अंगों के मध्य पृथक्करण इस सिद्धांत की विशिष्टता है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का जन्मदाता फ्रांसीसी विचारक मांटेस्क्यू था जिसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में शक्ति-पृथक्करण को आवश्यक माना। शक्ति-पृथक्करण का सिद्धांत अध्यक्षात्मक शासन का अभिन्न अंग है परन्तु 'अवरोध तथा सन्तुलन' के सिद्धांत की मान्यता इसकी आवश्यकता है। एक ओर जहाँ शासन का प्रत्येक अंग अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्रता का प्रयोग करता है, वहीं ऐसी स्वतंत्रता स्वच्छन्दता में परिणत न हो जाए इसलिए 'अवरोध तथा संतुलन' की व्यवस्था की गयी है। मांटेस्क्यू के सिद्धांत में 'शक्ति को शक्ति द्वारा मर्यादित' करने की बात कही गयी है। व्यवहार में अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने ऐसी व्यवस्था संविधान द्वारा स्थापित की है। राष्ट्रपति कार्यपालिका शक्तियों का मनमाना प्रयोग न कर सके इसके लिए उसकी कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग में सीनेट द्वारा अनुमोदन का प्रावधान किया गया है। कांग्रेस के विधि -निर्माण के स्वतंत्र अधिकार के मनमाने प्रयोग पर राष्ट्रपति की 'वीटो' शक्ति का प्रावधान किया गया है। साथ ही न्यायपालिका को संविधान के संरक्षण का दायित्व सौंपा गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि न्यायपालिका शासन के अन्य अंगों के गैर संविधानिक कृत्यों को अंसवैधानिक घोषित कर सकती है। लेकिन यदि न्यायपालिका स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करती है तो न्यायधीशों को भी महाभियोग द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है।

7.3.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण

(1) कार्यपालिका का स्थायित्व—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका-अध्यक्ष एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है। इससे पूर्व उसे व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास जैसे किसी प्रस्ताव से अपदस्थ नहीं किया जा सकता। यदि राष्ट्रपति के विरूद्ध संवैधानिक आरोप हो तो ही उसे महाभियोग द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। महाभियोग की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है और अमेरिकी संविधान के इतिहास में कोई राष्ट्रपति आज तक इस प्रक्रिया से अपदस्थ नहीं किया जा सका है। कार्यपालिका का ऐसा स्थायित्व प्रशासनिक कुशलता की आश्वस्ति प्रदान करता है। कार्यपालिका ठोस नीतियाँ अपना कर उन्हें लागू कर सकती है।

(2) अवरोध और संतुलन की व्यवस्था कार्यपालिका को स्वेच्छाचारी होने से रोकती है—शक्ति पृथक्करण पर आधारित इस व्यवस्था का अभिप्राय कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता से नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि कार्यपालिका को अपनी अधिशासनिक नीतियों के कार्यान्वयन हेतु व्यवस्थापिका से विधि-निर्माण एवं वित्तीय स्वीकृति की आवश्यकता होती है। अत: राष्ट्रपति (कार्यपालिका) व्यवस्थापिका के अंकुश में रहता है। कदाचित व्यवस्थापिका द्वारा अवांछनीय कानून बनाने का प्रयास न हो इसलिए कार्यपालिका को निषेधाधिकार की शक्ति प्राप्त है। व्यवहार में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य करते हैं। सामान्य प्रशासन में इनके मध्य गतिरोधों के बहुत कम अवसर देखने को मिलते हैं। न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति भी कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की शक्तियों को मर्यादित करने का एक सशक्त साधन है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को तो कभी-कभी 'कांग्रेस के तीसरे सदन' के रूप में पुकारा जाता है।

(3) व्यवस्थापिका का स्थायित्व विधायी कार्यों की कुशलता को बढ़ाता है—अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका को भी एक निश्चित कार्यकाल हेतु चुना जाता है। इससे पूर्व उसे विघटित करने की शक्ति कार्यपालिका के पास नहीं है। अत: व्यवस्थापिका अपने कार्यों को कुशलता के साथ संपन्न कर सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस, जो कि व्यवस्थापिका है, के दो सदन 'प्रतिनिधि सभा' तथा 'सीनेट' क्रमश: दो और छह वर्षों के कार्यकाल हेतु जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से

चुने जाते हैं। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अमेरिकी व्यवस्था में सीनेट एक शक्तिशाली संस्था है और कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता को रोकने का एक सशक्त उपकरण है।

(4) **कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका अंगों में एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव**—होते हुए भी इनका स्वरूप प्रतिनिध्यात्मक होता है और जनता के प्रति इनका उत्तरदायित्व सदैव बना रहता है।

(5) **यह व्यवस्था राजनीतिक दलबन्दी की बुराइयों से मुक्त रहती है**—राजनीतिक दल जनतंत्र की अनिवार्यताएं और आधार स्तम्भ हैं। व्यवस्थापिकाओं के सदस्य राजनीतिक दलों के आधार पर ही निर्वाचित होकर विधायिकाओं में प्रवेश करते हैं। जहाँ संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाता है वहीं वह दल के नियंत्रण से और दलबंदी की बुराइयों से पूर्णत: स्वतंत्र नहीं रह सकता। अकस्मात यदि प्रधानमंत्री अनेक दलों से निर्मित साझा सरकार का संचालक हो तो दलबंदी का प्रभाव कहीं अधिक दिखाई पड़ता है। व्यवस्थापिकाओं में विधि निर्माण के कार्यों तथा नीतिगत अथवा व्यवस्थागत बहसों में प्रतिनिधि अपने दलीय आवरण से मुक्त होकर स्वतंत्र आचरण नहीं कर सकते। मतदान की स्थिति में तो यह असंभव सा है। अध्यक्षात्मक शासन के अंतर्गत विधायिकाओं में राजनीतिक दलबंदी की इन बुराईयों के लिए कोई स्थान नहीं है। अमेरिकी व्यवस्था में तो कांग्रेस के भीतर मतदान में भी अक्सर प्रतिनिधि दलगत भावनाओं से ऊपर उठ कर अन्तरात्मा के निर्देशन से मतदान करते हैं। राजनीतिक दल-बदल की बुराइयां अध्यक्षात्मक शासन में देखने को नहीं मिलती।

(6) **संकटकाल में सक्षम**—संकटकाल का सामना करने में अध्यक्षात्मक शासन को विशेष कठिनाई नहीं होती। यह बात अमेरिकी प्रणाली के अनुभव से अधिक पुष्ट हो जाती है। एक ही व्यक्ति के हाथ में कार्यपालिका शक्ति का होना और यदि वह व्यक्ति सुयोग्य तथा राजनीतिक कौशल से युक्त हो और साथ ही जनप्रिय भी हो तो राष्ट्रीय आपदाओं का सामना करने में उसे कठिनाई नहीं होती। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के लिए ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर सकती है, कि व्यवस्थापिका उसकी नीतियों को बिना समय गंवाए अनुमोदित कर दें।

(7) **विशेषज्ञों का शासन**—कार्यपालिका में विशेषज्ञों की सेवाओं को प्राप्त करने में अध्यक्षात्मक शासन कहीं अधिक कारगर होता है। राष्ट्रपति अपने सलहाकारों के चयन में (जो कि उसकी कैबिनेट के भी सदस्य हो सकते हैं) विधायिका अथवा दलीय नियंत्रण से पूर्णत: मुक्त होता है।

(8) **दृढ़ नीति**—अध्यक्षात्मक शासन में नीतियों की निश्चितता सुनिश्चित रहती है। कार्यपालिकाध्यक्ष अपने सलाहकारों की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होता। उसे दल तथा व्यवस्थापिका के बहुमत की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। वह साहस पूर्वक अपने कार्यों और नीतियों को लागू कर सकता है।

7.3.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष

(1) **कार्यपालिका के स्वेच्छाचारी बनने का भय**—एक ही व्यक्ति में अथाह कार्यपालिका शक्तियां निहित होने के कारण साथ ही इनके उपभोग में स्वतंत्रता तथा अनुत्तरदायित्व किसी शासक को स्वेच्छाचारी बनने के लिए पर्याप्त है। अमेरिकी व्यवस्था में कोई राष्ट्रपति दो कार्यकालों के लिए राष्ट्रपति चुना जा सकता है और यदि प्रथम कार्य-काल में नहीं तो दूसरे कार्यकाल में ऐसा भय तो सदैव बना ही रहता है क्योंकि अब जनमत के नियंत्रण का भय भी उसके ऊपर नहीं रहता।

(2) **अनुत्तरदायी शासन**—कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति लोकतंत्र के विरुद्ध है प्राय: यह कहा जाता है कि संसदीय शासन ही उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की गारन्टी है। यह लोकतांत्रिक पद्धति है कि जनप्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी हों। अध्यक्षात्मक शासन में ऐसी व्यवस्था का अभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ तक कि राजनीतिक दलों का भी नियंत्रण अपने प्रतिनिधियों के ऊपर नहीं रहता।

(3) **कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य संघर्ष**—इस व्यवस्था में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य संघर्ष की स्थितियों के उत्पन्न होने की आशंका सदैव बनी रहती है। अमेरिकी व्यवस्था के व्यावहारिक अनुभव भी यह दर्शाते हैं कि प्राय: राष्ट्रपति और कांग्रेस के मध्य ऐसे गतिरोध उत्पन्न होते ही रहते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण राष्ट्रपति वुडरो विल्सन द्वारा हस्ताक्षरित 'वार्साई की अंतर्राष्ट्रीय संधि' का अमेरिकी सीनेट द्वारा अनुमोदन न करना है। जिसके परिणाम स्वरूप अमेरिका 'राष्ट्रसंघ' का सदस्य नहीं बन सका।

कभी-कभी व्यवस्थागत कठोरता अध्यक्षात्मक शासन को समयानुसार अपने प्रशासन और नीतियों को ढालने में भी बाधा उत्पन्न करती है। प्राय: निर्णयों पर पहुँचने में देरी भी इसी कारण से उत्पन्न हो सकती है। निषेधाधिकार की शक्ति किसी पूर्वाग्रह से युक्त राष्ट्रपति के हाथों किसी अच्छे विधायन को रोकने का कार्य कर सकती है साथ ही विशिष्ट परिस्थितियों में तात्कालिक निर्णयों की अनिवार्यता, कार्यपालिका के निर्णयों को व्यवस्थापिका द्वारा बाधित कर सकती है।

(5) **राष्ट्रीय आपात के समय अड़चन**—राष्ट्रीय आपातों की स्थिति में संविधान की कठोरता भी कठिनाई का कारण होती है। यह दोष विशेषकर तब अधिक स्पष्ट दिखने लगता है जबकि राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय युद्ध में संलग्न हो और कार्यपालिका या व्यवस्थापिका के निर्वाचन का समय आ गया हो। चुनाव तो हर स्थिति में करवाना अनिवार्य है वह टाला नहीं जा सकता।

(6) **शक्ति पृथक्करण कार्यपालिका को व्यवस्थापन में पहल नहीं करने देता**—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का एक बड़ा दोष यह भी है कि शक्ति पृथक्करण की व्यवस्था के रहते कार्यपालिका के पास व्यवस्थापन में पहल करने का कोई तरीका नहीं है। इसके विपरीत संसदीय शासन में व्यवस्थापन में सदैव पहल कार्यपालिका द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त यह भी गौर तलब है कि कांग्रेस के अंदर सदस्य दबाव-गुटों तथा हित समूहों के हितों के समर्थक अधिक होते हैं। जबकि वे जनप्रतिनिधि तथा दलीय सदस्यों के रूप में अपनी भूमिकाओं का कम ही निर्वहन करते हैं।

7.4 सारांश

संसदीय शासन से भिन्न अध्यक्षात्मक शासन के अंतर्गत कार्यपालिका शक्ति का संकेन्द्रीकरण एक राष्ट्रपति के पद में हो जाता है। राष्ट्रपति पद में राष्ट्राध्यक्ष तथा शासनाध्यक्ष दोनों ही पदों की भूमिकाएं समाहित होती हैं। परन्तु राष्ट्रपति को एक ऐसी व्यवस्थापिका का सामना करना पड़ता है जो कि संवैधानिक तथा राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से कार्यपालिका से स्वतंत्र होती है। संसदीय शासन प्रणाली के अंतर्गत प्रधानमंत्री दो प्रमुख संबंधों के तहत कार्य करता है, इनमें से पहला है मंत्रिमंडल और उनके विभाग तथा दूसरा राजनीतिक दल तथा संसद जिनसे उसे शक्ति प्राप्त होती है, स्पष्ट है कि दोनों ही प्रणालियों के अपने गुण तथा दोष हैं, परन्तु तुलना करने पर यह निष्कर्ष स्वत: निकलता है कि संसदीय शासन लोकतंत्रवाद के अधिक समीप है और यही इसकी लोकप्रियता का कारण है। विश्व की अधिकांश शासन प्रणालियां संसदात्मक ही हैं जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का अमेरिकी प्रतिमान (इस तथ्य के बावजूद कि अमेरिका में 200 वर्षों से भी अधिक काल में सफलता पूर्वक कार्य कर रहा है।) बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ है।

7.5 उपयोगी पुस्तकें

1. जे० डब्लू० गार्नर : पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट
2. सी० एफ० स्ट्रॉंग : माडर्न पालिटिकल कान्स्टीट्यूशनस
3. रैमजे म्योर : हाऊ ब्रिटेन इज गवर्न
4. हरमन फाइनर : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेंट

5.	एस० ई० फाइनर	:	कम्परेटिव गवर्नमेंट
6.	रोडी एण्ड अदर्स	:	इन्ट्रोडक्शन टु पॉलिटिकल साईन्स
7.	एच० जे० लास्की	:	पार्लियामेन्ट्री गवर्नमेंट इन इग्लैण्ड
8.	एच० जे० लास्की	:	अमेरिकन प्रेसीडैन्सी
9.	ए० सी० कपूर	:	प्रिन्सीपिल्स ऑफ पालिटिकल साइंस
10.	ऐडी आर्शीवादम	:	पालिटिकल थ्योरी (हिन्दी में भी उपलब्ध)
11.	एम० आर० डेविस एण्ड आर० ए० लेविस	:	मॉडल्स ऑफ पालिटिकल सिस्टम

7.6 सम्बन्धित प्रश्न

(B) लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए—

(i) नाम मात्र की कार्यपालिका

(ii) सामूहिक उत्तरदायित्व

(iii) प्रधानमंत्री का नेतृत्व

(iv) गोपनीयता

(v) शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत

(vi) अवरोध तथा संतुलन

(vii) सीनेट का शिष्टाचार

(viii) कांग्रेस का तीसरा सदन

(C) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(i) संसदीय शासन प्रणाली के गुण-दोषों की विवेचन कीजिए।

(ii) संसदीय शासन अन्य किसी शासन-प्रणाली की अपेक्षा अधिक जनतांत्रिक है। व्याख्य कीजिए।

(iii) संसदीय शासन मंत्रिमण्डल के अधिनायकत्व में परिणत होता है। विवेचन कीजिए।

(iv) अध्यक्षात्मक शासन के गुण-दोषों को बताईये।

(v) अध्यक्षात्मक शासन एक स्थिर शासन प्रणाली है। विवेचन कीजिए।

(vi) भारत के विशेष संदर्भ में क्या अध्यक्षात्मक शासन अधिक लाभप्रद व उपयोगी होगा? कारण सहित समझाईये।

(D) वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. वास्तविक तथा नाममात्र की कार्यपालिका किस शासन प्रणाली की विशेषता है।

(a) अध्यक्षीय शासन प्रणाली
(b) संसदीय शासन प्रणाली
(c) एकात्मक शासन प्रणाली
(d) संघात्मक शासन प्रणाली

2. सामूहिक उत्तरदायित्व किस शासन प्रणाली की विशेषता है।
(a) एकात्मक शासन प्रणाली
(b) संघात्मक शासन प्रणाली
(c) संसदीय शासन प्रणाली
(d) अध्यक्षीय शासन प्रणाली

3. किस देश की संसद को संसदों की जननी माना जाता है।
(a) ब्रिटेन
(b) भारत
(c) फ्रांस
(d) जर्मनी

4. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में मंत्री किसके प्रति उत्तरदायी होते हैं।
(a) राष्ट्रपति के प्रति
(b) सीनेट के प्रति
(c) संविधान के प्रति
(d) प्रतिनिधि सभा के प्रति

5. अध्यक्षात्मक सरकार किस सिद्धान्त पर कार्य करती है।
(a) शक्ति विभाजन
(b) शक्ति पृथक्करण
(c) शक्ति केन्द्रीयकरण
(d) शक्ति समायोजन

6. अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यपालिका
(a) अनिश्चित अवधि तक रहती है।
(b) व्यवस्थापिका की कृपा पर निर्भर रहती है।
(c) निश्चित अवधि तक रहती है।
(d) दल के नेताओं की कृपा पर निर्भर रहती है।

7.7 प्रश्नोत्तर

1. (b) 2. (c) 3. (a) 4. (a) 5. (b) 6. (c)

इकाई 8 : एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणालियाँ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 एकात्मक शासन प्रणाली

- 8.2.1 एकात्मक शासन के गुण
- 8.2.2 एकात्मक शासन के दोष

8.3 संघात्मक शासन प्रणाली

- 8.3.1 संघ, संघ राज्य तथा संघीय शासन की विशेषतायें
- 8.3.2 संघात्मक शासन की विशेषतायें
- 8.3.3 संघ तथा परिसंघ
- 8.3.4 संघीय शासन के गुण
- 8.3.5 संघीय शासन के दोष

8.4 सारांश

8.5 उपयोगी पुस्तकें

8.6 सम्बन्धित प्रश्न

8.7 प्रश्नोत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- एकात्मक शासन की व्याख्या कर सकेंगे।
- संघात्मक शासन की व्याख्या कर सकेंगे।
- उक्त शासनों के गुण दोषों की समीक्षा कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

किसी राज्य व्यवस्था में शासन शक्ति के केन्द्र अथवा केन्द्रों को दृष्टिगत रखते हुए शासन प्रणालियों का वर्गीकरण एकात्मक तथा संघात्मक के रूप में किया जाता है। यह नामावली राज्य तथा सरकार दोनों ही के लिए प्रयुक्त की जाती है। किसी राज्य-व्यवस्था के अंतर्गत जब शासन की सम्पूर्ण शक्तियां एक ही केन्द्र में निहित हों और प्रशासनिक इकाईयां केन्द्र से सत्ता प्राप्त करती हों तो उसे एकात्मक सरकार कहा जाता है। निवर्तमान राज्य व्यवस्थाओं में चीन, जापान, इंग्लैण्ड तथा फ्रांस आदि राज्य ऐसी ही राज्य व्यवस्था तथा सरकार के उदाहरण है।

इससे भिन्न जब राज्य-व्यवस्थाओं का संगठन इस रूप में किया जाये की इसके अंतर्गत सरकार की शक्तियां राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय शासन-शक्तियों के रूप में विभाजित हों (इस हेतु संपूर्ण राष्ट्र अनेक इकाईयों में विभक्त हो, (इन इकाईयों को राज्य, प्रान्त, प्रदेश, केन्टन आदि नामों से जाना जाता है।),

तो शासन-व्यवस्था संघात्मक कही जाती है। संघात्मक व्यवस्था में द्वैध-शासन संगठन विद्यमान रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड, द० अफ्रीका आदि इसके दृष्टान्त है।

8.2 एकात्मक शासन प्रणाली

एकात्मक शासन की व्याख्या तथा परिभाषा विविध विद्वानों ने अलग-अलग रूप में की है। **गार्नर** के अनुसार ''जहां राज्य के संविधान द्वारा शासनिक शक्तियां एक एकांकी केन्द्रीय सरकार में विहित कर दी जाती हैं और जिसमें शासन संस्थाएं अपनी शक्ति तथा स्वायत्तता ही नहीं, बल्कि अपना अस्तित्व भी केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त करती है वहाँ एकात्मक शासन होता है।'' **हरमन फाइनर** के अनुसार, ''ऐसी शासन व्यवस्था में समस्त शक्तियां एक केन्द्र में एकत्र रहती हैं तथा केन्द्र की इच्छा एवं शासनाधिकारी संपूर्ण राज्य में सर्वोपरि शक्ति धारण करते हैं।'' **डायसी** ने एकात्मक शासन का वर्णन इसकी प्रमुख विशेषता-''एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा सर्वोच्च व्यवस्थापन सत्ता के आदतन प्रयोग'' के रूप में किया है। **विलोबी** ऐसे शासन का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि ''ऐसे शासन में प्रथमतया सरकार की समस्त शक्तियां एक केन्द्रीय सरकार को प्रदत्त की जाती हैं और इसी सरकार को पूर्ण स्वतंत्रता होती है कि यह इन शक्तियों का ऐसा वितरण क्षेत्रीय आधार पर करे जिसे यह उपयुक्त समझे।'' **सी० एफ० स्ट्रांग** के शब्दों में ''एक एकात्मक राज्य एक केन्द्रीय सरकार के अधीन संगठित होता है। इसका अभिप्राय यह है कि विविध इकाईयों द्वारा जो कुछ भी शक्तियां प्रयुक्त की जाती हैं उनका प्रशासन संपूर्ण रूप में केन्द्र सरकार द्वारा और उसके विवेक पर ही निर्भर करता है, केन्द्र सरकार संपूर्ण क्षेत्र के ऊपर सर्वोच्च होती है और इसके ऊपर किसी कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से एकात्मक शासन की कुछ विशेषताओं की पहचान की जा सकती है जो निम्नलिखित है—

(1) ऐसी व्यवस्थाओं में एक राज्य तथा एक ही सरकार होती है। शक्ति का स्रोत तथा इच्छा भी एक ही होती है।

(2) स्थानीय शासन की इकाइयों का निर्माण उनकी स्वायत्तता का निर्धारण, उनमें पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनके मध्य शासन-शक्तियों का प्रत्यायोजन जैसी सभी व्यवस्थाएं केन्द्रीय सरकार अपने कानूनों से करती है और इनमें स्वेच्छा से परिवर्तन भी कर सकती है।

(3) ऐसी शासन व्यवस्था में केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन संगठनों के मध्य शक्ति विभाजन और शक्ति वितरण संविधान द्वारा नहीं किया जाता।

(4) स्थानीय शासन की इकाईयों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक विभागों जैसी ही होती है। इन इकाईयों द्वारा जिन शक्तियों का प्रयोग किया जाता है और जितनी स्वायत्तता प्रयोग की जाती है वह सब केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर होती है।

(5) स्थानीय शासन की इकाईयां अपनी वित्तीय व्यवस्था का संचालन और वित्तीय संसाधन जुटाने हेतु करों की व्यवस्था भी केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित कानूनों के अंतर्गत ही करती हैं। प्राय: ये संस्थाएं केन्द्र के अनुदानों पर ही आश्रित रहती हैं।

(6) इस व्यवस्था के अंतर्गत स्थानीय शासन और प्रशासन के कार्य दो तरह के संगठन संपादित करते हैं- प्रथम वे अधिकारी और कर्मचारी जो केन्द्र द्वारा नियुक्त हों और केन्द्र के प्रति ही उत्तरदायी भी हों और केन्द्र सरकार के निर्देशन तथा नियंत्रण में ही अपने दायित्वों का निर्वहन करते हैं और द्वितीय केन्द्रीय सरकार के कानून द्वारा स्थापित स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के संगठन जो कानून द्वारा निर्धारित अधिकार सीमा के अंतर्गत अपनी स्वायत्तशासी शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

8.2.1 एकात्मक शासन के गुण

(1) एकात्मक शासन के अंतर्गत एक ही सरकार का होना शासन की नीतियों को सुदृढ़ता प्रदान करता है। एक ही सत्ता के होने के कारण सत्ताओं के मध्य संघर्ष की अथवा सत्ताओं के उत्तरदायित्व जैसी कोई भ्रामक स्थिति नहीं रहती इसलिए ऐसा शासन ठोस नीतियों को निर्मित कर उनके अनुसार तुरन्त कार्यवाही करने में सक्षम होता है।

(2) संपूर्ण राज्य में एकाकी शासन संगठन होने के कारण शासनिक कार्य-कलाप समरूपी नीतियों से संचालित होते हैं। एक ही कानून, एक सी नीतियां और एक ही प्रशासनिक व्यवस्था राज्य की एकता को बनाये रखती है। समान लोक सेवा होने के कारण शासन की यांत्रिकता मजबूत बनी रहती है और प्रशासन आसान हो जाता है।

(3) एकात्मक शासन मितव्ययी शासन है। इसके अंतर्गत शासन संरचना सरल होती है। संपूर्ण राज्य के लिये एक ही व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका होती है और लोक सेवाओं की भी व्यवस्था समान होती है। इसलिए शासन कार्य में व्यय बहुत कम होता है।

(4) एकात्मक शासन एक चुस्त प्रशासन देने में सक्षम होता है। एक चुस्त शासन उत्तम शासन का लक्षण है। चुस्त शासन का अभिप्राय प्रशासनिक निर्णयों में शीघ्रता और अविलम्ब से है। संवैधानिक संशोधन भी आवश्यकतानुसार तत्काल किए जा सकते हैं।

(5) एकात्मक शासन में एकल नागरिकता होने के कारण राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने और बनाए रखने में सहायता मिलती है।

(6) एकात्मक शासन छोटे आकार के राज्यों के लिए एक उत्तम व्यवस्था है। यद्यपि यह बात सैद्धान्तिक ही कही जा सकती है क्योंकि विश्व में चीन जैसे विशाल राज्य में एकात्मक व्यवस्था विद्यमान है जबकि स्विट्जरलैण्ड जैसा छोटा राज्य संघात्मक व्यवस्था को अपनाए हुए है।

(7) ऐसे शासन में आर्थिक विकास भी शीघ्रता और सरलता से संभव होता है। एक सी नियोजित नीति सारे देश को एक आर्थिक इकाई मानकर क्रियान्वित की जा सकती है।

8.2.2 एकात्मक शासन के दोष

(1) एकात्मक शासन में अत्यधिक केन्द्रीयकरण होने के कारण प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय समस्याओं का समुचित समाधान सही दिशा में नहीं हो पाता। प्राय: स्थानीय समस्याओं की उपेक्षा की सम्भावना भी बनी रहती है।

(2) एकात्मक शासन, प्रशासन में नौकरशाही के तत्व एवं प्रभाव को बढ़ाता है। नौकरशाही न तो जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और न ही उत्तरापेक्षी। क्योंकि नौकरशाही का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सत्ता के प्रति होता है अत: स्थानीय जन समस्याओं के प्रति वह उदासीनता की नीति बरत सकती है। नौकरशाही का जन नियंत्रण के अधीन न होना नौकरशाही में लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, पक्षपात आदि बुराइयों को जन्म दे सकता है।

(3) धर्म, भाषा, नस्ल आदि विभिन्नताओं से युक्त राज्यों के लिए एकात्मक शासन को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। एक सांस्कृतिक समूह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है और अपना विकास एक एकात्मक शासन के अंतर्गत अपनी परम्पराओं या नीतियों के आधार पर नहीं कर सकता।

(4) ऐसे शासन में स्थानीय जनता में शासन में पहल करने की क्षमता का विकास नहीं हो पाता। सार्वजनिक कार्यों में जनता में अभिरूचि उत्पन्न नहीं हो पाती। यद्यपि स्थानीय क्षेत्रों के जनप्रतिनिधि

केन्द्रीय व्यवस्थापिकाओं में रहते हैं तो भी उनके माध्यम से अपने क्षेत्र विशेष के सम्बन्ध में समुचित नीति-निर्माण अथवा योजनाओं का निर्माण व क्रियान्वयन करा पाना प्राय: दुष्कर होता है।

(5) एकात्मक शासन लोकतंत्र के सिद्धान्त का निषेध करता है क्योंकि लोकतंत्र विकेन्द्रीयकरण का पर्याय है। **गार्नर** ने इस शासन को कभी-कभी केन्द्रीयकृत सरकार के रूप में बताये जाने की बात कही है।

(6) यह शासन केन्द्रीय शासन के कार्य भार को बढ़ा देता है। क्योंकि केन्द्रीय सरकार को सभी तरह के मामले देखने होते हैं अत: अतिमहत्वपूर्ण राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर पर्याप्त विचार करने का समय नही मिल पाता।

(7) एकात्मक शासन विशाल देशों के लिए अनुपयुक्त है।

8.3 संघात्मक शासन प्रणाली

'संघ' का शाब्दिक अर्थ 'संधि' या 'संधान' से है। अंग्रेजी भाषा में इसके लिए 'यूनियन' या 'फेडरेशन' दोनों ही शब्द प्रयोग किए जाते हैं। सामान्य अर्थ में संघीय शासन को एकात्मक शासन के विलोम के रूप में देखा जा सकता है। जिसका अभिप्राय यह है कि एक संघीय शासन में शासन-सत्ता के एकाधिक केन्द्र मौजूद रहते हैं। एक संघ का निर्माण दो तरह से हो सकता है। प्रथम, जब दो या दो से अधिक स्वतंत्र राज्य किसी संधि द्वारा अपनी संप्रभुता का त्याग करते हुए एक नए राज्य को निर्मित करने हेतु सहमत होते हैं। संघ के निर्माण की यह प्रक्रिया एकीकरण की प्रक्रिया है। संघ राज्य के निर्माण की द्वितीय प्रक्रिया यह हो सकती है जब कोई एक राज्य अपने को अनेक स्वायत्तशासी प्रशासकीय इकाइयों में विभाजित कर ले तथा इन इकाईयों, प्रदेशों या राज्यों को संविधान द्वारा शक्तियां प्रदान कर दी जाये। पहली प्रक्रिया से बने संघ का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। जबकि भारत तथा कनाडा के संघों का निर्माण द्वितीय प्रक्रिया द्वारा हुआ है।

संघीय राज्य चाहे जिस प्रक्रिया से भी बनें इनके अंतर्गत दोहरी सरकारें होती हैं। जिन्हें क्रमश: संघ की सरकार (केन्द्रीय सरकार) तथा स्थानीय या क्षेत्रीय सरकार (प्रान्तीय सरकार) कहते हैं। इन सरकारों के मध्य शक्ति के वितरण की एक संवैधानिक व्यवस्था होती है तथा ऐसे शक्ति-वितरण को एक तरफा तरीके से कोई सरकार बदल नहीं सकती। संविधान लिखित तथा सर्वोच्च होता है और संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखने हेतु एक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था भी संविधान द्वारा की जाती है।

8.3.1 संघ, संघ राज्य तथा संघीय शासन की परिभाषाएं

मैरिएट ने संघ-व्यवस्था को मिश्रित अथवा संयुक्त राज्य के रूप में बताया है। **विलोबी** इसे बहुशासनतंत्रवादी राज्य कहता है। **हेमिल्टन** के अनुसार संघीय राज्य, राज्यों का संघ है जो एक नये राज्य का निर्माण करता है। **माण्टेस्क्यू** के अनुसार संघ-राज्य एक प्रकार का ऐसा समझौता है जिसमें अनेक छोटे-छोटे राज्य अपने द्वारा स्थापित एक बड़े राज्य में विलीन हो जाते है। **फ्रीमैन** के अनुसार संघीय शासन में पूर्ण विकसित दृष्टि से एक तरफ तो संघ के सभी सदस्य शासन के सम्बन्धित मामलों में पूर्ण स्वतंत्र होने चाहिए और दूसरी तरफ सभी सदस्यों को सामूहिक रूप से सम्बन्धित विषयों में एक समान सत्ता के अधीन होना चाहिए। प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र होता है परन्तु एक दूसरा क्षेत्र भी है जिसमें उसका पूरा अस्तित्व ही तिरोहित हो जाता है। **डायसी** के अनुसार संघवाद का अर्थ है कि राज्य की शक्तियों को ऐसे समान निकायों में विभाजित करना जो संविधान की अधीनता तथा नियंत्रण में कार्य करते हों। संघीय शासन एक राजनीतिक व्यवस्था है

जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों के अधिकारों में समन्वय स्थापित किया जाता है। **ऑग तथा रे** के अनुसार संघीय शासन प्रणाली राजनीतिक संस्थाओं की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सत्ता के दो केन्द्र- एक केन्द्रीय तथा दूसरा क्षेत्रीय, होते हैं। किसी अन्य व्यवस्था की तुलना में इस व्यवस्था में शक्तियों तथा दायित्वों में स्पष्ट विभाजन की आवश्यकता होती है। संविधान द्वारा निर्धारित यह व्यवस्था किसी निरपेक्ष राजनीतिक वार्तालाप का परिणाम नहीं होती बल्कि अपने समय की मांग का परिणाम होती है। **गार्नर** संघात्मक शासन को एकात्मक शासन का विलोम कहता है। उसके अनुसार इसकी मुख्य विशेषता यह है कि राज्य की विधायी शासन एवं प्रशासन की सत्ता राजधानी के केन्द्रीय अंग में संगठित न होकर केन्द्रीय सत्ता एवं संघ की घटक इकाइयों की सत्ता के हाथों में विभाजित होती है। प्रत्येक इकाई अपने क्षेत्राधिकार में स्वतंत्र होती है और स्थानीय आवश्यकताओं तथा हितों के अनुरूप कार्य करती है। इस तरह संघीय प्रणाली केन्द्रीकृत शासन एवं स्थानीय शासन के समन्वय का प्रतिनिधित्व करती है। **सी० एफ० स्ट्राँग** ने संघात्मक राज्य को एक ऐसा राज्य कहा है जिसमें अनेक समान राज्य सामान्य उद्देश्य के लिए एकीकृत हो जाऐं। **हरमन फाइनर** के अनुसार संघीय राज्य में सत्ता एवं शक्तियों का एक भाग स्थानीय क्षेत्र में और दूसरा केन्द्रीय संस्था में अधिष्ठित होता है। इसका निर्माण जानबूझकर स्वतंत्र, स्थानीय क्षेत्र के संघ द्वारा होता है। **के० सी० व्हीयर** को संघात्मक शासन व्यवस्था का एक अधिकृत विद्वान कहा जाता है। व्हीयर के अनुसार संघ राजनीतिक विचारों के क्षेत्र का एक बहुचर्चित विषय है और इसकी व्याख्याएं बहुत कम स्पष्ट हैं। उसके अनुसार संघात्मक शासन की कोई भी परिभाषा तब तक पूर्ण अथवा मान्य नहीं कहीं जा सकती जब तक कि उसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान को स्थान न दिया गया हो। इस तरह व्हीयर के मत से संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में राजनीतिक संगठन का जो सिद्धांत पाया जाता है वह संघीय शासन का सिद्धांत है। संघीय सिद्धांत की परिभाषा करते हुए **व्हीयर** ने कहा है कि ''संघीय सिद्धांत का अर्थ सत्ता के विभाजन की ऐसी पद्धति से है जिसके द्वारा सामान्य तथा क्षेत्रीय शासन अपने क्षेत्रों के साथ-साथ होते हुए भी समान तथा स्वतंत्र होते हैं।'' व्हीयर ने यह भी माना है कि संघीय सिद्धांत को संविधान में अंगीकृत करना ही पर्याप्त नहीं है उनके अनुसार शासन का रूप संघीय है अथवा नहीं यह उसके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। अत: संघीय सिद्धांत को शासन में व्यवहार रूप में और संविधान में सिद्धान्तत: क्रियान्वित किया जाना चाहिए। संघीय राज्य के संविधान एवं सरकार दोनों ही संघीय होने चाहिए। व्हीयर संघीय शासन और संघीय संविधान में भी भेद करते हैं और यह बताते हैं कि किसी देश का संविधान संघीय हो तो भी यह संभव है कि व्यवहारिक रूप में उसकी कार्य-प्रणाली संघीय न हो अथवा एक गैर—संघीय संविधान व्यवहार में संघीय सरकार का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संघीय शासन अन्य राजनीतिक संस्थाओं की ही तरह विकास का परिणाम है। किन्हीं दो संघात्मक शासनों को एक जैसा नहीं कहा जा सकता और न ही किन्हीं दो संघीय सरकारों का उदय अथवा विकास समान होता है। प्रत्येक संविधान संबंधित देश, काल और जन आवश्यकताओं का परिणाम होता है। संघात्मक शासन किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। अत: यह किसी समाज विशेष की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में सुशासन हेतु स्थापित व्यवस्था है और इसकी कोई भी परिभाषा इसके उद्देश्य के विपरीत नहीं हो सकती।

संघवाद के व्यवहारिक रूपों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि संघीय राज्यों के अंतर्गत इकाइयाँ अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रहते हुए भी केन्द्र के साथ सहयोग की ओर प्रवृत्त रहती हैं। यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि संघ व्यवस्था के अंतर्गत दो सत्ताओं की केवल स्वतंत्रता मात्र ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि इन सत्ताओं के मध्य सहयोग की अवस्था संघवाद की अनिवार्यता है। संघीय शासन वह प्रणाली है जिसमें क्षेत्रीय सत्ताएं पारस्परिक रूप से निर्भर राजनीतिक संबंधों में आबद्ध होती है। यह प्रणाली स्वत: ही ऐसे संतुलन को जन्म देती है कि कोई एक सत्ता दूसरे को आदेश तो नहीं देती पर प्रभावित आवश्य करती है साथ ही एक

दूसरे से सौदेबाजी भी कर सकती हैं।

8.3.2 संघात्मक शासन की विशेषताएं

संघवाद अथवा संघीय शासन की कुछ आवश्यक विशेषताएं निम्नांकित हैं—

(1) एक सर्वोच्च लिखित तथा कठोर संविधान का होना।

(2) केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय (क्षेत्रीय) सरकारों के मध्य संविधान द्वारा अनिवार्यत: शक्ति विभाजन की व्यवस्था का होना।

(3) एक स्वतंत्र, निष्पक्ष तथा सर्वोच्च न्यायपालिका का होना जो दो सरकारों के बीच विवादों में अंतिम निर्णय देने की शक्ति रखती है। ऐसा न्यायालय संविधान के संरक्षक की भूमिका का निर्वहन करता है।

उपर्युक्त अनिवार्य विशेषताओं के अतिरिक्त संघीय शासनों में कुछ अन्य विशेषताएं भी देखी जाती हैं जैसे दोहरी नागरिकता, दोहरी न्यायपालिका, केन्द्रीय व्यवस्थापिका में राज्यों का प्रतिनिधित्व (जो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्विसदनात्मक स्वरूप को अनिवार्य बना देता है। जिसमें एक सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है) आदि। संघ व्यवस्था के सुचारू रूप से कार्य करने हेतु कतिपय परिस्थितियां आवश्यक होती हैं। इनके अभाव में किसी संघीय व्यवस्था को संगठित करना तथा बनाए रखना मुश्किल होगा। इन्हें संघीय सरकार की पूर्व आवश्यकताएं भी कह सकते हैं। ये उन कारकों से मिलकर बनती हैं जो संघ की उत्पत्ति की इच्छा को जन्म देती हैं साथ ही ऐसे कारक भी बनते हैं जिनसे संघ व्यवस्था कार्य करती है। इनमें निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है :

(1) भौगोलिक सामीप्य—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है संघ की इकाइयाँ भौगोलिक दृष्टि से परस्पर संबंधित होनी चाहिए। भूक्षेत्र या समुद्र द्वारा बँटे राज्यों के मध्य किसी संघ की कल्पना नहीं की जा सकती। एक संघीय सरकार अपनी सभी इकाइयों से न सिर्फ उनके बल्कि केन्द्रीय सरकार के मामलों में भाग लेने की अपेक्षा रखती है। भौगोलिक दूरियां इकाइयों में लापरवाही का कारण बन सकती हैं साथ ही ये राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में भी बाधा बनती हैं।

(2) सामान्य हित—भाषायी, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक समानताएं संघ—निर्माण में सहायक होती हैं। यद्यपि ये सदैव सुलभ नहीं हो सकतीं। यह तो निश्चित है कि संघवाद का उद्देश्य एकता तथा एकीकृत राष्ट्र को जन्म देना है। इसका उद्देश्य एकरूपता को लाना नहीं है। यह एकता 'विविधताओं के मध्य एकता' है। 'विविधताओं के रहते हुए संघ राज्य के घटक परस्पर अपनी एक सामान्य पहचान को जन्म देते हैं। संघवाद एक बहुल समाज को आपस में जोड़ने की एक प्रभावशाली व्यवस्था है जो 'विविधता में एकता' को जन्म देता है। भारत, स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलियाई संघ के उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है।

(3) सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की समानता—यह संघ निर्माण में एक महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि इसके माध्यम से ही संघीय इकाइयाँ एक रूपी तरीके से कार्य कर सकती है। के० सी० व्हीयर ने भी माना है कि संघ की कामना बिना राजनीतिक संस्थाओं की समानता और सामाजिक समानता के संभव नहीं है। यह बात महत्वपूर्ण है कि कुछ संघीय व्यवस्थाएं अपनी इकाइयों को अपने पृथक संविधान बनाने का अधिकार देती हैं। परन्तु संघीय संविधान में यह विशिष्ट रूप से प्राविधित होता है कि इकाइयों के संविधानों में राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में समानता होनी चाहिए। इसके उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा स्विट्जरलैण्ड में देखे जा सकते हैं। यही बात सामाजिक संस्थाओं के बारे में भी लागू होती है।

(4) एक आदर्श संघ की विशेषता संघ की इकाइयों के मध्य असमानता का अभाव होना है। यथासंभव आकार, जनसंख्या आदि की समानताएं संघ व्यवस्था को आदर्श बनाती है। यद्यपि व्यवहार में यह संभव नहीं है और सभी संघों में ऐसी इकाइयों के मध्य विषमताएं देखी जा सकती हैं। भारत का संघ इसका एक उदाहरण है परन्तु ये विषमताएं भारत में संघीय व्यवस्था के

संचालन में बाधक नहीं हैं। इतना अवश्य है कि ऐसी विषमताओं के रहते छोटी इकाइयों के विशेष 'रक्षा-उपायों' की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि बड़ी इकाइयों के एकाधिकार से उन्हें बचाया जा सके।

(5) आर्थिक संसाधनों की पर्याप्तता भी संघ की इकाइयों के लिए आवश्यक है। ऐसी इकाइयां जो आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं होती वे केन्द्रीय सहायता पर आश्रित हो जाती हैं और दूसरी इकाइयों में इससे असंतोष का पनपना स्वाभाविक है।

(6) एक संघ व्यवस्था शासन के जटिल स्वरूप को बताती है। अत: इसकी सफलता नागरिकों की राजनीतिक जागरूकता तथा सक्षमता पर निर्भर करती है। प्रत्येक इकाई के पास एक सुयोग्य एवं सतत् राजनीतिक नेतृत्व का होना एक अनिवार्यता है। इसके अभाव में इकाइयां न तो स्वशासन कर पाएंगी और न ही संघ शासन से समन्वय।

इनके अतिरिक्त क्षेत्रीय संतुलन, अच्छी संगठित दलीय व्यवस्था, संघ के प्रति स्वामिभक्ति अथवा देश भक्ति आदि ऐसी परिस्थितियां हैं जो संघ के सफल कार्यान्वयन हेतु आवश्यक हैं।

8.3.3 संघ तथा परिसंघ

संघवाद अथवा संघीय शासन को समझने के लिए संघ तथा परिसंघ के मध्य के अंतर को जान लेना अनिवार्य है। परिसंघ की धारणा संघ से पुरानी है। स्विट्जरलैण्ड में यह विचार तेरहवीं सदी से ही चला आ रहा है। अमेरिका में भी संविधान निर्माण से पूर्व अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा के बाद जिस व्यवस्था को स्थापित करने का उद्देश्य रखा गया उसके लिए निर्धारित व्यवस्था की नियमावली को "आर्टिकल्स ऑफ दि कॅन्फेडरेशन' कहा गया था। जो बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का आधार बने। परिसंघ शब्द एक लचीले संघ या समूह का परिचायक है **गार्नर** ने कहा है कि "अधिकांश लेखक इस बात से सहमत हैं कि परिसंघ राज्यों का एक ऐसा संघ अथवा समूह है जिसका निर्माण कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति अथवा अभिवृद्धि के लिए किया जाता है, विशेषतया उन राज्यों की सामूहिक बाह्य सुरक्षा के अनुरक्षण के लिए।" वैसे तो संघ-राज्य के निर्माण का आधार भी बहुत कुछ सीमा तक इसी प्रकार का होता है। परन्तु मुख्य अंतर यह है कि परिसंघ का आधार बाह्य सुरक्षा होता है जबकि संघ में आंतरिक व्यवस्था की स्थापना भी महत्वपूर्ण आधार होती है। संघ तथा परिसंघ के मध्य निम्नलिखित दृष्टियों से भेद किया जा सकता है :

(1) संघ निर्माण के फलस्वरूप एक नए प्रभुत्व संपन्न राष्ट्र का जन्म होता है और इसमें सम्मिलित होने वाले संप्रभु राज्य नए राज्य के पक्ष में अपनी संप्रभुता का परित्याग कर देते हैं। इसके विपरीत परिसंघ में सम्मिलित होने वाले राज्य अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखते हैं।

(2) संघ एक राष्ट्र-राज्य है। जिसकी एक निश्चित भू-सीमा होती है। तथा जिसमें राष्ट्र राज्य की दो मुख्य विशेषताएं क्षेत्रीय अखण्डता तथा राष्ट्रीय संप्रभुता विद्यमान रहती हैं। परिसंघ को कुछ प्रभुत्व संपन्न राष्ट्र-राज्यों के एक ढीले-ढाले अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है

(3) संघ का एक संविधान होता है जो सर्वोच्च राष्ट्रीय कानून होता है जबकि परिसंघ सदस्य राष्ट्रों के मध्य एक समझौता मात्र है। इसका कोई संविधान नहीं होता। गार्नर के अनुसार परिसंघ की सृष्टि विशुद्धतया संविदागत है जिसका आधार अंतर्राष्ट्रीय सहमति है न कि संवैधानिक कानून और इसका स्वरूप राजनीतिक है न कि विधिक।

(4) संघ की सदस्यता नागरिकों तथा संघ में सम्मिलित इकाइयों दोनों को प्राप्त होती है जबकि परिसंघ की सदस्यता सिर्फ उसमें शामिल राष्ट्रों को प्राप्त होती है। परिसंघ की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के लिए सदस्यों की नियुक्ति राज्यों की सरकारें करती हैं न कि राज्यों की जनता अथवा नागरिक इसी प्रकार परिसंघ की विधियां सदस्य राज्यों के नागरिकों पर लागू नहीं होती।

(5) परिसंघ के सदस्यों के मध्य युद्ध अंतर्राष्ट्रीय युद्ध माना जाता है जबकि संघ के घटकों के मध्य क

संघर्ष गृहयुद्ध माना जाता ह।

(6) परिसंघ की सदस्यता का परित्याग बहुत आसान होता है जबकि संघ के किसी घटक द्वारा संघ से पृथक होने का प्रयास राष्ट्रीय अखण्डता के विरूद्ध राजद्रोह माना जाता है और संघ सरकार उसके विरूद्ध कानूनी कार्यवाही भी कर सकती है। इस संदर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि "संयुक्त राज्य अमेरिका अविनाश्य राज्यों द्वारा निर्मित अविनाश्य संघ है।" भारत में घटक राज्यों के अस्तित्व आकार तथा नाम आदि में परिवर्तन करने का अधिकार भारतीय संघ को प्राप्त है। परन्तु घटकों को संघ से पृथक होने की वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है। वर्तमान समय में विश्व की अनेक राज्य व्यवस्थाएं संघात्मक सिद्धांतों" पर ही आधारित हैं भले ही इन सभी व्यवस्थाओं में संघीय तत्व तथा विशेषताएं एक समान नहीं हैं फिर भी उन्हें संघ राज्य मानने के स्पष्ट आधार मौजूद हैं। वर्तमान में परिसंघ की धारणा के उदाहरण नहीं मिलते। बीसवीं शताब्दी में जन्मे अंतर्राष्ट्रीय संगठन अथवा सैनिक गुटों को परिसंघ के दृष्टांत के रूप में नहीं देखा जा सकता। प्राचीन यूनान में, प्राचीन भारत में या मध्य-युगीन यूरोप में कतिपय परिसंघों के दृष्टांत अवश्य देखे जा सकते थे।

8.3.4 संघीय शासन के गुण

संघीय शासन को शासन प्रणालियों के एक वांछित रूप में व्यापक रूप से सराहा गया है। इस हेतु इसके कुछ लाभ अथवा गुण निम्नवत हैं :

(1) यह राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है। यह एक ऐसी पद्धति है जो संघ में शामिल इकाइयों को अपनी पृथक पहचान बनाए रखने में उपयोगी है। ये इकाइयां अपने को संघ में पूर्णत: विलीन नहीं करती।

(2) संघ-राज्य शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों के विरूद्ध एक रक्षा कवच का काम करता है- संघ में शामिल हुए बिना छोटे राज्यों के लिए अपनी स्वतंत्रताओं को बनाए रखना एक दुष्कर कार्य है। संघवाद का उदय एक बड़ी सीमा तक युद्धों के उन्मूलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में कारगर साबित हुआ है।

(3) संघ-व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है। इसके आर्थिक लाभ इस प्रकार हैं—

(i) सामान्य हितों के विषयों का प्रशासन एक केन्द्र द्वारा किये जाने के कारण इकाइयों को विशेष व्यवस्थाए नहीं करनी होती।

(ii) राज्यों के मध्य चुंगी शुल्क जैसे झगड़ों की सम्भावना नहीं रहती।

(iii) अंतर्राज्यीय उद्योग तथा वाणिज्य को संघ शासन में प्रोत्साहन मिलता है।

(iv) संघीय राज्य कच्चे माल तथा उत्पादित माल के लिए एक बड़े घरेलू बाजार को निर्मित करते हैं।

(v) संघ शासन का दायित्व संघ की सुरक्षा करना है। अत: संघ की ईकाइयों को अपनी सुरक्षा की चिन्ता नहीं करनी होती न ही उन्हें अपनी विदेश नीति हेतु चिन्ता करनी होती हैं। एक सामूहिक सामान्य सुरक्षा तथा विदेश नीति इकाइयों के इस मद में आर्थिक बोझ को समाप्त कर देती है।

(vi) अंतत: निवर्तमान संघीय राज्यों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा अथवा भारत की आर्थिक सम्पन्नता इस विषय में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती कि संघ-व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है।

(4) संघ-व्यवस्था एक देश की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि करती है। इस बात को इस रूप में देखा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ में शामिल किसी एक राज्य की अपनी स्वतंत्र

वैयक्तिक प्रतिष्ठा एवं वैभव की ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती जो संयुक्त राज्य अमेरिका की है। यही बात अन्य संघों की इकाइयों के बारे में भी लागू होती है। इसी बात को पूर्व सोवियत संघ के उदाहरण से भी व्यक्त किया जा सकता है। सोवियत संघ के विघटन के बाद पूर्व सोवियत संघ से पृथक हुए राज्य आज भले ही स्वतंत्र संप्रभु राज्य हैं पर उनकी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा सोवियत-संघ जैसी नहीं है।

(5) भाषा, धर्म, जाति आदि की विभिन्नता वाले देश के लिए संघ शासन विशेष रूप से उपयोगी है। एक संघीय व्यवस्था के अंतर्गत इन विभिन्नताओं की रक्षा तथा संघ की एकता स्थापित की जा सकती है। भारत जैसे देश जहाँ इतनी विविधताएं मौजूद हैं, एक संघीय शासन के बिना आज अकल्पनीय लगता है।

(6) संघ शासन विशाल देशों के लिए अधिक उपयुक्त पद्धति है। प्रशासनिक क्षमता की दृष्टि से भी विशाल देशों में संघीय शासन ही श्रेष्ठ है।

(7) संघीय शासन में सार्वजनिक जीवन में विभिन्न प्रकार के प्रयोगों जैसे—राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक हेतु सुगमता पूर्वक अवसर प्राप्त होता है।

(8) संघीय शासन केन्द्रीय स्वेच्छाचारिता को रोकने का एक कारगर उपाय है।

(9) संघीय शासन स्थानीय मामलों की समुचित देखभाल को भी आसानी से उपलब्ध करा सकता है। यह भी कहा जाता है कि संघीय व्यवस्था राज्य के विध्वंस के विरूद्ध एक कवच का काम करती है। संघीय व्यवस्थाओं में आपसी झगड़ों मनमुटावों, युद्धों व राष्ट्रीय वियोजन को रोकने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहते हैं। यह एक विषमांगी जनसमूह में से एक शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है इसीलिए **सिजविक** ने टिप्पणी भी की है कि **'संघवाद शासन प्रणालियों से संबंधित सभी राजनीतिक प्रयोगों में सर्वाधिक सफल है।'**

(10) संघीय शासन 'विश्व-राज्य' जैसे आदर्श के लिए भी एक प्रतिमान के रूप में कार्य करता है।

लार्ड ब्राइस तथा **इरमन फाइनर** ने संघीय शासन के गुणों को सूचीबद्ध किया है। उनके अनुसार संघीय शासन में निम्नलिखित गुण पाए जाते है—

(1) राष्ट्रीय राज्य के अंतर्गत छोटे राज्यों को अपना अस्तित्व बनाए रखना संभव होता है।

(2) देश की उन्नति शीघ्रता एवं सुचारू रूप से संभव होती है।

(3) नागरिकों की स्वतंत्रता की अधिक संभावना रहती है तथा केन्द्रीय शासन की निरंकुशता में वृद्धि नहीं होने पाती।

(4) शासन संबंधी नवीन प्रयोग संभव होते हैं।

(5) संघीय शासन देश के विस्तार तथा विभिन्नता जनित दोषों को कम करता है।

(6) शासन को स्थानीय जन समस्याओं का ज्ञान रहता है और स्थानीय शासन में भी जनता सक्रिय भाग लेती है।

(7) केन्द्रीय व्यवस्थापिका का कार्यभार कम हो जाता है।

(8) जनता को राजनीतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण मिलता है।

(9) नवीन प्रयोगों के दुष्परिणाम एक क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं जबकि सफलता के लाभ सभी क्षेत्रों को प्राप्त हो सकते हैं।

8.3.5 संघीय शासन के दोष

संघीय शासन में निम्नलिखित दोष भी देखे जाते हैं :

(1) शासन में विधि, प्रशासकीय संगठन तथा कार्यपद्धति की विभिन्नता पाई जाती है। केन्द्रीय तथा इकाइयों के शासनों की अलग-अलग विधियाँ जनसामान्य के लिये कठिनाइयों का कारण बन सकती

है। अंतर्राज्यीय व्यापार में भी प्राय: कठिनाईयां उत्पन्न होती है। बहुधा अनेक ऐसे विषय होते हैं जो सामान्य महत्व के होते हैं परन्तु इकाइयों के क्षेत्राधिकार में होने के कारण इनके सम्बन्ध में विधियों एवं नियमों की विभिन्नतायें पाई जाती हैं।

(2) संघ राज्य में दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण यह व्यवस्था अधिक खर्चीली है। संघीय शासन में सेवायें भी दो प्रकार की होती हैं। इनसे भी शासनिक व्ययभार बढ़ जाता है।

(3) केन्द्रीय तथा इकाइयों की सरकारों के मध्य क्षेत्राधिकार संबंधी विवाद अकसर ही उत्पन्न होते रहते हैं जिनके कारण शासनिक कार्य कुशलता प्रभावित होती है।

(4) संघीय व्यवस्था में संविधान लिखित एवं कठोर होते हैं अत: उन्हें सुगमता से संशोधित नहीं किया जा सकता।

(5) संघ शासन का एक बड़ा दोष संघ की असंतुष्ट घटक इकाइयों द्वारा संघ से पृथक होने का भय है। संयुक्त राज्य अमेरिका में दासता के प्रश्न पर ऐसी ही परिस्थिति का जन्म हुआ और गृह युद्ध का सूत्रपात हुआ। पृथकतावादी प्रवृत्ति संघ-शासन को कमजोर करती है। संघ-राज्य में विघटनकारी प्रवृत्ति का पनपना स्वाभाविक एवं सरल भी होता है। भारतीय संघ में विगत कुछ वर्षों में ऐसी प्रवृत्तियों को अनुभव भी किया जा चुका है। इसके साथ ही संघ-राज्यों में यह संभावना भी बनी रहती है कि कुछ प्रभावशाली इकाइयां अपना पृथक गुट बनाकर संपूर्ण संघ पर हावी होने और अपने हितों के संवर्द्धन हेतु प्रयासरत हो सकती हैं।

(6) लॉकॉक ने संघ शासन को राजनीतिक तथा बाह्य मामलों में शक्तिशाली और आंतरिक तथा आर्थिक मामलों में कमजोर बताया है। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के दृष्टांत से यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती है। डायसी तथा हरमन फाइनर ने संघीय शासन की कुछ कठिनाइयों को उजागर किया है। फाइनर के अनुसार संघीय शासन की मुख्य कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं :

(i) दोहरी प्रशासनिक व्यवस्था इसे खर्चीला बना देती है। यह समय तथा शक्ति की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होती। यातायात, स्वास्थ्य, रोजगार जैसी समस्याएं आसानी से हल कर पाना संघीय शासन में दुष्कर होता है।

(ii) संविधान संशोधन कठिनता से ही हो पाता है।

(iii) जनता को संघीय शासन में अनेक उलझनों का सामना करना पड़ता है। व्यक्तिगत अधिकारों एवं दायित्वों संबंधी मामलों में अपेक्षाकृत अस्पष्टता रहती है। किसी सत्ता के क्या अधिकार हैं यह विवादका विषय होता है। अत: संघीय राज्य में केन्द्र एवं राज्यों में क्षेत्राधिकार को लेकर अनेक विवाद उठा करते हैं।

(iv) शासन से संबंधित अनेक कार्य ऐसे होते है जिन्हें संघ शासन के अंतर्गत पूर्ण करना संभव नहीं होता। इसी कारण यह है कि संघीय शासन में शक्तियों का विभाजन विगत पीढ़ियों की आवश्यकता एवं परिस्थितियों की दृष्टि से होता है। वर्तमान पीढ़ी के आर्थिक एवं सामाजिक कर्तव्यों के संपादन के लिए अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रीयकरण की आवश्यकता होती है। शक्तियों के विभाजन द्वारा इस वांछनीय केन्द्रीयकरण का अभाव होता है। संघ शासन में सत्ता के केन्द्रीयकरण का निषेध होता है।

8.4 सारांश

शासन व्यवस्थाओं का एकात्मक तथा संघात्मक रूपों में वर्गीकरण शासन व्यवस्था से कहीं अधिक राज्य संरचना तथा संगठन को प्रदर्शित करता है। इसलिए हम प्राय: किसी राज्य को एकात्मक अथवा

संघात्मक कहकर पुकारते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी अभिव्यक्तियां राज्य की शक्ति के एक केन्द्र में केन्द्रित रहने अथवा सहयोगी सत्ताओं में विभक्त रहने की स्थितियों को दर्शाती हैं। संघवाद निश्चित रूप से राज्य एवं शासन पर एक प्रयोग है और विशाल तथा विविधताओं से युक्त किसी राज्य के लिए आवश्यक व्यवसथा। यह तथ्य ना स्मरणीय है कि विश्व के सभी संघों में केन्द्रीयकरण की प्रवत्ति पायी जाती है। परन्तु ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जहाँ एक संघीय राज्य एकात्मक राज्य में परिवर्तित हो गया हो। के० सी० ह्वीयर के शब्दों में "संघवाद विजय की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रहा है।" सी० एफ० स्ट्रांग के शब्दों में यदि विश्व अंतर्राष्ट्रीय अराजकता को छोड़कर विश्व राज्य तक पहुँचेगा, तो वह निश्चित रूप से संघात्मक प्रणाली के द्वारा ही पहुँचेगा।

8.5 उपयोगी पुस्तकें

1.	डब्लू० एफ० विलोबी	:	दि गवर्नमेंट आफ मार्डन स्टेट्स
2.	के० सी० व्हीयर	:	फेडरल गवर्नमेंट
3.	लीकॉक	:	एलीमेन्ट्स ऑफ पालिटिकल साइंस
4.	डायसी	:	इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ दी लॉ आफ कान्स्टीट्शन
5.	जे० ए० आर० मेरियट	:	दि मैकेनिज्म ऑफ दि मार्डन स्टेट
6.	कार्ल जे० फ्रैडरिक	:	ट्रैन्डस ऑफ फेडेरलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस
7.	ए० सी० कपूर	:	सेलेक्ट कान्स्टीट्यूशन्स

8.6 सम्बन्धित प्रश्न

(A) लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए—

(i) एकात्मक शासन के लक्षण

(ii) संघवाद की परिभाषा

(iii) संघ व परिसंघ में अंतर

(iv) संघवाद के प्रमुख लक्षण

(v) शक्ति विभाजन

(vi) दोहरी नागरिकता

(B) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(i) एकात्मक शासन के गुण-दोषों का परीक्षण कीजिए।

(ii) संघात्मक शासन प्रणाली के गुण-दोषों का परीक्षण कीजिए।

(iii) "सभी संघों में केन्द्र को अधिकाधिक शक्ति प्रदान करने की समान्य प्रवृत्ति पाई जाती है।" उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

(C) वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. निम्न में से कौन एकात्मक सरकार की विशेषता नहीं है।
   (a) राज्य की शक्ति केवल एक केन्द्रीय सरकार में निहित
   (b) प्रभुत्व शक्ति का एक केन्द्र
   (c) एकहरी नागरिकता
   (d) संविधान की सर्वोच्चता
2. यह किसका कथन है कि "एकात्मक शासन व्यवस्था में कानून बनाने की सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित रहती है।"
   (a) फाइनर
   (b) डायसी
   (c) गार्नर
   (d) गैटल
3. एकात्मक शासन व्यवस्था वाले राज्यों में केन्द्र एवं राज्य की स्थिति कैसी होती है।
   (a) केन्द्र तथा राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च होते हैं।
   (b) केन्द्र तथा राज्यों की शक्ति समान होती है।
   (c) राज्यों की तुलना में केन्द्र कमजोर होता है।
   (d) केन्द्र सर्वशक्तिशाली होता है।
4. यह किसका कथन है कि "संघात्मक सरकार एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है, जिसमें राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति के साथ-साथ राज्यों के अधिकारों की भी सुरक्षा बनी रहती है।"
   (a) डायसी
   (b) गार्नर
   (c) फाइनर
   (d) गैटल
5. निम्न में से कौन संघात्मक शासन की विशेषता है।
   (a) एक लिखित संविधान
   (b) दोहरी सरकार
   (c) स्वतंत्र तथा सर्वोच्च न्यायपालिका
   (d) उपरोक्त सभी
6. संविधान की सर्वोच्चता किस शासन प्रणाली की विशेषता है।
   (a) एकात्मक शासन
   (b) संघात्मक शासन
   (c) संसदीय शासन
   (d) अध्यक्षीय शासन

8.7 प्रश्नोत्तर

1. (d) 2. (b) 3. (d) 4. (a) 5. (d) 6. (b)

इकाई 9 : प्रजातंत्र एवं तानाशाही

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 लोकतंत्र की परिभाषाएं

- 9.2.1 लोकतंत्र का संक्षिप्त इतिहास तथा विशेषताएं
- 9.2.2 लोकतंत्र के रूप
- 9.2.3 लोकतंत्र के गुण
- 9.2.4 लोकतंत्र के दोष
- 9.2.5 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाएं

9.3 अधिनायकतंत्र अथवा तानाशाही

- 9.3.1 तानाशाही की परिभाषा
- 9.3.2 तानाशाही की विशेषताएं
- 9.3.3 अधिनायकतंत्रों/तानाशाही के गुण तथा दोष

9.4 सारांश

9.5 उपयोगी पुस्तकें

9.6 सम्बन्धित प्रश्न

9.7 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- प्रजातंत्र के आधार, लक्ष्य एवं प्रजातंत्र के आदर्श की व्याख्या कर सकेंगे।
- एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप को वर्णन कर सकेंगे।
- उपरोक्त व्यवस्थाओं के गुण दोषों की समीक्षा कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

शासनों के वर्गीकरण में सरकारों को प्रजातांत्रिक तथा तानाशाही इन दो रूपों में विभाजित करने की परम्परा काफी पुरानी है। यूनानी काल से ही पाश्चात्य जगत में शासनों के जनतांत्रिक स्वरूपों को बताया गया है। प्राचीन-भारत में भी जनतांत्रिक शासनों के स्वरूपों का विवेचन देखने को मिलता है। आधुनिक समय में जनतंत्र जिसे प्रजातंत्र अथवा लोकतंत्र के नाम से भी जाना जाता है, एक सर्वमान्य शासन व्यवस्था का रूप है। 'जनतंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्दों क्रमश: 'डेमॉस' और 'क्रेसिया' से हुई है जिनका अर्थ 'जनता' और 'सरकार' से है। इस तरह जनतंत्र का अभिप्राय जनता के शासन हैं।

जनतंत्र की परिभाषा विचारकों के दो अलग-अलग समूहों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पहला समूह जनतंत्र को एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली के रूप में व्यक्त करता है जहाँ राजनीतिक शक्ति के ऊपर जनता का नियंत्रण होता है। दूसरा समूह जनतंत्र को एक व्यवस्था अथवा शासन प्रणाली से अधिक मानव जीवन अथवा मानव समाज के एक दर्शन के रूप में देखता है। इस

अर्थ में जनतंत्र एक जीवन प्रणाली हो जाता है जो कि उन आदर्शों तथा प्रवृत्तियों का समुच्चय है जो किसी समाज के सदस्यों के आचरण को प्रेरित तथा निदेशित करता है। ऐसी प्रेरणा तथा निदेशन समाज के सदस्यों द्वारा न सिर्फ राजनीतिक मामलों में बल्कि आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक संबंधों में भी अपनाया जाता है। जनतंत्र को वस्तुत: एक ऐसी जीवन प्रणाली के रूप में ही देखा जाना चाहिए जिसके अंतर्गत मानवीय क्रियाओं की स्वैच्छिक अभिव्यक्ति का समरूपीकरण तथा समन्वयीकरण बिना किसी बाध्यकारिता के हो सकता है। जनतंत्र एक प्रणाली के रूप में मानवीय प्रकृति तथा वैश्विक प्रकृति के अनुरूप है। **डॉ० बेनी प्रसाद** ने इसे 'सामाजिक नियंत्रण की एक व्यवस्था' कहा है जिसके अंतर्गत क़िसी समुदाय की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। यह कतिपय लोकप्रिय विचारों के प्रति सम्मान को दर्शाता है अत: लोकप्रिय सद्भावना पर आधारित है। **डॉ० बेनी प्रसाद** इसके नकारात्मक और सकारात्मक स्वरूपों को भी बताते हैं। नकारात्मक रूप में यह शासनों की स्थायी विशेषता है जबकि सकारात्मक रूप में इसे जन सामान्य के मामलों के प्रबंधन में सक्रिय सहभागिता कहा जा सकता है। प्रो० हरमन फाइनर ने लिखा है कि 'प्रजातंत्र शब्द के इतने विविध अर्थ हैं कि इसके बहुत सावधानीपूर्वक विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है।'

जनतंत्र का विकास एक स्वेच्छाचारी शासन के विरोध स्वरूप ही हुआ है। यद्यपि प्रजातंत्र के सिद्धांतकारों के मध्य इसके आदर्शों के बारे में मतभेद हैं। कुछ लोग स्वतंत्रता को प्रजातंत्र का आदर्श मानते हैं तो कुछ समानता को वस्तुत: स्वतंत्रता तथा समानता के विचार प्रजातंत्र के सिद्धांत के अभिन्न अंग हैं और स्वतंत्रता का दावा समानता की प्राप्ति के साधन के रूप में ही किया जाता है।

आज के संदर्भ में प्रजातंत्र का अध्ययन करने से पूर्व इसके विविध अर्थों प्रेरकों तथा प्रयोगों को जान लेना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि आज प्रजातंत्र सिर्फ एक शासन का रूप अथवा राज्य का रूप न होकर एक सामाजिक दर्शन बन गया है। एक सामाजिक दर्शन के रूप में जनतंत्र का विचार अपने में 'स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व' की अभिव्यक्ति करने वाला है। संवैधानिक जनतंत्र कानून के अधीन स्वतंत्रता की अनुमति देता है पर कानून समुदाय के सदस्यों के राजनीतिक समर्थन से उत्पन्न होना चाहिए। समानता ऐतिहासिक रूप से प्रजातंत्र से संबंधित है जिसका अभिप्राय कानून के समक्ष समानता तथा अवसर की समानता से है। आज जनतंत्र के बहुत से सिद्धांतकार समानता को राजनीतिक क्षेत्र से विस्तृत कर आर्थिक क्षेत्र में दर्शाने का प्रयास करते हैं। भ्रातृत्व का अभिप्राय जनतंत्र के उस आदर्श से है जो एक ऐसे समाज में प्रतिबिंबित होता है जहाँ लोग दूसरों के साथ रहते हुए भी स्वतंत्र हों, समान हों और ऐसी समानता परस्पर सहयोगी हो। इस तरह एक जनतांत्रिक व्यवस्था के क्रमश: सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तीन पक्ष है और किसी भी समाज में इन तीनों के अभाव में जनतंत्र अपूर्ण होगा। सामाजिक पक्ष का अभिप्राय समाज में वर्ग, जाति, रंग, धर्म अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव की समाप्ति से है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी स्त्री तथा पुरुष, अमीर अथवा गरीब बिना भेदभाव के तथा बिना पूर्वाग्रहों के सामाजिक दृष्टि से समान समझे जाएंगे। आर्थिक पक्ष का अभिप्राय समाज में सम्पत्ति के औचित्यपूर्ण वितरण से है। इसमें किसी समाज में व्याप्त घोर असमानताओं की समाप्ति का विचार निहित है। इसीलिए आर्थिक प्रजातंत्र काम का अधिकार, विश्राम का अधिकार, उचित श्रम का अधिकार तथा जीवन के उपभोग के अप्रतिबंधित अधिकार को मान्य करता है। राजनीतिक पक्ष से अभिप्राय राजनीतिक अधिकारों के प्रावधान से है जिसके अंतर्गत मत देने, निर्वाचन में भाग लेने तथा सार्वजनिक पद धारण करने के अधिकार सम्मिलित हैं। इन अधिकारों के प्रयोग को वास्तविक बनाने के लिए प्रत्येक नागरिक को भाषण की स्वतंत्रता, प्रकाशन की स्वतंत्रता तथा संघ एवं समुदाय बनाने की स्वतंत्रता प्राप्त होना आवश्यक है।

मैकाइवर के अनुसार हम प्रजातंत्र की परिभाषा इसकी भावना से नहीं करते क्योंकि प्रजातंत्र एक तरह की शासन प्रणाली है परन्तु मानवों ने प्रजातंत्र को संघर्ष के द्वारा प्राप्त किया है और यह संघर्ष एक शासन प्रणाली के लिए नहीं था बल्कि एक जीवन पद्धति के लिए था। इसीलिए **मैकाइवर** लिखते हैं कि "जनतंत्र बहुसंख्यकों द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से शासन करने की प्रणाली नहीं है, मूलत: यह निर्णय करने का तरीका है कि शासन कौन करेगा तथा मोटे तौर पर उस शासन का

उद्देश्य क्या होगा?'' **लिण्डसे** के अनुसार प्रजातांत्रिक शासन का लक्ष्य समाज के सामूहिक जीवन का संचालन करना है साथ ही उन विसंगतियों को भी दूर करना है जो कि इनके लिए संकट उत्पन्न करती हैं।

प्रजातंत्र का पूर्ण विवेचन करने से पूर्व इसकी आधारभूत मान्यताओं को जान लेना भी आवश्यक है जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में सूचीबद्ध कर सकते हैं :

(1) मनुष्य की विवेकशीलता।

(2) मनुष्य का एक नैतिक प्राणी होना।

(3) मानव समानता।

(4) मनुष्य में यह योग्यता होना कि वह उन्नति कर सकता है।

(5) मनुष्य में स्वशासन की आकांक्षा।

(6) स्वतंत्रता (जो वैयक्तिक और सामूहिक दोनों है)

(7) प्रजातंत्र 'विचारों के सह-अस्तित्व' से संबंधित है।

(8) प्रजातंत्र का मनोवृत्तिक आधार एक मानसिक आदत से है। यह आदत कतिपय मौलिक मान्यताओं पर सहमति की आदत है।

(9) प्रजातंत्र सामाजिक समरसता मापदण्ड है।

(10) राजनीतिक शक्ति के ऊपर संवैधानिक संरचना की मर्यादा।

(11) प्रजातंत्र कतिपय मूल्यों को स्वीकारोक्ति प्रदान करता है। ये मूल्य हैं: सामान्य हित, स्वतंत्रता समानता, भ्रातृत्व, न्याय और इन सबसे बढ़कर प्रत्येक व्यक्ति का अपने मत को अभिव्यक्त करने का अधिकार तथा इस अधिकार के संरक्षण हेतु सभी आवश्यक अवसरों की उपलब्धता।

9.2 लोकतंत्र की परिभाषाएं

लोकतंत्र अथवा प्रजातंत्र की परिभाषाएं एक शासन प्रणाली तथा राज्य के रूप दोनों ही तरह से की गयी है। इसके साथ ही प्रजातंत्र को एक सामाजिक दर्शन के रूप में भी संदर्भित किया जाता है। **हर्नशां** के अनुसार ''एक प्रजातांत्रिक राज्य वह राज्य है जिसमें संपूर्ण रूप में समुदाय के हाथों में सर्वोच्च सत्ता निहित होती है तथा संपूर्ण समुदाय ही अपने मामलों के ऊपर नियंत्रण रखता है। एक प्रजातांत्रिक राज्य उस तरीके को बताता है जो सरकार की नियुक्ति, उस पर नियंत्रण तथा उसे अपदस्थ करने से संबंधित है।'' एक शासन प्रणाली के रूप में प्रजातंत्र को परिभाषित करते हुए **डायसी** ने लिखा है कि ''जहाँ शासकीय निकाय अपेक्षाकृत एक विशाल अंग हो अथवा संपूर्ण राष्ट्र का एक बड़ा हिस्सा हो।'' **लार्ड ब्राइस** ने प्रजातांत्रिक शासन को इस तरह परिभाषित किया है ''जहां राज्य की शासन शक्ति वैधानिक रूप में, संपूर्ण रूप में समुदाय के सदस्यों में निहित हो न कि किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथों में।'' इसका अर्थ यह है कि एक समाज में शासन मतदाताओं के हाथों में होता है और इसका संचालन बहुमत द्वारा किया जाता है क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई तरीका नहीं है। इसीलिए प्रजातंत्र की परिभाषा जो अब्राहम लिंकन द्वारा की गयी है वह एक सार्वभौम परिभाषा के रूप में जानी जाती है। **लिंकन** के अनुसार ''प्रजातंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।'' **सीले** ने प्रजातंत्र की परिभाषा एक ऐसे शासन के रूप में की है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का सहभाग हो।'' **सर हेनरी मैन** लोकतंत्र को 'शासन का एक विशेष स्वरूप तथा 'एक प्रकार मात्र' मानते हैं। **लावेल** ने भी प्रजातंत्र को 'शासन पर एक प्रयोग मात्र' कहा है।

उपर्युक्त परिभाषाएं यह स्पष्ट करती हैं कि प्रजातंत्र जनता का या उसके बहुसंख्यक भाग का शासन है परन्तु वास्तव में न तो जनता और न ही उसका बहुसंख्यक वर्ग शासन करता है। जनतंत्र जनता की तरफ से अथवा जनता का समर्थन प्राप्त शासन है। जैसा कि पूर्व में मैकाइवर के संदर्भ में कहा जा

चुका है। **लास्की** के विचार भी प्रजातंत्र को इसी रूप में व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार "लोकतंत्र शासन का वह रूप है जिसके अंतर्गत मनुष्यों को उस शासन के निर्माण का अवसर मिलता है जिसके अधीन उन्हें रहना पड़ता है तथा शासन द्वारा निर्मित विधियां सब पर समान रूप से लागू होती हैं।" **एफ० सी० विल्सन** का यह विचार भी ध्यान देने योग्य है कि "लोकतंत्र किन्हीं दो राज्यों में समान नहीं होता विभिन्न जनतांत्रिक राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न तथा विस्तृत शासकीय संस्थाएं राष्ट्रीय विकास हेतु निर्मित की जाती है। जिनमें तमाम बातों में मौलिक समरूपता भी है पर मौलिक अन्तर भी है।"

कुछ विद्वानों ने लोकतंत्र को शासन के स्वरूप के अतिरिक्त कुछ अधिक आगे माना है और यह राज्य व समाज का स्वरूप है। लोकतंत्रीय शासन में एक लोकतंत्रीय राज्य निहित होता है पर यह आवश्यक नहीं कि लोकतंत्रीय राज्य का शासन अनिवार्यत: लोकतंत्रीय ही हो। लोकतंत्रीय राज्य किसी भी शासन में संगति रख सकता है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि संकट काल में एक लोकतंत्रीय राज्य सर्वोच्च सत्ता एक अधिनायक को प्रदान कर सकता है। इस अर्थ में **हर्नशां** का कथन महत्त्वपूर्ण है कि "लोकतंत्र शासन व्यवस्था का एक स्वरूप मात्र नहीं—लोकतंत्र में दो वस्तुएं हैं जो तर्क की दृष्टि से अन्योन्याश्रित हैं तथा व्यवहार में भी अधिक महत्वपूर्ण हैं और यह है—राज्य का एवं समाज का विशेष स्वरूप" अत: लोकतंत्र संकीर्ण अर्थ में केवल एक शासन पद्धति है परन्तु व्यापक अर्थ में वह समाज का सिद्धान्त तथा जीवन आदर्श है। जैसा कि **मैक्सी** ने लिखा है "यह ऐसी जीवन पद्धति की खोज है जिसमें व्यक्ति की इच्छा तथा क्रियाओं को बिना किसी दबाव के ही समन्वित किया जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि संपूर्ण मानवता के लिए ऐसा ही जीवन श्रेष्ठ है क्योंकि मानव एवं सृष्टि की प्रकृति के यह सर्वथा अनुकूल है।" लोकतंत्र जीवन के पति विशेष दृष्टिकोण का नाम है। इस रूप में जीवन के प्रति लोकतंत्रीय दृष्टिकोण विनय सुविधा, क्षमता, सहिष्णुता, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान आदि गुणों को महत्व देता है। लोकतंत्र को एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में भी सराहा तथा स्वीकारा गया है। प्राय: लोकतंत्र को धार्मिक सिद्धांतों जैसी ही मान्यता प्राप्त है।

9.2.1 लोकतंत्र का संक्षिप्त इतिहास तथा विशेषताएं

प्राचीन समय में चीन तथा भारतवर्ष में सर्वप्रथम स्वशासित नगर-राज्यों का उदय हुआ था। प्राचीन भारत में स्वशासित गणराज्यों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। परन्तु लोकतंत्र के स्पष्ट स्वरूप के विकास का श्रेय यूनानियों को ही जाता है। यूनान के लोकतंत्रीय नगर-राज्यों का उल्लेख यूनानी दार्शनिकों द्वारा किया गया है। परन्तु इस नगर-राज्यों में केवल सीमित रूप में नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त था। यूनानी लोकतंत्र का स्वरूप प्रत्यक्ष लोकतंत्रीय था परन्तु यह दासता एवं शोषण पर भी आधारित था। आधुनिक युग के प्रमुख तीन आधारभूत लोकतंत्रीय सिद्धान्त-'स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व' यूनानी लोकतंत्र में विद्यमान नहीं थे। रोमन काल में लोकतंत्र कभी भी नहीं रह पाया। इस काल में गणतंत्रीय युग में भी वहाँ लोकतंत्र नहीं था। मध्य युग में यद्यपि सामन्ती व्यवस्था का जोर था परन्तु इसी युग में प्रतिनिधित्व की धारणा का जन्म हुआ। इससे अप्रत्यक्ष लोकतंत्र के विकास हेतु मार्ग प्रशस्त हो गया। सामन्तवाद विकेन्द्रीकरण एवं परस्पर संविदा या समझौते पर आधारित व्यवस्था थी, मध्य युग में धार्मिक क्षेत्र में चर्च एवं चर्च की अन्य प्रबंधकारी समितियों, आर्थिक क्षेत्र में कारीगरों के संघों तथा व्यापारिक मण्डलों के संगठनों की रचना हुई। इसी काल में सामाजिक क्षेत्र में भ्रातृत्व संस्थाओं तथा दलों की स्थापना और छोटे-छोटे ग्राम संगठनों, व्यापारिक नगरों और राष्ट्रीय राज्यों के विकास ने प्रजातंत्रीय रूप को बहुत कुछ कायम रखा। 'सुधार आंदोलन' ने राजनीतिक लोकतंत्र के सिद्धान्त निश्चित किए। लोकतंत्र के वर्तमान स्वरूप के निर्माण तथा विकास में आधुनिक युग की चार क्रांतियों ने महत्वपूर्ण रूप में योगदान दिया है—

1. 1688 की इंग्लैण्ड की रक्तहीन (स्वर्णिम) क्रांति ने संसद की सर्वोच्चता की स्थापना की।
2. अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम की घोषणा (1776) तेरह ब्रिटिश उपनिवेशों द्वारा अपने को

स्वतंत्र घोषित करने तथा अपने एक संयुक्त राज्य को बनाए जाने की घोषणा से हुई। इस संयुक्त राज्य ने माण्टेस्क्यू तथा लॉक के व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धांतों को अपनाया।

3. फ्रांस की राज्य-क्रांति (1789) ने 'समानता-स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के सिद्धांत की स्थापना की।

4. औद्योगिक क्रांति ने आधुनिक पूँजीवादी की समस्त रूपरेखा को स्थिर कर लोकतंत्र की दृढ़तापूर्वक स्थापना की।

वस्तुत: एक राजनीतिक संस्थागत व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकट होता है। लोकतंत्रीय विकास क्रम में इसके जिन सिद्धांतों का विकास हुआ उन्हें निम्नवत सूचीबद्ध किया जा सकता है:

(1) सार्वभौम सुख का सिद्धांत जिसे लोकतंत्र के सभी समर्थक स्वीकार करते हैं इसका अभिप्राय यह है कि सुख मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य है।

(2) व्यक्ति को साध्य तथा अन्य सभी वस्तुओं को साधनमात्र मानना।

(3) मनुष्य का व्यक्तित्व पवित्र एवं सम्माननीय है। मनुष्य स्वभावत: अच्छा है। उसमें विवेक, बुद्धि एवं नैतिकता की स्वाभाविक चेतना है। अत: व्यक्ति की गरिमा लोकतंत्र के सिद्धान्त का आवश्यक अंग है।

(4) लोकतंत्र के दो आधार स्तंभ—स्वतंत्रता तथा समानता के सिद्धांत है।

(5) लोकतंत्र में जनता संप्रभु होती है। समाज की सामूहिक शक्ति संपूर्ण समाज में निहित होती है न कि किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह में।

इनके अतिरिक्त विशेषाधिकार जनित व्यवस्था का अंत, मानव की पूर्णता में विश्वास, समाज के लाभों में सभी का साझा होना, सामाजिक नीति के प्रश्नों पर जनता द्वारा निर्णय, सहमति, न कि हिंसा द्वारा सामाजिक परिवर्तन अर्थात् शांतिपूर्वक समझाने-बुझाने के तरीके का उपयोग और राजनीतिक अधिकारों की बिना किसी भेदभाव के प्राप्ति, ऐसी मान्यताएं हैं जो आज लोकतंत्र के लिए अधारभूत हैं।

व्यावहारिक अथवा संस्थागत दृष्टि से लोकतंत्र की निम्नलिखित विशेषताएं है—

(1) एक लिखित संविधान का होना—यह एक सीमित तथा स्थायी सरकार की अनिवार्यता है यद्यपि अलिखित संविधान भी इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में है।

(2) संविधानवाद—इसका अभिप्राय कानून के शासन की व्यवस्था से है। लिखित संविधान तथा कानून तथा शासन जनइच्छा के अनुरूप शासन संचालन का आधार प्रस्तुत करते हैं।

(3) अधिकारों की घोषणा— यह व्यक्तित्वों के संरक्षण हेतु नितान्त आवश्यक है यद्यपि इसे सामाजिक दर्शन की वस्तु के रूप में देखा जा सकता है परन्तु यह सत्य है कि समुदायों के निर्माण में ऐतिहासिक परिस्थितियों से इसकी आवश्यकता निर्धारित हुई।

(4) एक प्रजातांत्रिक शासकीय संरचना— इसका अभिप्राय है-सार्वभौम वयस्क मताधिकार की व्यवस्था, प्रत्येक नागरिक को निर्वाचन में खड़े होने तथा योग्यतानुसार शासकीय पद प्राप्त करने का अधिकार, बहुमत का शासन और प्रतिनिध्यात्मक शासन। इसमें विधानमंडल को निश्चित कार्यकाल के लिए चुने जाने का विचार निहित है और यही बात कार्यपालिका के लिए भी लागू होती है। साथ ही शासन को संवैधानिक तरीके से बदलने का अधिकार, राजनीतिक दलों के निर्माण का अधिकार, शासन की

नीतियों की आलोचना का अधिकार तथा विचार एवं अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता लोकतंत्र के सर्वोच्च मापदण्ड हैं।

पीटर मर्कल ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल काण्टिन्युटी एण्ड चेन्ज' में संस्थागत लोकतंत्र के चार *प्रमुख सिद्धांत बताए हैं :*

(1) यह विचार विमर्श द्वारा शासन है—विचार विमर्श के दो स्तर होते हैं पहला जहाँ जनता द्वारा चुने प्रतिनिधि परस्पर विचार विमर्श करते हैं और दूसरा स्तर नेतृत्व तथा जनसमूह के मध्य विचार विमर्श।

(2) *बहुमत का शासन— इसका अभिप्राय यह है कि शासकों का चयन बहुमत द्वारा* किया जाता है तथा सार्वजनिक विषयों पर निर्णय भी बहुमत के द्वारा ही लिए जाते हैं।

(3) अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण— इसका अभिप्राय यह है कि बहुमत अपनी तानाशाही न स्थापित कर सके अत: अल्पसंख्यकों को अपने अधिकारों की सुरक्षा संविधान द्वारा प्राप्त होती है।

(4) संवैधानिक शासन— इसका अभिप्राय कानून के शासन की व्यवस्था तथा सीमित शासन से है। प्रत्येक स्थिति में संविधान आवश्यक है जो राज्य का सर्वोच्च कानून होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते संस्थागत लोकतंत्र की जिस व्यवस्था का जन्म हुआ उसकी पहचान लोकतंत्र के सिद्धांतकारों ने उदार लोकतंत्र के सिद्धांत के रूप में की। उदार लोकतंत्र लोकतांत्रिक संस्थाओं के ताने-बाने की संरचना को जन्म देता है। उदार लोकतंत्रीय व्यवस्थाएं पूंजीवादी व्यवस्थाओं के रूप में विकसित हुई। कार्ल मार्क्स द्वारा इस पूंजीवादी व्यवस्था जिसे वह 'बुर्जुआ लोकतंत्र' की संज्ञा देता है, के विपरीत *प्रतिक्रिया स्वरूप एक साम्यवादी समाज की कल्पना* की। मार्क्स ने पूंजीवाद के दोषों को बताते हुए इसे शोषण की व्यवस्था के रूप में दर्शाया। अत: मानवीय समानता के आधारभूत सिद्धांत को दृष्टिगत रखते हुए अपनी कल्पना के साम्यवादी समाज की स्थापना हेतु एक क्रमबद्ध वैज्ञानिक समाजवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। मार्क्स से प्रेरणा लेकर मार्क्सवादियों की एक बड़ी श्रृंखला मार्क्स के सिद्धांतों पर आधारित व्यवस्था को ही वास्तविक लोकतंत्र कहती है। इस तरह लोकतंत्र का एक मार्क्सवादी सिद्धांत बन गया जो सर्वहारा की क्रांति में ही वास्तविक लोकतंत्र को देखता है और अंतत: एक वर्ग विहीन समाज की कल्पना करता है। बीसवीं शताब्दी में लोकतंत्र के कुछ और सिद्धांत भी प्रतिपादित किए गए जिन्हें अभिजनवादी सिद्धांत, बहुलवादी सिद्धांत और फिर इनके विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मे संशोधनवादी सिद्धांत, जिसे *कभी-कभी लोकतंत्र के क्रांतिकारी सिद्धांत* के रूप में दर्शाया जाता है, कहते हैं।

परन्तु लोकतंत्र का उदारवादी सिद्धांत ही प्राय: लोकतंत्रीय शासन के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है और लोकतंत्रीय शासन की पहचान उदार लोकतंत्र की विशेषताओं वाले शासन से ही की जाती है। उदार लोकतंत्र की विशेषताओं को निम्नवत देखा जा सकता है—

(1) *राज्य में एक से अधिक राजनीतिक दल हों और ये दल परस्पर राजनीतिक शक्ति प्राप्त* करने हेतु स्वतंत्र प्रतियोगिता कर सकने में सक्षम हों।

(2) शक्ति के लिए प्रतिस्पर्द्धा खुली हो न कि गोपनीय यह प्रतियोगिता प्रक्रिया के स्थापित और स्वीकार्य रूपों पर आधारित हो।

(3) राजनीतिक पदों की प्राप्ति हेतु प्रवेश तथा भर्ती *अपेक्षाकृत खुली हो।*

(4) निश्चित अंतराल पर निर्वाचन, जो कि विस्तृत मताधिकार की व्यवस्था पर आधारित हो।

(5) दबाव समूह शासकीय निर्णयों को प्रभावित करने की क्रिया में सक्षम हों साथ ही विविध संघों तथा स्वैच्छिक समुदायों को शासकीय नियंत्रण से मुक्त रखा जाय।

(6) शासन द्वारा नागरिक स्वतंत्रताओं जैसे भाषण व विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता तथा मनमानी गिरफ्तारी के विरूद्ध स्वतंत्रता, मान्य तथा संरक्षित हों।

(7) उपर्युक्त स्वतंत्रताओं को सुनिश्चित करने हेतु एक स्वतंत्र न्यायपालिका हो।

(8) जनसंचार के माध्यम शासकीय एकाधिकार में न हों साथ ही उन्हें शासन की आलोचना का अधिकार प्राप्त हो।

(9) नागरिकों को शासन से सूचना प्राप्त करने का अधिकार हो।

(10) राजनीतिक कार्यपालिका का आचरण प्रजातांत्रिक हो तथा नागरिक सेवाएं राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ हों।

(11) जनता तथा शासन के मध्य घनिष्ठ संबंध हो।

(12) उदार जनतंत्र राजनीतिक आधुनिकीकरण की अपेक्षा रखता है साथ ही जनता की सह-भागिता में भी अधिकतम वृद्धि की अपेक्षा रखता है।

(13) शासन अथवा सरकार को विविध समूहों तथा व्यावसायिक समूहों के मध्य समरसता स्थापित करने में प्रयासरत होना चाहिए।

(14) उदार जनतंत्र की मान्यता शासन को अधिकतम 'लोगों के अधिकतम सुख' की प्राप्ति का साधन मानने की हैं। अत: उदार लोकतंत्रीय राज्य की एक अपेक्षा 'एक बहुल तथा धर्मनिरपेक्ष समाज' की स्वीकारोक्ति है।

9.2.2 लोकतंत्र के रूप

ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करने पर लोकतंत्र के दो रूप-प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष (प्रतिनिध्यात्मक) दिखाई पड़ते हैं। संवैधानिक राजतंत्र तथा गणतंत्रों का विकास भी लोकतंत्र के विकास के इतिहास में देखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लोकतंत्र

प्रत्यक्ष लोकतंत्र के अंतर्गत जनता स्वयं सार्वजनिक मामलों में प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लेती है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में प्रचलित था, जहाँ नगर-राज्य के समस्त स्वतंत्र नागरिक एक सभा के रूप में एकत्रित हो विधि निर्माण, शासकीय अधिकारियों की नियुक्ति तथा न्यायिक कार्यों का निष्पादन करते थे। मध्य युग में इटली के नगर-राज्यों में भी ऐसी व्यवस्थाएं थीं। स्विट्जरलैण्ड के कैण्टनों में प्रत्यक्ष प्रजातांत्रिक व्यवस्था थी जो कुछ कैण्टनों में आज भी चली आ रही है। रूसो प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का तीव्र समर्थक था परन्तु प्रजातंत्र छोटे राज्यों में तो सफल हो सकते हैं वह भी तब जब कि समाज में पर्याप्त समानता और संपन्नता हो तथा लोग सार्वजनिक कार्यों हेतु पर्याप्त समय दे सकते हों। विशाल राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय के साथ प्रत्यक्ष लोकतंत्रीय व्यवस्था के स्थान पर अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की व्यवस्था विकसित हुई। आज वस्तुत: यही लोकतंत्र की सार्वभौम बन चुकी है। इस व्यवस्था के अंतर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उन्हें एक निश्चित कार्यकाल के लिए शासन कार्य सौंप देती है। आज जहाँ कहीं प्रत्यक्ष लोकतंत्र की चर्चा की जाती है वहाँ भी व्यवस्था तो प्रतिनिधियों के चयन की ही है परन्तु जनता को प्रत्यक्ष लोकतंत्र के कुछ उपकरणों की सुविधा प्राप्त है, ये उपकरण लोकनिर्णय, उपक्रम तथा प्रत्याह्वान के रूप में उपलब्ध हैं।

ऊपर जिस संवैधानिक राजतंत्र एवं गणतंत्र का उल्लेख किया गया है उन्हें भी लोकतंत्र के रूपों की तरह जाना जाता है। संवैधानिक राजतंत्र राजपद को अपने वंशानुगत स्वरूप में बनाए रखता है परन्तु राजा के पास शक्तियां नाममात्र की ही होती है। इंग्लैण्ड में 1688 की क्रांति के बाद राजतंत्र का यह स्वरूप विकसित हुआ। संवैधानिक राजतंत्र में राजा राज्य का तो प्रमुख होता है पर शासन का

नहीं। इंग्लैण्ड में वास्तविक शासन शक्ति मंत्रिमण्डल में निहित है और संसद संप्रभु है। मंत्रिमण्डल भी राजा के प्रति उत्तरदायी न होकर संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। गणतंत्र लोक्रतांत्रिक व्यवस्था की ही एक शासन पद्धति का नाम है जहाँ राज्याध्यक्ष जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह शासन का वास्तविक कार्यपालिका अध्यक्ष भी हो। भारत, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, रूस आदि गणतंत्र के उदाहरण हैं।

9.2.3 लोकतंत्र के गुण

1. यह सर्वोत्तम राज्य व्यवस्था है

एक राज्य व्यवस्था तथा शासन प्रणाली के रूप में जनतंत्र ही मनुष्य को राजनीतिक जीवन की सर्वोत्तम व्यवस्था प्रदान कर सकता है। यदि यह विचार मान लिया जाए कि राज्य का आधार इच्छा है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामान्य इच्छा के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक इच्छा शामिल रहती है। और वह राजनीतिक कार्यों, नीतियों, आचरणों, आदि में प्रभावी रहती है। जनतंत्र प्रत्येक नागरिक को राज्य की प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग में अपने विचार व्यक्त करने की सुविधा प्रदान करता है साथ ही एक जनतंत्रीय राज्य के नागरिकों को समानता स्वतंत्रता तथा न्याय का आश्वासन प्राप्त रहता है। अत: राज्य के नागरिकों की निष्ठा राज्य के प्रति बनी रहती है।

2. जनता की राजनीति शिक्षा जनतंत्र में संभव है

वैसे तो समस्त शासन शिक्षा की एक विधि है किन्तु सर्वोत्तम शिक्षा स्वशिक्षा है। अत: सर्वोत्तम शासन स्वायत्त शासन है जो कि जनतंत्र में संभव है। जनतंत्रीय व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक गतिविधियों और शासनिक क्रियाकलापों के विषय में अपनी राय व्यक्त करने का अवसर प्रदान करती है। ऐसे अधिकारों तथा दायित्वों को निभाने के लिए उसे राजनीति संबंधी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और इसकी प्राप्ति वह राजनीतिक क्रिया-कलापों में सक्रिय भाग लेकर करता है। जनतंत्र स्थानीय मामलों के प्रबंधन में जनता को स्वायत्तशासी अधिकार प्रदान करता है। इन अधिकारों का प्रयोग करने से जनता की राजनीतिक शिक्षा तथा राजनीतिक चेतना में वृद्धि होती है।

3. सर्वोत्तम शासन प्रणाली

उत्तम शासन प्रणाली की पहचान ऐसी शासन व्यवस्था का होना है जिसके कार्य-कलापों का वास्तविक लाभ जनता को प्राप्त हो सके। जनतंत्रीय शासन का यह गुण है कि शासकीय कानून जन-इच्छा का पूर्व ज्ञान करके बनाए जाते हैं तथा इनके निर्माण में जनप्रतिनिधियों की सहभागिता होती है। जनतंत्रीय शासन जनता को शासकों तथा प्रशासकों के ऊपर नियंत्रण रखने की शक्ति प्रदान करता है। अत: शासक अथवा प्रशासक स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। जनतंत्रीय शासन एक ही साथ एक उत्तरदायी तथा जवाबदेही शासन है। अत: यह सर्वोत्तम शासन प्रणाली है।

4. राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में जनतंत्र सहायक होता है

देश प्रेम और राष्ट्रभक्ति किसी जनसमूह के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करने में सहायक होते हैं। एक जनतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत जनता का देश तथा राष्ट्र के प्रति अपनत्व एक स्वाभाविक भावना होती है। जनता अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं पर गर्व करती है। ऐसे गौरव को बनाए रखने की लालसा से व्यक्ति अपने आचरण में श्रेष्ठता लाने का प्रयत्न करता है। यही लालसा सामूहिक रूप में राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती है। जनतंत्रीय राष्ट्र जनता में आत्म-विश्वास, उत्तरदायित्व, उत्साह आदि गुणों का संचार करता है। जनतंत्र में यह अवसर उपलब्ध रहता है कि जनता अपनी आचारिक परम्पराओं (राष्ट्रीय चरित्र) की रक्षा तथा विकास हेतु प्रयत्नशील रहती है। इसीलिए जे०एस०मिल की यह उक्ति सही प्रतीत होती है कि "जनतंत्र का सबसे बड़ा गुण इस तथ्य से प्रकट होता है कि वह किसी भी अन्य राज्य-व्यवस्था की अपेक्षा राष्ट्रीय-चरित्र के उत्तमतर तथा उच्चतर रूप की अभिव्यक्ति करता है।"

5. राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता को बनाए रखने में सहायक

एक जनतंत्रीय राज्य जनता में राष्ट्र-प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आपात के समय संपूर्ण जनता राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता को बनाए रखने में अपना सहयोग प्रदान करती है। इससे राष्ट्र की शक्ति में अभिवृद्धि होती है।

6. जनतंत्रीय व्यवस्था शासन की कुशलता को सुनिश्चित करती है

जैसा कि गार्नर ने कहा है ''जनतंत्र में जन निर्वाचन, जन नियंत्रण तथा जन उत्तरदायित्व द्वारा किसी अन्य शासन की अपेक्षा उच्चतर अंश में कुशलता को सुनिश्चित करने की संभावना रहती है।'' जनतंत्रीय शासन के कुशल होने का एक कारण यह भी है कि इसके अंतर्गत विशेषज्ञों तथा अविशेषज्ञों के मध्य सहचार बना रहता है। ऐसा समन्वय शासन को जनप्रिय और जनहितकारी दोनों ही सिद्ध करने में सहायक होता है।

9.2.4 लोकतंत्र के दोष

जनतंत्रीय व्यवस्थाओं के व्यवहार को दृष्टिगत रखते हुए जनतंत्र में अनेक दोष अथवा कमियां दिखाई देती हैं :

(1) गुण की अपेक्षा संख्या को अधिक महत्त्व दिया जाता है

जैसा कि लेकी ने कहा है ''जनतंत्र में गुण की अपेक्षा संख्या को अनावश्यक रूप से वरीयता दी जाती है। इसमें मतों की गणना तो की जाती है पर उन्हें तौला नहीं जाता।'' जनतंत्र में राज्य की प्रभुत्व शक्ति संपूर्ण जनता में निहित रहती है। शासन एक कला है इसका संचालन तथा कार्यान्वयन ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए जो इस कला में दक्ष हों। क्या सामान्य जनसाधारण और उनके प्रतिनिधियों में ऐसी क्षमता हो सकती है? जनतंत्र के अंतर्गत समानता के नाम पर योग्य तथा अयोग्य सभी के मत समान माने जाते हैं क्योंकि संख्या में अधिकांश मत अयोग्यों के होंगे अत: उन मतों के आधार पर लिए गए निर्णय अकुशलता के द्योतक होंगे।

(2) समानता की धारण अयोग्यता को मान्यता देती है

समानता जनतंत्र का आधारभूत सिद्धांत है। मानवीय दृष्टि से समानता की मान्यता से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक योग्यता से युक्त मान लेना आपत्ति जनक है। जनतंत्र विशेषज्ञता के आधार पर 'कार्य-वितरण के सिद्धांत' का निषेध करता है। परिणामस्वरूप शासनिक निर्णयों में अकुशलों, अक्षमों, अयोग्यों और अविशेषज्ञों क बाहुल्य हो जाता है। इसीलिए जनतंत्र को 'अक्षमता का पंथ' कहा जाता है।

(3) बहुसंख्यकों की निरंकुशता का द्योतक

जे०एस० मिल ने जनतंत्र को बहुसंख्यकों का अत्याचारीशासन कहा था। बहुधा किसी सार्वजनिक प्रश्न पर संपूर्ण जनता का एकमत होना, संदिग्ध रहता है। जनतंत्र में अल्प संख्यकों को बहुसंख्यकों की बात मानने के लिए विवश होना पड़ता है परिणाम स्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों में निरन्तर असंतोष बना रहता है। जनतंत्र में जन प्रतिनिधियों की निर्वाचन-प्रणालियों के जनतांत्रिक होने पर भी प्रश्न चिन्ह लगाए जाते हैं। जनतंत्रीय शासन में सरकार बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल के हाथ में रहने से दलीय निरंकुशता को बल मिलता है।

(4) व्यक्तिगत स्वतंत्रता वास्तविक नहीं रह सकती

सैद्धांतिक रूप से तो जनतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है और जनतंत्रीय व्यवस्थाएं नागरिकों को वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रताएं प्रदान भी करती हैं परन्तु व्यवहार में जनहित के नाम पर स्वतंत्रताओं को नियंत्रित भी किया जाता है। जनतंत्रीय व्यवस्था में अत्यधिक विधि-निर्माण की प्रवृत्ति रहती है और प्रत्येक विधि व्यक्ति की स्वतंत्रताओं को प्रतिबंधित करती है। लेकी का मत भी है कि ''इसका अर्थ हुआ अज्ञानता का शासन और स्वतंत्रता का निषेध।

जनतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करता है क्योंकि यह अत्यधिक विधायन के प्रति प्रवृत्त रहता है।'' जब-जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिबंध बढ़ते हैं तो कला, साहित्य तथा विज्ञान में प्रगति नहीं हो पाती।

(5) जनतंत्र में दलबंदी की प्रवृत्ति समाज की राजनीतिक एकता को अवरूद्ध करती है

जनतंत्रीय व्यवस्थाओं का व्यवहारिक अध्ययन राजनीतिक दलों की अपरिहार्यता को दर्शाता है। राजनीतिक दल शासन-सत्ता प्राप्त करने हेतु निरंतर सचेष्ट रहते हैं। ऐसे प्रयासों में वे अपने दलीय हितों को ही सर्वोच्च स्थान देते हैं। प्राय: दलीय हितों की प्राप्ति हेतु जनहितों एवं राष्ट्रीय हितों को नकारने की प्रवृत्ति भी राजनीतिक दलों में दिखाई पड़ती है। राजनीतिक प्रश्नों पर दलों के मध्य भिन्नता दिखाई पड़ती है। यह भिन्नता दलीय स्वार्थों से प्रेरित होती है। यदि दलबंदी का आधार सांप्रदायिकता अथवा क्षेत्रवाद या जातिवाद हो जाए तो राष्ट्रीय हितों की भारी क्षति पहुँचती है। दलों द्वारा किसी भी प्रकार से शासन-सत्ता को हथियाने की प्रवृत्ति भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है और राजनीतिक परिवेश को दूषित करती है।

(6) जनतंत्र एक खर्चीली शासन प्रणाली है

जनतंत्र का संगठन करने हेतु इसकी विविध संस्थाओं के संगठन तथा संचालन में सरकारी धन व्यय करना पड़ता है। समय-समय पर राज्य के विविध स्तरों की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के निर्वाचनों की व्यवस्था करने में राज्य, राजनीतिक दल और प्रत्याशी सभी को व्यय करना पड़ता है। बहुधा ऐसे लोग जो गुणी हैं पर संपन्न नहीं, चुनाव लड़ने की सामर्थ्य नहीं रखते। प्रतिनिधि संस्थाओं की बैठकों का आयोजन भी एक खर्चीली व्यवस्था है। चुनाव की संपूर्ण यांत्रिकता में बड़े उद्योगपति या व्यवसायी राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। ऐसे में ये राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त कर इन व्यवसायियों के हितों को अनुचित लाभ पहुँचाते हैं।

(7) निर्वाचन प्रथा प्रतिनिधियों के वास्तविक स्वरूप को सुनिश्चित नहीं कर सकती

जनतंत्रीय व्यवस्थाओं में प्रतिनिधि संस्थाओं के लिए प्रत्याशी राजनीतिक दलों द्वारा चयनित होते हैं। अत: आम जनता दलों के प्रत्याशियों के पक्ष या विपक्ष में मतदान करती है। निर्वाचित प्रतिनिधि की निष्ठा स्वाभाविक रूप से अपने दल के प्रति बनी रहती है, साथ ही निर्वाचन प्रणाली जनप्रतिनिधियों को जनता के बहुमत का आवश्यक रूप से प्रतिनिधि बनाने को सुनिश्चित नहीं करती। वास्तवकिता तो यह है कि जनतंत्र एक ऐसी सरकार है जिसमें थोड़े से चतुर व्यक्ति निर्वाचनों की अवधि में जनसमूह को अपने पक्ष में ले आने में समर्थ हो जाते हैं।

(8) जनतंत्रीय शासन विलम्बकारी और सुस्त होता है

यह आरोप सामान्यत: जनतंत्रों पर लगाया जाता है कि शासनिक एवं प्रशासनिक निर्णय लेने की प्रक्रिया को कई चरणों से होकर गुजरना पड़ता है। प्रधान कार्यपालिका को किसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय लेने से पूर्व बहुत से कारकों को ध्यान में रखना पड़ता है। कभी-कभी जटिल राजनीतिक निर्णय लेने से पूर्व सरकार आयोगों अथवा समितियों को भी गठित करती है। ये सभी प्रक्रियाएं विलंबकारी हैं। कभी-कभी विलंब किसी समस्या को अनावश्यक रूप में जटिल बना देता है। परिणामस्वरूप अवांछनीय असंतोष बढ़ने लगता है।

(9) शासन में स्थायित्व का अभाव

जनतंत्रीय शासन के अंतर्गत राज्य की प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग समय-समय पर जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से निर्मित सरकारों द्वारा संपन्न किया जाता है। ये सरकारें दलीय आधार पर संगठित होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि एक निश्चित अवधि के उपरान्त शासनसत्ता के धारक बदल सकते हैं। यह व्यवस्था शासकीय नीतियों में स्थायित्व और निरन्तरता को सुनिश्चित नहीं करती।

9.2.5 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाएं

निसंदेह लोकतंत्र एक सर्वोत्तम शासन व्यवस्था है परन्तु जैसा कि ऊपर विश्लेषण किया गया है जनतंत्रीय व्यवस्थाएं तथा जनतंत्रीय शासनों के अंतर्गत बहुत से दोष विद्यमान है। यह भी एक सत्य है कि बीसवीं शताब्दी में कुछ राष्ट्रों में जनतंत्रों की असफलता को कुछ राजनेताओं ने अपनी वैयक्तिक सत्ता प्राप्ति की महत्त्वकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रयोग कर तानाशाही व्यवस्थाओं को स्थापित किया। परन्तु तानाशाही व्यवस्थाओं के विरूद्ध आक्रोश स्वरूप क्रांतियां हुई जिन्होंने पुन: जनतंत्रों को उन राष्ट्रों में प्रतिष्ठित किया। स्पष्ट है कि जनतंत्र की सफलता हेतु कुछ आधारभूत परिस्थितियां आवश्यक होंती हैं। अत: इनको यथासंभव स्थापित किया जाना चाहिए। इन परिस्थितियों को निम्नलिखित रूपों में व्यक्त किया जा सकता है :

(1) शिक्षा की समुचित व्यवस्था

अशिक्षा और निरक्षरता एक अभिशाप है। एक अशिक्षित जनसमुदाय चतुर राजनेताओं की वाक-पटुता से आसानी से बहकावे में आ सकता है। आधुनिक जनतंत्र प्रतिनिध्यात्मक है जहाँ जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर उन्हें एक निश्चित अवधि के लिए शासन-सत्ता सौंपती है। ऐसे में एक शिक्षित नागरिक समूह राजनेताओं के हाथों का आसानी से खिलौना नहीं बन सकता। शिक्षा का आशय ऐसी नागरिक शिक्षा से है जो नागरिकों को अपने नागरिकोचित दायित्वों के निर्वहन के योग्य बना सके साथ ही शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों में स्वस्थ राष्ट्र-भावना, देशभक्ति, समाजसेवा, वैधानिक साधनों में विश्वास, व्यक्ति की गरिमा का सम्मान आदि गुणों का संचार करना होना चाहिए।

(2) नागरिकों में राजनीतिक चेतना का विकास

सामान्य शिक्षा के साथ-साथ वांछित राजनीतिक ज्ञान जनतंत्र की सफलता की एक मूलभूत आवश्यकता है। ऐसी चेतना के विकास के लिए नागरिकों को अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का सही तथा समुचित ज्ञान करना तथा उनकी प्राप्ति एवं उन्हें संपन्न करने में सक्रिय रहना आवश्यक है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के व्यापक प्रसार से संभव है। स्वस्थ राजनीतिक चेतना के विकास हेतु प्रबुद्ध जनमत के निर्माण के साधनों का व्यापक प्रचार एवं प्रसार आवश्यक है। राजनीतिक दल, पत्र-पत्रिकाएं, रेडियो, दूरदर्शन, साहित्य आदि ऐसे साधन है जो स्वस्थ राजनीतिक चेतना के विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकते हैं। पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन समस्त साधनों को जनतांत्रिक भावना और आदर्शों की मर्यादाओं के अधीन अपनी भूमिका संपन्न करनी चाहिए।

(3) नागरिक स्वतंत्रताओं की प्रत्याभूति

एक सफल जनतंत्र की आवश्यक शर्त मूलभूत नागरिक, वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रताओं का होना है। राज्य के संविधान द्वारा न सिर्फ इनकी स्पष्ट घोषणा की जानी चाहिए बल्कि इनके संरक्षण की संवैधानिक प्रत्याभूति भी होनी चाहिए। स्वतंत्रताएं स्वच्छन्दताएं न बन जाएं इस हेतु संविधान में उनके ऊपर मर्यादाओं का भी स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।

(4) स्वतंत्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका

जो उपर्युक्त वर्णित स्वतंत्रता की प्रतिभूति को सुनिश्चितता प्रदान करती है। न्यायपालिका संविधान के प्रहरी और नागरिक स्वतंत्रताओं के संरक्षक की भूमिका निभाती है अत: न्याय निष्पक्ष हो। स्वतंत्र न्यायालयों द्वारा दिया जाए साथ ही व्ययशील और विलंबकारी भी न हो।

(5) सामाजिक न्याय की स्थापना

सामाजिक न्याय की धारणा समानता की धारणा पर आधारित है। समानता, स्वतंत्रता के साथ जनतंत्र

के दूसरे स्तंभ को दर्शाता है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था जो धर्म-जाति, वंश, लिंग, भाषा या अन्य किसी आधार पर नागरिकों के मध्य भेदभाव करती है जनतांत्रिक नहीं कही जा सकती। जनतंत्र के अंतर्गत मौलिक समानताओं की भी प्रत्याभूति संविधान द्वारा की जानी चाहिए। सामाजिक न्याय तभी संभव है जब कि समानता की धारणा को प्रत्येक नागरिक हृदय से मान्य करे और तदनुसार आचरण करे। इसके लिए सामाजिक व्यवस्था में ऐसी परंपराओं का विकसित होना आवश्यक है जिनके अनुसार लोग अंत:करण से समानता के सिद्धांतों पर आचरण करने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। सामाजिक न्याय का एक पहलू आर्थिक समानता की मान्यता भी है। अत: ऐसी सामाजिक व्यवस्था निर्मित की जानी चाहिए जिसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के आर्थिक या सामाजिक शोषण को समाप्त किया जा सके। समाज के भौतिक उत्पादन के साधनों का स्वामित्व समाज के एक छोटे से वर्ग के हाथ में केन्द्रित न होने पाए, यह सामाजिक न्याय का तकाजा है।

(6) स्वस्थ दल प्रणाली

जैसा कि ऊपर कहा गया है राजनीतिक दल जनतंत्र के वाहक होते हैं। राजनीतिक दल जनता और शासन या सरकार की मध्यस्थ संरचनाएं होती हैं। दल, जनमत-निर्माण के महत्त्वपूर्ण उपकरण भी होते हैं। निसंदेह राजनीतिक दल सत्ता की प्राप्ति हेतु अस्तित्व में आते हैं परन्तु राजनीतिक दलों को संकीर्ण दलगत विचारधारा से निकलकर राष्ट्रीय हितों को शीर्षस्थ रखना चाहिए। संकीर्ण क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता जैसे विचार राष्ट्र की अखण्डता और एकता के मार्ग में बाधक होते हैं अत: दलों को इन प्रवृत्तियों को अपनाने से बचना चाहिए। राजनीतिक दल जितने राष्ट्रव्यापी होंगे तथा जनतांत्रिक आचार संहिता में विश्वास रखने वाले होंगे उतना ही जनतंत्र के अनुरूप होंगे।

(7) विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत की मान्यता

जनतंत्र तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण परस्पर घनिष्ठ रूप में आबद्ध हैं। जनतंत्र की सफलता और प्रभावशीलता स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था के विकास से ही संभव है। विक्रेन्द्रीकरण जन उपक्रम और जन सहयोग को सक्रिय बनाने हेतु आवश्यक है। स्थानीय शासन की संस्थाओं को अधिकाधिक शक्तियों से युक्त करना स्थानीय जनसमूहों में आत्मविश्वास का संचार करता है इससे राजनीतिक चेतना का भी विस्तार होता है।

(8) नौकरशाही के दृष्टिकोण में परिवर्तन

नौकरशाही प्रशासन व्यवस्था पाश्चात्य जगत की देन है। नौकरशाही आज सर्वत्र राज्य व्यवस्थाओं का एक अपरिहार्य अंग बन चुकी है। एक सफल जनतंत्र नौकरशाही से जनतांत्रिक आचरण की अपेक्षा करता है। अत: आवश्यक है कि नौकरशाही में ईमानदारी, कार्यकुशलता, जनसेवा की भावना, जन इच्छा के प्रति जवाबदेह होने की भावना तथा निष्पक्ष और निर्भीक होकर कार्य करने की भावना हो। नौकरशाही को लाल फीताशाही और भ्रष्टाचार से मुक्त करना जनतंत्र की सफलता हेतु नितान्त आवश्यक है।

(9) वैधानिक साधनों की उपादेयता पर विश्वास

जनतंत्र संवैधानिक शासन और सीमित शासन का पर्यायवाची है। जनतंत्र सहिष्णुता का भी दूसरा नाम है। जनतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दल क्रमश: सत्ता पक्ष और विपक्ष के रूप में प्रकट होते हैं। विपक्षी दलों को शासन की आलोचना का अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार आम जनता तथा अन्य माध्यमों को भी उपलब्ध होता है परन्तु इन सबके लिए आवश्यक है कि जिन साधनों को अपनाया जाय वे वैधानिक हों। सत्तापक्ष इन आलोचनाओं के प्रति संवेदनशील हो तथा प्रत्येक स्थिति में जनहित तथा राष्ट्रहित सर्वोच्च बना रहे।

(10) निर्वाचन प्रणाली में सुधार

आधुनिक जनतंत्र प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र है। जनप्रतिनिधि संस्थाएं निर्वाचनों के आधार पर संगठित

की जाती हैं। प्रतिनिधित्व का आधार प्रादेशिक आधार पर निर्मित निर्वाचन क्षेत्र होता है। एक स्वस्थ निर्वाचन प्रणाली से अभिप्राय निर्वाचन प्रक्रिया तथा व्यवस्था का जनतांत्रिक स्वरूप का होना है। अत: निर्वाचनों का दायित्व निर्वहन स्वतंत्र निर्वाचन आयोग द्वारा हो। निर्वाचन में भ्रष्ट तथा अनुचित तरीकों का उपयोग न हो। मतदाताओं को अपने मताधिकार का निडर तथा स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हो तथा सत्ता पक्ष द्वारा निर्वाचन में अपने प्रशासन के दुरुपयोग की प्रवृत्ति न हो यह जनतंत्र की सफलता हेतु आवश्यक है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है प्रत्येक जनतांत्रिक व्यवस्था द्वारा स्वयं अपनी सुरक्षा विश्व मानवता की रक्षा और राष्ट्र की प्रगति हेतु अनेक उच्च राजनीतिक आदर्शों को सिद्धांत रूप में और अपने व्यवहार में अपनाए जाने की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति की धारणा में विश्वास रखना भी जनतंत्र की आवश्यकता है। अत: जनतंत्रों को अंतर्राष्ट्रीय शांति, सह-अस्तित्व, साहचर्य, सहिष्णुता जैसे मानवीय सद्गुणों को राज्य के मूलभूत आदर्शों के रूप में सिद्धांत और व्यवहार दोनों दृष्टियों से अपनाना चाहिए। साथ ही साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, उग्र राष्ट्रवाद और विस्तारवाद जैसी जनतंत्र विरोधी व्यवस्थाओं से दूर रहना चाहिए।

9.3 आधिनायकतंत्र अथवा तानाशाही

प्रस्तावना

शासन प्रणालियों का एक रूप तानाशाही है। प्लेटो तथा अरस्तू ने राज्य व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का एक रूप अत्याचारीतंत्र को माना था जिसे वे एक व्यक्ति के कानून विहीन या विकृत शासन के रूप में देखते थे। आधुनिक वर्गीकरणों के अंतर्गत भी राज्यों तथा शासनों का एक रूप तानाशाही को बताया गया है। प्राय: निरंकुश शासन, सर्वाधिकारवादी शासन, तानाशाही शासन आदि शब्दावालियों का प्रयोग समानार्थी शब्दों के रूप में किया जाता है। यद्यपि इनके प्रयोग में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। ऐसे शासनों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि राज्यों का इतिहास। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में ऐसे उदाहरण मिलते थे। रोमन युग में सूला, जूलियस सीजर और अगस्टस के तानाशाही शासनों को भी देखा गया। इंग्लैण्ड में क्रामवैल का शासन काल तानाशाही का ही प्रतिरूप था। यही कारण था कि इंग्लैण्ड में क्रामवैल की मृत्यु के पश्चात् उसी राजतंत्र को पुन: प्रतिष्ठित किया गया जिसे गृह युद्ध में मृत्युदण्ड देकर उखाड़ फेंका गया था। फ्रांस में नैपोलियन बोनापार्टे का शासन तानाशाही का एक अन्य उदाहरण है। एल्फ्रैड कोबॉन ने तो माना ही है कि नैपोलियन को प्रथम आधुनिक तानाशाह कहा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में तानाशाही शासनों के विभिन्न रूपों को देखा गया है। ऐसे शासन द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तथा युद्धोपरान्त विश्व के सभी महाद्वीपों में देखे जा सकते हैं यह तथ्य इसलिए अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध प्रजातंत्र बनाम तानाशाही के नारे पर लड़ा गया था। 1917 में रूस में बोलेशेविक क्रांति सर्वहारा के अधिनायकवाद की क्रांति थी जो बाद में साम्यवादी दल की तानाशाही के रूप में परिणति हुई, और स्टालिन सदृश शासक तो व्यक्तिगत तानाशाहों के रूप में ही शासन करते रहे। टर्की में कमाल अतातुर्क का शासन तथा पुर्तगाल और स्पेन में तानाशाही शासनों की अन्य मिसालें मिलती है परन्तु इन सारे तानाशाही शासनों को इटली में मुसोलिनी की फासीवादी तानाशाही तथा जर्मनी में हिटलर की नाजीवादी तानाशाही ने पीछे छोड़ दिया। इन तानाशाहों की विश्वविजयी महत्वाकांक्षाओं ने दूसरे विश्वयुद्ध को जन्म दिया तथा इनके पराभव से ही युद्ध की समाप्ति हुई। परन्तु युद्धोपरान्त तानाशाहियों का अस्त नहीं हो सका तथा तानाशाही शासन विभिन्न रूपों में विविध राज्यों में आते तथा जाते रहे। पोलपोट का शासन (कंबोडिया), इदीअमीन का शासन (उगांडा), एशिया अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिकी राज्यों में सैनिक तानाशाहियां आम व्यवस्थाएं बन गई। दो विश्वयुद्धों के मध्य तानाशाही के अभ्युदय के कारणों को युद्ध द्वारा उत्पन्न संकट तथा सामाजिक और राजनीतिक तनावों के परिणाम के रूप में देखा गया। संकट की घड़ी में जब मानव के आत्मविश्वास में कमी आ जाती है उसे नई शरणस्थली की आवश्यकता पड़ने लगती है और एक महादूत के रूप में तानाशाह उभरते हैं। यूरोप में युद्ध जनित संकट उन राज्यों में

तानाशाहियों के अभ्युदय का कारण बना जिनका प्रजातंत्र का अनुभव अति लघु या अपेक्षाकृत लघु था। प्रजातांत्रिक संरचनाओं की जनअसंतोष से सफलतापूर्वक निबटने में असफलता ने तानाशाही के संविधानेत्तर तत्वों के उभरने में योगदान किया क्योंकि ऐसी शक्तियों में जनमानस को अपना भाग्यविधाता दिखाई पड़ने लगा। इस तरह संकटकालीन परिस्थितियों के मनोविज्ञान को तानाशाही के उदय के एक कारण के रूप में देखा जा सकता है। एक संकटयुक्त समाज को अनुशासन के एक प्रतिमान के अधीनस्थ होने के लिए उकसाया जाता है ताकि वह अपनी एकता और सुदृढ़ता को पुनः स्थापित कर सके। सर्वाधिकारवाद सामर्थ्य के श्रोत का प्रतिनिधित्व करेगा क्योंकि इसे कार्य कुशल, एकनिष्ठ तथा तीव्रगति युक्त समझा जाता है। आधुनिक तानाशहियों को एक संविधानेत्तर विकास कहा जाता है। यह परंपरा तथा वैधता को नहीं मानता। यह शक्ति की उत्पत्ति एवं शक्ति पूजा में आस्था रखता है। शक्ति ही इसे जन्म देती है और इसे बनाये रखती है। एक तानाशाह स्थायी रूप से तथा योजनाबद्ध प्रक्रिया के माध्यम से जिसमें शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा बाध्यकारी शक्ति प्रयोग सम्मिलित है सदैव सत्ता में बने रहने की महत्वाकांक्षा रखता है। तानाशाह की सत्ता एक सहबद्ध वर्ग के सक्रिय सहयोग पर आधारित होती है। प्रायः वह एक संगठित दल की मदद से सत्ता में बना रहता है।

9.3.1 तानाशाही की परिभाषा

फोर्ड के अनुसार "राज्याध्यक्ष द्वारा असाधारण व विधानेत्तर सत्ता प्राप्त करना तानाशाही है"।

एलफ्रैन कोबॉन के अनुसार "तानाशाही एक व्यक्ति का शासन है जिसने अपनी स्थिति को वंशपरंपरा से प्राप्त नहीं किया है, बल्कि बल अथवा सहमति अथवा दोनों के संयोग से प्राप्त किया है"। तानाशाह के पास पूर्ण संप्रभुता होती है, अर्थात् समस्त राजनीतिक शक्तियां अंततः उसकी इच्छा से उत्पन्न होती हैं और इन शक्तियों की कोई सीमा नहीं होती। इनका प्रयोग मनमाने तरीके से किया जाता है जो उसके आदेशों से अभिव्यक्त होती हैं न कि किसी कानून द्वारा, तानाशाह की शक्तियों की कोई समय सीमा नहीं होती, न ही उसकी शक्ति किसी के अधीन होती है, क्योंकि तानाशाह की शक्ति पर कोई भी प्रतिबंध उसके निरंकुश शासन से मेल नहीं रखता। इस तरह तानाशाही की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं—

(i) यह एक व्यक्ति का शासन है।

(ii) यह सहमति या शक्ति या दोनों पर आधारित होता है।

(iii) यह एक अनुत्तरदायी शासन है।

(iv) तानाशाही शासन निरंकुश शासन होता है।

(v) यह आदेश द्वारा शासन है न कि किसी स्थापित कानून द्वारा।

(vi) तानाशाह का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता।

तानाशाहियों की उक्त विशेषताएँ व्यक्तिगत तानाशाही के लक्षण हैं जिन्हें किसी एक तानाशाह जैसे नैपोलियन, कमाल अतार्तुक, हिटलर, मुसोलिनी, इदी अमीन या सद्दाम हुसैन के शासनों के रूप में देखा जा सकता है।

सी०ई०एम० जोड ने तानाशाही के तीन मूल सिद्धान्त बताए हैं :

(1) मानवीय चेष्टा का वास्तविक लक्ष्य धन या सुख की प्राप्ति न होकर शक्ति प्राप्ति है।

(2) जिन व्यक्तियों में शक्ति आकांक्षा प्रबल हो वही महान हैं।

(3) शक्ति आकांक्षा कुछ ही लोगों में प्रबल होती है, अतः यह कुछ लोग ही सत्ता एवम् शासन के अधिकारी हैं, शेष का कर्त्तव्य तो इनका अनुसरण करना, इनकी आज्ञा का पालन करना तथा इनको शक्ति तथा सत्ता प्रदान करना है।

जोड ने तानाशाही (फासीवाद तथा नाजीवाद) को एक व्यावहारिक दर्शन कहा है।

बीसवीं शताब्दी में तानाशाहियों का अभ्युदय या तो युद्धों का परिणाम था या राष्ट्रीय क्रांतियों का परिणाम। प्रथम विश्वयुद्ध ने इस भ्रांति को समाप्त कर दिया कि प्रजातंत्र के माध्यम से अंतिम रूप में शांति आ सकती है। बहुत सी प्रजातांत्रिक व्यवस्थाएं युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण, मुद्रास्फीति, बेरोजगारी आदि जैसी समस्याओं से निबटने में कमजोर व असफल साबित हुई। संसदों को बकवास करने वाली दुकानों की संज्ञा दी गई। रूस में जहां जारशाही के विरूद्ध सर्वहारा की क्रांति के परिणाम स्वरूप साम्यवादी दल की तानाशाही आई वह बाद में स्टालिन के नेतृत्व की तानाशाही में परिणत हुई। तो दूसरी ओर जर्मनी तथा इटली में तानाशाही का अभ्युदय वारसाई की संधि के प्रति आक्रोश, संसदीय संस्थाओं के प्रति असंतोष, नव प्रजातंत्रों की असफलता तथा इसके कठोर आदर्शों की अव्यावहारिकता, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता तथा फासीवादी तथा नाजीवादी दलों तथा नेतृत्व की चमत्कारिकता, राष्ट्रीय सम्मान, प्रजातीय श्रेष्ठता जैसे विचारों की जनप्रियता के परिणाम स्वरूप देखा जा सकता है। प्रत्येक स्थिति में विचारधारा की एक भूमिका रही। यद्यपि फासीवाद तथा नाजीवाद की अपनी कोई विचारधारा तो नहीं थी पर इनके ऊपर चार विचारधाराओं का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—

(i) वे दार्शनिक जिनके विचारों को सामाजिक डारविनवाद कहा जा सकता है जैसे गुमप्लोविक्ज तथा बैजहॉट।

(ii) जेम्स, सोरेल, बर्गसां तथा नीत्शे का दर्शन जिसे अबौद्धिकवाद (Irrationalism) कहा जाता है।

(iii) परम्परावाद (Traditionalism) जिसके प्रवर्तकों में तैजिनी, ट्रायटस्के और हीगल के विचारों को रखा जा सकता है।

(iv) उग्र आदर्शवादी विचार जिसके प्रवर्तक काण्ट, फिक्टे तथा हीगल थे।

फासीवाद उग्र राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, सर्वसत्तावाद तथा सर्वाधिकारवाद का प्रबल समर्थक है और यही बात नाजीवाद के ऊपर भी लागू होती है, **जवाहर लाल नेहरू** ने कहा था कि यदि समाजवाद, साम्यवाद तथा उदारवाद के विरोध को ही एक दर्शन न मान लिया जाय तो फासीवाद की यही एक अनोखी विशेषता है कि उसका कोई निश्चित सिद्धान्त विचारधारा या दर्शन नहीं है। फासीवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति राजनीति को सर्वोपरि मानता है। इसका उद्देश्य है उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित एक सशक्त राज्य की स्थापना। यहाँ पर फासीवाद के ऊपर मैकियावली के विचारों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। स्वयं मुसोलिनी ने कहा था "हम कुलीनतंत्री भी हैं और लोकतंत्री भी, हम रूढ़िवादी हैं और प्रगतिवादी भी हैं, हम क्रांतिकारी हैं और प्रतिक्रियावादी भी, हम कानूनवादी हैं और गैर कानूनवादी भी, हमारा एकमात्र लक्ष्य इटली पर शासन करने का है, इसके लिए कार्यक्रमों की कमी नहीं हैं, परन्तु यदि कमी है तो मनुष्यों की तथा ऐसी इच्छाशक्ति की कमी है जो इटली का उद्धार कर सके।"

मुसोलिनी के मत से परंपरागत विचारधाराएं अपनी उपादेयता खो चुकी हैं। मानवजाति के उत्थान हेतु इन दकियानूसी विचारधाराओं का कोई महत्व नहीं रह गया है। मनुष्य को राजनीतिक स्वतंत्रता समानता आदि की कामना नहीं रहती वह अनुशासन तथा क्रियाशीलता चाहता है। इसके लिए उसे राज्य की आवश्यकता होती है। वह राजनीतिक अधिकार नहीं, बल्कि एक अनुशासन प्रिय सशक्त नेता की चाह करता है जिसके अभाव में या अशक्त राज्य में मानव का यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, इस तरह वह पूर्णत: राज्यवादी है। उसने कहा भी था 'सब कुछ राज्य के भीतर है, राज्य के बाहर या उसके विरूद्ध कुछ भी नहीं है।' फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय शांति का भी विरोधी है। मुसोलिनी के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति कायरों का स्वप्न है। युद्ध तथा उसमें विजय मानवों की उच्चतम आकांक्षा का पोषण करते हैं मनुष्य के लिए युद्ध उसी प्रकार नैसर्गिक है जिस तरह स्त्री के लिए मातृत्व, युद्ध द्वारा मनुष्य अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करता है। यह धारणा हीगल के विचारों से प्रभावित है। विवेकवाद, बुद्धिवाद, तर्क संगतता, मानवीयता आदि की धारणाओं को मुसोलिनी का फासीवाद कोई स्थान नहीं

देता। वह मोक्षवाद तथा धार्मिक विश्वासिता को भी वांछनीय नहीं मानता। अवसरवादिता फासीवाद का मुख्य आधार है। फासीवादी राज्य की सुदृढ़ता के लिए परिस्थितियों के अनुसार किसी भी धारणा, विचारधारा या विश्वासिता को अपनाने से संकोच नहीं करता। फासीवादी राज्य पूर्णतया एक सैनिकतंत्र या पुलिस राज्य होगा जिसका सर्वोत्तम नेतृत्व फासीवाद में अटूट विश्वास रखने वाले अभिजन के हाथ में रहेगा। यह व्यवस्था समग्रवादी तथा सर्वसत्तावादी होगी। आर्थिक क्षेत्र में फासीवाद एक कारपोरेट स्टेट का मौलिक विचार प्रस्तुत करता है। यह विचार न पूंजीवादी है न समानवादी पर यह दोनों से श्रेष्ठ है। यह एक निर्भीक, उत्साही व क्रांतिकारी विचार है। यह विचार इन तथ्यों पर आधारित है कि जन समस्याओं को समझने की योग्यता सिर्फ शासकीय दल के सदस्यों में होती है। सामान्य नागरिकों में राष्ट्र के ऊपर आई घोर विपदाओं को समझने की बुद्धि नहीं होती। अत: स्थानीय क्षेत्रों से प्रारंभ करके राष्ट्रीय स्तर तक सिंडिकेटों तथा कारपोरेशन तथा उनकी परिषदों की व्यवस्था की जाती है जिनके शीर्ष पर राष्ट्रीय परिषद होती है, जिसका नेतृत्व शीर्षस्थ नेता करता है।

नाजीवादी में फासीवादी विचारधारा के समस्त तत्व विद्यमान थे यह उतना ही उग्रवादी, राज्यवादी और सर्वसत्तावादी तथा सर्वाधिकारवादी विचार है जितना की फासीवाद। अंतर्राष्ट्रीयतावाद का यह विरोधी है तथा विस्तारवाद व साम्राज्यवाद का समर्थक, जातीय श्रेष्ठता का विचार इसमें निहित है तथा वोक (Volk) की श्रेष्ठता को यह स्वीकार करता है।

9.3.2 तानाशाही की विशेषताएं

सामान्य रूप में तानाशाही की विशेषताओं को सर्वाधिकारवाद, प्रजातंत्र का विरोध, जनमत के उपकरणों के ऊपर राज्य अथवा शासन के नियंत्रण, एक दलीय शासन, एक नेता के शासन, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विरोधी, युद्ध प्रिय, विस्तारवादी, आक्रामक, साम्राज्यवादी, अतिराष्ट्रवादी के रूप में दर्शाया जा सकता है। जो एक पुलिस राज्य को दर्शाते हैं (यह पुलिस राज्य व्यक्तिवादी राज्य से भिन्न है), जहाँ सत्ता का केन्द्रीकरण पाया जाता है। यह एक अभिजन शासन है, जहाँ एक सर्वाधिकार प्राप्त दल विद्यमान रहता है। सार्वजनिक जीवन सदैव कठोर राजकीय नियंत्रण के अधीन रहता है तथा जन मानस में शासकों का भय व्याप्त रहता है।

जैसा कि पूर्व में विवेचन किया गया है तानाशाही के सिद्धान्त तथा व्यवहार को फासीवादी-नाजीवादी तथा साम्यवादी तानाशाही इन दो रूपों में रखा जा सकता है। अत: इनकी विशेषताओं को समझ लेना अनिवार्य है।

फासीवाद तानाशाही की विशेषताएं

(1) राज्य का सर्वाधिकारवादी रूप

यद्यपि फासीवाद एक क्रमबद्ध विवेकपूर्ण दर्शन पर आधारित व्यवस्था नहीं है, तथापि इसका वैचारिक पक्ष अधिनायकों के मस्तिष्क की संवेगपूर्ण विचारधारा की उपज है। यह व्यक्तिवादी, उदारवादी, जनतंत्रवादी तथा साम्यवादी सभी व्यवस्थाओं का विरोधी है। फासीवादी विचारधारा इस फासीवादी शिक्षा का मूल मंत्र था कि "हमारा जीवन, गतिविधियां तथा अस्तित्व राज्य की सेवा के अधीन है।"

(2) सर्वसत्तावादी राज्य व्यवस्था

मुसोलिनी ने कहा था "उन्नीसवीं शताब्दी उदारवाद, समाजवाद तथा लोकतंत्रवाद का युग था तो बीसवीं शताब्दी सत्तावादी समष्टिवादी तथा सर्वाधिकारवादी राज्य का युग है।" राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का नियंत्रण तथा पूर्ण सत्ताधारी है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसी कोई धारणा राज्य के जीवन में नहीं हो सकती। "सब कुछ राज्य के अन्दर है, उसके अभाव में या उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं है।" अत: राज्य की सत्ता असीम, सर्वोत्तम तथा अविभाज्य है। उसकी सत्ता के विरुद्ध

व्यक्तिगत, सामुदायिक, धार्मिक, आर्थिक आदि किसी प्रकार की स्वतंत्रताएं नहीं हो सकती।

(3) समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य भेद नहीं किया जाता

फासीवादी विचारधारा इन तीन धारणाओं तथा व्यवस्थाओं को एक ही मानती है। अत: फासीवाद शासन के सर्वाधिकारवादी स्वरूप को मानता है। सरकार की सत्ता को सुदृढ़ तथा प्रभावशाली बनाया जाता है ताकि सरकार के विरोधी तत्वों का सफाया किया जा सके। समाचारपत्रों तथा जन संचार के सभी अन्य साधनों पर सरकार का कठोर एवम् पूर्ण नियंत्रण रहता है। शिक्षा व्यवस्था भी उग्र राष्ट्रवादी विचारों का विकास करने का उद्देश्य रखती है। सैनिक शिक्षा अनिवार्य होती है। समूची शासन व्यवस्था आतंकवादी बनी रहती है।

(4) उग्र राष्ट्रवाद

फासीवादी तथा नाज़ीवादी तानाशाहियां उग्र राष्ट्रवादी है तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति को कायरों का स्वप्न कहती है। मुसोलिनी का कथन था कि इटली को या तो अपना विस्तार करना चाहिए। अन्यथा उसे विनष्ट हो जाना चाहिए?'' हिटलर द्वारा उग्रराष्ट्रवाद हेतु जातीय श्रेष्ठता का प्रचार करके यह भावना जनता में जागृत की गई कि जर्मन जाति ही विश्व में सर्वश्रेष्ठ जाति है। अत: उसी को विश्व साम्राज्य पर शासन करने का अधिकार है। जातिवाद के नाम पर हिटलर ने यहूदियों की नृसंश हत्याएं करदायी थी। इस तरह यह उग्रराष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद का समर्थक था।

(5) राष्ट्रीय पूंजीवाद का समर्थन

व्यक्तिगत पूंजीवाद के स्थान पर राष्ट्रीय पूंजीवाद फासीवादी विचारधारा का आवश्यक अंग है। फासीवाद भारी औद्योगिकीकरण को राष्ट्रीय सुदृढ़ता हेतु आवश्यक मानतां है। यह व्यक्तिगत प्रयासों का विरोध नहीं करता पर इसका उद्देश्य यह है कि पूंजी का संचय व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं बल्कि राज्य के लिए किया जाय। अत: फासीवाद के अंतर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था, उत्पादन एवम् वितरण पर राज्य का नियंत्रण रहता है। मुसोलिनी द्वारा कारपोरेट व्यवस्था के राज्य को दर्शाया गया था।

(6) अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर बल

फासीवादी तथा नाज़ीवादी नेता यह प्रचार करते थे कि जनता को स्वतंत्रता राजनीतिक स्वायत्तता अथवा अन्य किसी प्रकार के अधिकारों की आकांक्षा नहीं रहती। व्यवस्था संचालन हेतु जनता को एक सशक्त नेतृत्व चाहिए जो आदेश दे और जनता उसके आदेशों का अनुपालन करे। जनता के तो सिर्फ कर्त्तव्य हैं और सबसे महान कर्त्तव्य है राष्ट्र की सेवा के लिए जीवन समर्पित करना और राष्ट्र नायक के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करना।

साम्यवादी एक दलीय तानाशाही की विशेषताएं

पाश्चात्य जगत में 18वीं व 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवादी, उदारवादी तथा जनतंत्रवादी विचारों तथा औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप पूंजीवाद, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को बढ़ावा मिला। इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवादी विचारधाराओं के विकास को अवसर मिला। 19वीं शताब्दी में मार्क्स व ऐंजिल्स के विचारों में समाजवादी विचारों का क्रांतिवादी स्वरूप प्रकट हुआ। रूस में मार्क्स के विचारों से प्रेरणा लेकर क्रांतिकारी नेता लेनिन ने मार्क्स के विचारों की समाजवादी क्रांति को व्यावहारिक बनाने हेतु साम्यवादी दल की स्थापना की तथा इस दल को सर्वहारा के संरक्षक के रूप में बताते हुए दलीय नेतृत्व में क्रांति करवाकर जारशाही शासन को उखाड़ फेंका। साम्यवादी दल का विचार मार्क्स के विचारों पर लेनिन का संशोधन था। क्योंकि उसके मत से विशाल असंगठित सर्वहारा द्वारा क्रांति कर पाना संभव नहीं था। अत: सर्वहारा में वर्ग चेतना जगाने तथा उसे नेतृत्व प्रदान करने हेतु दल का विचार दिया गया और दल के द्वारा सर्वहारा की क्रांति को सफल बनाया गया। सर्वहारा का अधिनायकवाद जो मार्क्स के विचारों में पूंजीवाद से साम्यवाद की ओर बढ़ने की दिशा में एक संक्रमणकालीन चरण था, वस्तुत: साम्यवादी दल के अधिनायक वाद के

रूप में स्थापित हो गया तथा सम्पूर्ण समाज, राज्य एवम् सत्ता का नियंत्रण एवम् नियंत्रक बन गया और राज्य तथा शासन साम्यवादी दल की सत्ता साम्यवादी दल के नेतृत्व में समा गई तथा यही नेतृत्व सम्पूर्ण व्यवस्था पर अधिनायकीय शासन करने लगा। बीसवीं सदी में रूस जो बाद में सोवियत संघ के रूप में संगठित हुआ, चीन तथा पूर्वी यूरोप के वे सभी राज्य जहाँ साम्यवादी/समाजवादी व्यवस्थाएं कायम हुई, में एक दलीय अधिनायकवादी व्यवस्थाएं स्थापित हुई। इस व्यवस्था की विशेषताएं निम्नलिखित थी :

(1) व्यक्तिवाद, उदारवाद, पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध

साम्यवादी विचारधारा इन व्यवस्थाओं को आर्थिक शोषण का साधन तथा समाज में वर्ग भेद का सृजन करने वाली व्यवस्थाएं मानती है। उदारवादी लोकतंत्रों को साम्यवादी विचारक पूंजीवाद तथा साम्राज्यबाद का पोषक मानकर उनका विरोध करते हैं। इसी आधार पर वे फासीवाद का भी विरोध करते हैं।

(2) सर्वाधिकारीवादी राज्य व्यवस्था तथा शासन का सर्वसत्तावादी स्वरूप

साम्यवादी व्यवस्थाएं अपने आदर्श राज्यविहीन समाज की स्थापना के उद्देश्य प्राप्ति में तो असफल रहीं पर यहाँ एक सर्वाधिकारवादी राज्य लगभग वैसा ही जैसा कि फासीवादी राज्यों को देखा गया था, इन व्यवस्थाओं की भी विशेषता बन गया। इन व्यवस्थाओं में राज्य अथवा सरकार का विरोध सहन नहीं किया जाता। व्यक्तिगत तथा सामुदायिक स्वतंत्रता उसी सीमा तक स्वीकार की जाती है जहाँ तक वह शासन या साम्यवादी दल का विरोध न करे। धार्मिक स्वतंत्रता जैसी कोई स्वतंत्रता नहीं है क्योंकि जातिगत व धर्मगत भेदभाव वर्ग विभेद का पर्यायवाची समझा जाता है धार्मिक विश्वास दलीय सदस्यता के लिए अपात्रता है अथवा शासन के पदों के लिए अनर्हता। कठोर गुप्तचर व्यवस्था भी अपनायी जाती है।

(3) दल तथा सरकार के मध्य भेद नहीं

एक दलीय अधिनायकवादी व्यवस्थाओं के अंतर्गत शासन के समस्त स्तरों पर सरकारी संगठन के समानान्तर दलीय संगठन भी स्थापित किये जाते हैं। शासकीय पदों पर कार्य करने वाले समस्त पदाधिकारी व कर्मचारी साम्यवादी दल के सदस्यों में से ही लिए जाते हैं। सरकारी अभिकरणों के ऊपर कठोर दलीय नियंत्रण कायम रहता है। वस्तुत: समस्त नीति दलीय संगठन करते हैं। शासकीय संगठन तो उन्हें मात्र कार्यान्वित कराने का कार्य करते हैं। इन व्यवस्थाओं में दल ही सरकार होता है या सरकार स्वयं दल होती है।

(4) लोकतंत्री केन्द्रवाद की मान्यता

फासीवाद की ही तरह इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत भी शासन में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अत्यधिक मात्रा में बनी रहती है। ये व्यवस्थाएं अपने को लोकतांत्रिक कहती हैं क्योंकि दल व सरकार दोनों में निम्नतर स्तर से उच्चतर स्तर तक जनप्रतिनिधियों की निर्वाचित संस्थाएं या संरचनाएं होती हैं परन्तु केन्द्रीयवादिता के रहते सभी महत्वपूर्ण निर्णय शीर्षस्थ अभिकरणों द्वारा लिए जाते हैं और निम्नतर स्तरों के अभिकरणों के लिए उन निर्णयों को लागू करवाना तथा स्वीकार करना बाध्यकारी होता है।

(5) अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक बल

ये व्यवस्थाएं संविधानवाद को अपनाती है तथा संविधान द्वारा नागरिकों को अनेक अधिकार तथा स्वतंत्रताएं प्रदत्त होती हैं। परन्तु इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत स्वतंत्रताओं का स्वरूप उदारवादी लोकतंत्रों से भिन्न होता है। मौलिक अधिकार न्याययोग्य नहीं होते। न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं होती क्योंकि न्यायपालिका भी साम्यवादी दल के सदस्यों में से ही गठित होती है। न्यायधीशों के लिए साम्यवादी विचारधारा में दृढ़ आस्था रहना आवश्यक होता है। नागरिक अधिकारों की व्याख्या

कार्यपालिका करती है। संविधान मौलिक कर्त्तव्यों की घोषणा करता है और सरकार द्वारा उनके अनुपालन को अधिक महत्व दिया जाता है। मौलिक अधिकारों के अंतर्गत आर्थिक एवम् समाजवादी नीतियों को सुनिश्चित करने की व्यवस्था की जाती है।

(6) औद्योगीकरण पर बल

साम्यवाद का अंतिम उद्देश्य भौतिक उत्पादन को अधिक बढ़ाना होता है। ताकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएं पूर्ण हो सके, प्रत्येक व्यक्ति को काम अनिवार्यत: करना पड़ता है। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन की सीमा होती है। सम्पूर्ण भौतिक सम्पत्ति तथा उत्पादन को समाज की सम्पत्ति माना जाता है। उसके वितरण तथा उपभोग का नियंत्रण समाज की सत्ता (सरकार) करती है।

(7) यह व्यवस्था उग्र राष्ट्रवादी नहीं है

साम्यवाद मूलत: अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातत्व की **धारणा विश्वास रखता है। इसका स्वप्न सम्पूर्ण विश्व में** एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था। **इस अर्थ में अंतराष्ट्रीय समाजवाद का स्वप्न साम्यवादी** देखते थे। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात **शीतयुद्ध के चलते यह संभव नहीं था। साम्यवाद प्रसार** के पश्चिमी जगत के विरोध को समझते **हुए सटालिन ने एक देश में समाजवाद का नारा दिया था** परन्तु साम्यवादी/समाजवादी विचारधारा के **विस्तार की महत्वाकाक्षां अवश्य बनी रही और एक सीमा** तक इसमें सफलता भी मिली। किन्तु **बीसवीं सदी के अंतिम दशक के आते-आते यूरोप में** साम्यवादी व्यवस्थाएं विखंडित हो **गईं और इसके साथ ही शीतयुद्ध की भी समाप्ति हो गई।** यद्यपि अन्यत्र जैसे चीन में साम्यवादी व्यवस्थाएं **अभी भी मौजूद हैं परन्तु उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण के** दौर में साम्यवाद अपनी उन कठोर **सैद्धांतिक मान्यताओं तथा पूंजीकरण से अपनी पारंपरिक शत्रुता** बाहर निकल आया है ऐसा प्रतीत होता है।

9.3.3 अधिनायक तत्रों/तानाशाही के गुण तथा दोष

नि:संदेह एक राज्य व्यवस्था अथवा शासन के स्वरूप के रूप में तानाशाही अथवा अधिनायकवाद एक विकृत व्यवस्था है। अत: इसकी सराहना नहीं की जा सकती। साथ ही ऐसी व्यवस्थाओं को सार्वभौम रूप में तिरस्कृत ही किया गया है। परन्तु यह भी एक सत्य है कि ऐसी व्यवस्थाएं हर युग में अस्तित्व में रही है। तथा विश्व में अनेक राज्य ऐसे हैं जिनकी नियति ही एक तानाशाही व्यवस्था बन गई है। तानाशाहियों में भी कुछ गुणों को खोजा जा सकता है। जो निम्नलिखित हैं :

गुण

(1) सुदृढ़ राज्य व्यवस्था के निर्माण में सहायक

अधिनायकतंत्र पशु बल से ही सही, एक सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण में सहायता देता है। इसमें राष्ट्र विरोधी तत्वों को उभरने का अवसर नहीं मिलता। यदि अधिनायक कुशल हो और जनता की खुशहाली के लिए प्रयत्नशील रहे तो वह जनता में देश भक्ति की भावना भरने में सफल हो सकता है। इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है।

(2) शासन एवम् प्रशासन चुस्त रहता है

शासन तथा प्रशासन के शीर्षस्थ पदों पर योग्य तथा कुशल व्यक्तियों की नियुक्ति होती है। शासनिक निर्णय तुरन्त लिए जाते हैं। विविध राजनीतिक प्रश्नों के हल के लिए विचार विनिमय, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क आदि में समय नष्ट नहीं किया जाता। अत: प्रशासन चुस्त रहता है।

(3) द्रुत आर्थिक विकास संभव होता है

अधिनायकतंत्र व्यक्तिगत हित के स्थान पर राष्ट्रीय या समाज के सामूहिक हितों को वरीयता देते हैं। अत: राज्य के आर्थिक, औद्योगिक तथा व्यावसायिक विकास को सर्वोपरिता दी जाती है। ये

व्यवस्थाएं आर्थिक अपराधियों को कुचलने में देरी नहीं करती। प्राय: आर्थिक अपराधियों को पनपने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

(4) कुशल शासन

इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत शासन सत्ता के प्रयोक्ताओं का चयन उनकी कार्य क्षमता तथा कौशल को देखकर किया जाता है अतएव शासन वास्तव में योग्यों का होता है अकुशल अधिकारियों को पदच्युत करने में कोई विलंब नहीं किया जाता। ये व्यवस्थाएं यह मानकर चलती हैं कि शासन संचालन केवल योग्य लोगों का अधिकार एवम् विशेषाधिकार है और आम जनता ऐसे योग्यताओं की परख नहीं कर सकती। इसलिए पदाधिकारियों का चयन सत्ताधारी अधिनायक द्वारा ही किया जाता है और पदाधिकारियों की जवाबदेही भी अधिनायक के प्रति ही होती है।

(5) संकटकाल के लिए सर्वाधिक लोचपूर्ण व्यवस्था

राष्ट्रीय आपात का सामना करने के लिए ये व्यवस्थाएँ पर्याप्त लोचपूर्ण होती हैं सत्ताधारी अधिनायक या दल इच्छानुसार संवैधानिक व्यवस्था में परिवर्तन करके आवश्यक व्यवस्थाएं तत्काल कर लेता है।

दोष

अधिनायकतंत्रों में ये थोड़े से गुण भले ही हों पर जिन बुराईयों अथवा दोषों को अधिनायकतंत्रों में देखा जाता है वे इन सभी गुणों को छिपा देते हैं।

(1) निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता

तानाशाही व्यवस्थाएं शासन की नीतियों, कार्यकलापों आदि के प्रति विरोध को सहन नहीं कर पाती। परिणाम स्वरूप शासन कार्यों में सत्ताधारी अधिनायक अथवा दल की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता बनी रहती है। शासन संबंधी क्रिया-कलाप जनहित में या जन इच्छानुकूल हैं या नहीं इसका निर्धारण शासक स्वयं करते हैं।

(2) वैयक्तिक स्वतंत्रताओं का हनन

तानाशाहियां व्यक्तिगत स्वतंत्रता को न मान्य करती हैं और न ही उनके संरक्षण की व्यवस्था। परिणाम स्वरूप नागरिक अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करने हेतु अवसर नहीं पा सकते। अंत: करण तथा विचार स्वातंत्र्य के अभाव में व्यक्ति की प्रतिभा के लाभ से समाज वंचित हो जाता है। साहित्य कला विज्ञान आदि के क्षेत्र में स्वतंत्र विकास नहीं हो पाता। व्यक्ति अपने ज्ञान व विकास को राज्य को गिरवी कर देता है अत: उसकी वैयक्तिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

(3) अंतर्राष्ट्रीय शांति को खतरा

उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित अधिनायकवादी व्यवस्थाएं जनता में उग्र राष्ट्रवाद की शिक्षा तथा प्रेरणा जगाती है। वे साम्प्रदायिक, धार्मिक व जातिगत भावनाओं को उकसाती हैं सरकार के प्रति जननिष्ठा बनाये रखने के लिए सदैव देश पर बाहरी अथवा पड़ोसी देशों से होने वाले खतरों का झूठा प्रचार किया जाता है और एक तानाशाही शासक सदैव अपनी सैन्य शक्ति को सुदृढ़ करने में लीन रहता है। फासीवाद, साम्राज्यवाद का सपना देखता था, सैनिक तानाशाही राज्य अपने पड़ोसियों पर निगाह लगाये रहते हैं। साम्यवादी अधिनायकवादी व्यवस्थाएं पूंजीवादी लोकतंत्रों के विरूद्ध शास्त्रास्त्रों की होड़ में लगे रहते थे। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय शांति का मार्ग अवरूद्ध होता है तथा एक सतत् युद्ध अर्थव्यवस्था की स्थिति बनी रहती है। इसी तरह आक्रामकता की नीति भी जिसका नारा 'विस्तार अथवा विनाश' होता है अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा होता है।

(4) शासन व्यवस्था का अत्याचारी स्वरूप

सभी अधिनायकतंत्री शासन व्यवस्थाएं अत्यधिक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्थाओं को स्थापित करती है। राजनीतिक संचार साधनों पर कठोर सरकारी नियंत्रण स्थापित करती हैं। जनमत एवम् जन उपक्रम की उपेक्षा करती हैं। सर्वत्र सरकारी गुप्तचर व्यवस्था को सक्रिय रखती हैं। इस तरह वैयक्तिक जीवन को भयाक्रांत कर देती हैं। इस तरह वैयक्तिक स्वतंत्रता जैसी कोई वस्तु नागरिकों के पास नहीं रहती।

सर्वत्र भय का आतंक बना रहता है। तथा मानव के व्यक्तित्व को बौना बना दिया जाता है।

(5) राज्य एक लक्ष्य बन जाता है

आधुनिक समय में जहाँ राज्य को मानव जन कल्याण का एक साधन माना गया है। अधिनायकतंत्र राज्य को ही साध्य बना देता है और व्यक्ति के अस्तित्व का राज्य में विलय करा देता है। व्यक्ति मात्र राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा के लिए ही अस्तित्व में रहता है। इसमें आम नागरिक में उदासीनता का भाव पनपता है।

(6) शक्ति पूजा

यह अधिनायकवाद का एक लक्षण व दोष है। अधिनायकतंत्र हिंसा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं और बल के द्वारा इसे बनाये रखते हैं। ये निर्दयता के प्रतीक होते हैं अपने विरोधियों का पाशविकता से दमन करते हैं। हिटलर, पौल पॉट, इदी अमीन, तालिबान या सद्दाम हुसैन की निर्दयता, दमन व बर्बरता की कहानियां दिल दहलाने वाली हैं।

(7) अधिनायकतंत्र अस्थिर शासन होते हैं

तलवार की शक्ति पर आधारित व्यवस्था कभी भी स्थायी नहीं हो सकती, अधिनायक अपने पीछे किसी उत्ताधिकारी को भी नहीं छोड़ते क्योंकि उन्हें सदैव अपनी स्थिति की अस्थिरता का भय बना रहता हैं। अधिनायकों के पतन के बाद भी प्रायः इन व्यवस्थाओं में अस्थिरता बनी रहती है, कभी-कभी तो बरसों तक ये व्यवस्थाएं अस्थिरता के दौर से गुजरती हैं या फिर आंतरिक कलह, गृह युद्ध और असंतोष का कारण बनती है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि अधिनायकवाद आत्म विनाशी व्यवस्था होता है। एक दलीय अधिनायकतंत्र के बारे में यह बात इस रूप में चरितार्थ नहीं होती।

निष्कर्षतः यह कहा जायेगा कि फासीवादी तथा सैनिक तानाशाही व्यवस्थाएं सर्वथा अवांछनीय व्यवस्थाएं हैं। लोकतंत्र, मानवता, सह अस्तित्व तथा विश्वशांति के आदर्शों को मानने वाली व्यवस्थाएं ही सार्वभौम रूप से स्वीकृत शासन प्रणालियां हैं।

9.4 सारांश

मानव सभ्यता के राजनीतिक इतिहास की एक सर्वाधिक नाटकीय और महत्वपूर्ण घटना राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक चिन्तकों का प्रजातंत्र की ओर रूझान है। संभवत: शासन प्रणालियों पर किये गये अब तक के सभी प्रयासों में इससे अच्छा कोई विकल्प नहीं है, प्रजातंत्र एक ही साथ एक शासन का रूप और जीवन प्रणाली दोनों ही है। प्रजातंत्र की प्रकृति तथा प्रजातांत्रिक शासन के प्रतिमानों के बारे में कई विविध विचार तथा प्रयोग देखे जा सकते हैं। व्यवहार में प्रजातंत्र के उदार प्रतिमान के विषय में व्यापक सहमति दिखाई पड़ती है। इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं—अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र जो नियमित चुनावों पर आधारित है, यह दलों के मध्य प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष पर आधारित है जहाँ जनता के पास शासकों के चयन की स्वतंत्रता है तथा समानता (अपने सभी रूपों में) इसका आधार है। सामाजिक न्याय प्रजातंत्रीय शासन का तकाजा है। अधिनायकवादी व्यवस्थाओं से निजाद प्रजातंत्रीय शासन में ही मिल सकती है। यद्यपि राजनीतिक इतिहास में तानाशाही शासनों अथवा अधिनायकतंत्रों के उद्‌भव के उदाहरणों की कमी नहीं है तथा हर युग में इनके दृष्टान्त देखने को मिलते हैं परन्तु अधिनायकों का पराभव भी उनके उद्‌भवों की ही तरह नाटकीय रहा है। अधिनायकवादी या तानाशाही शासनों की अस्थिरता उनकी बाध्यकारी शक्ति के कारण से है इसीलिए प्रजातंत्र सार्वभौम रूप से कहीं अधिक स्वीकार्य तथा स्थिर व्यवस्थाएं रही हैं।

9.5 उपयोगी पुस्तकें

1. सी० जे० फ्रैडरिक : कान्सटीट्‌भूशनल गवर्नमेंट एण्ड डेमोक्रैसी
2. सी० डी० जर्न्स : डेमोक्रैसी
3. सी० बी० मैक्फर्सन : डेमोक्रैटिक थ्योरी

4.	एलन आर० बाल	:	मार्डन पालिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट
5.	ब्राइस	:	मार्डन डैमोक्रैसीज
6.	जे० ए० शूम्पीटर	:	सोशियलिज्म, कैपीटलिज्म एण्ड डैमोक्रैसी
7.	राबर्ट डहल	:	डेमोक्रैसी एण्ड इट्स क्रिटीक्स
8.	फोर्ड	:	डिक्टेटरशिप
9.	बैरिंगटन मूर	:	सोशियल ओरिजिन्स एण्ड डेमोक्रैसी ऑफ डिक्टेटरशिप
10.	आर० एम० मैकाईवर	:	वेब ऑफ गवर्नमेंट

9.6 सम्बन्धित प्रश्न

(A) लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए :

(i) लोकतंत्र के आधारभूत तत्व

(ii) राजनीतिक लोकतंत्र

(iii) सामाजिक न्याय

(iv) फासीवाद

(v) एक दलीय अधिनायकवाद

(vi) सफल लोकतंत्र की आवश्यक दशाएं

(vii) लोकतंत्र अयोग्यता का पंथ है

(viii) स्वतंत्रता, समानता भ्रातत्व

(ix) प्रत्यक्ष लोकतंत्र

(B) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(i) लोकतंत्र (प्रजातंत्र) के अभ्युदय के कारणों को समझाईये। लोकतंत्र की आधारभूत मान्यताएं क्या हैं?

(ii) "प्रजातंत्र एक शासन प्रणाली मात्र नहीं है वरन यह एक जीवन पद्धति है।" व्याख्या कीजिए?

(iii) प्रजातंत्र के गुण दोषों की विवेचना कीजिए?

(iv) प्रजातंत्र के सामाजिक आधारों की विवेचना कीजिए?

(v) अधिनायकतंत्रों (तानाशाही) के अभ्युदय के कारणों की विवेचना कीजिए?

(vi) फासीवादी अधिनायकतंत्र तथा एकदलीय तानाशाही की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

(vii) अधिनायकतंत्र की परिभाषा कीजिए। इसके प्रमुख लक्षण क्या हैं?

viii) अधिनायकतंत्र के गुण दोषों की समीक्षा कीजिए।

(C) वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. ''लोकतंत्रीय आन्दोलन शांति का आन्दोलन रहा है।'' यह किसका कथन है।
   (a) लास्की
   (b) बार्कर
   (c) लॉर्ड ब्राइस
   (d) बर्क
2. निम्न में कौन सा प्रजातंत्रीय शासन का एक गुण नहीं है।
   (a) जनमत पर आधारित शासन
   (b) स्वतंत्रता, समानता तथा भातृत्व पर आधारित शासन
   (c) पेशेवर राजनीति को प्रोत्साहन मिलता है।
   (d) जनकल्याण की अभिवृद्धि होती है।
3. ''डेमोक्रेटिक थ्योरी'' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं।
   (a) जी० साराटोरी
   (b) मैकफर्सन
   (c) शुम्पीतर
   (d) लार्ड ब्राइस
4. निम्न में से कौन आधुनिक अधिनायकतंत्र का लक्षण नहीं है।
   (a) शासन किसी एक दल में केन्द्रित होता है।
   (b) प्रेस की स्वतंत्रता का अभाव पाया जाता है।
   (c) कठोर केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है।
   (d) अधिनायक को वैधता प्राप्त रहती है।
5. यह किसने कहा था कि ''साम्राज्यवाद जीवन का चिर स्थायी एवं अक्षुण्ण नियम है।''
   (a) हिटलर
   (b) मुसोलिनी
   (c) फ्रांको
   (d) लेनिन
6. यह किसने कहा है कि ''मुसोलिनी कार्यरूप में मैकियावली का 'प्रिंस' हैं।''
   (a) बर्नहम
   (b) मैकाइवर
   (c) बार्कर
   (d) लास्की

9.7 प्रश्नोत्तर

1. (d) 2. (c) 3. (b) 4. (d) 5. (a) 6. (c)

खण्ड

4

राजनीतिक प्रक्रियाएं

इकाई 10

राजनीतिक विकास 5

इकाई 11

राजनीतिक सम्प्रेषण (संचार) 18

इकाई 12

राजनीतिक सहभागिता 30

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-03 :– *तुलनात्मक राजनीति*

लेखक मण्डल

खण्ड एक: डॉ. सतीश कुमार, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 3 इकाई

खण्ड दो: डा. मानुका खन्ना, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीन: डॉ. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चार: डॉ. राजीव सरन, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड पाँच: प्रो. सी.बी. सिंह, (अ.प्रा.) राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित. इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 4 का परिचय : राजनीतिक प्रक्रियाएं

इस खण्ड में आप तीन राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करेंगे—'राजनीतिक विकास', 'राजनीतिक सम्प्रेषण' एवं 'राजनीतिक सहभागिता'। ग्रॉस (Bertram M. Gross) ने International Encyclopedia of the Social Sciences में प्रकाशित अपने लेख में 'राजनीतिक प्रक्रिया को "विभिन्न समूहों के रूप में की गई लोगों की गतिविधियाँ जिनका उद्देश्य सत्ता के लिए संघर्ष एवं व्यक्तिगत और सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सत्ता के प्रयोग" के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक क्रिया (social action) के विभिन्न स्वरूपों की तरह एक प्रमुख कठिनाई उसे प्रभावित करने वाले परिवर्त्यों की संख्या है जो एक-दूसरे से परस्पर-सम्बद्ध होते हैं।

नवोदित एवं विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में हो रहे परिवर्तनों के विश्लेषण हेतु पारम्परिक उपागमों की अपर्याप्तता ने ऐसे उपागमों की खोज को प्रोत्साहित किया जिनसे राजनीतिक परिवर्तनों का पर्यावरण के व्यापक संदर्भ में विश्लेषण किया जा सके। इन प्रयासों का परिणाम 'राजनीतिक विकास' उपागम के रूप प्रस्तुत हुआ। पाई (Lucian W. Pye) के अनुसार राजनीतिक विकास "संस्कृति का विकास एवं जीवन के प्रयोग में प्रतिमानों को नई मांगों के साथ अनुकूलित, सम्बन्धित एवं समायोजित करने" की प्रक्रिया है। उनके अनुसार राजनीतिक विकास की तीन विशेषताएं समानता, क्षमता एवं संरचनात्मक विभेदीकरण हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में इनकी उपलब्धि के अनुपात में उसकी 'विकास' की स्थिति का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कोलमैन ने उन्हें 'विकासात्मक लक्षण समीष्ट' की संज्ञा दी है।

अधिकांश पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं आधुनिकीकरण का अर्थ पाश्चात्यीकरण ही माना है। होलियो जैग्युराइव के अनुसार राजनीतिक विकास की प्रक्रिया राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं राजनीतिक संस्थाकरण का योग है। राजनीतिक विकास के प्रतिमानों की संख्या से यह स्पष्ट है कि न तो कोई ऐसी आदर्श व्यवस्था है जिसे सभी सामानों का लक्ष्य माना जाए, न ही उस प्रकार की किसी क्रिया को अवश्यभावी मानने के पर्याप्त कारण।

कार्ल डॉयश ने सम्प्रेषण एवं संतांत्रिकी (cybernetics) पर आधारित राजनीतिक विश्लेषण का नया उपागम प्रस्तुत किया है जो राज्य व्यवस्था के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन एवं समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता का अध्ययन करता है। वीनर ने 'संचार' में उन सभी प्रक्रियाओं को शामिल किया है जिनके द्वारा एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क को प्रभावित करता है। सम्प्रेषण सिद्धांत के अनुसार प्रशासन विभिन्न सूचना-प्रवाहों के आधार पर स्थिति निर्णयकरण की एक व्यवस्था है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी व्यवस्था का सम्प्रेषण मार्गों के एक संजाल के रूप में अध्ययन किया जा सकता है। संचार की जिस विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा नियंत्रण एवं मार्ग-परिवर्तन का कार्य किया जाता है उसे प्रतिसम्भरण (Feedback) कहा जाता है।

सम्प्रेषण उपागम व्यवस्था-अनुरक्षण के अध्ययन में सहायक है किन्तु क्रांतिकारी परिवर्तनों की पेचीदगियों से निपटने में उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसकी एक प्रमुख कमी इस सिद्धांत का अत्यधिक यांत्रिक स्वरूप है। मानव व्यवहार को अचेतन प्रक्रियाओं पर आधारित प्रतिमानों द्वारा समझना व्यावहारिक नहीं है।

राजनीतिक सहभागिता से तात्पर्य व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेने से है। इसका सम्बन्ध प्रशासनिक निर्णयों एवं क्रियाकलापों को प्रभावित करने के उद्देश्य से की गई गतिविधियों से है। अब चुनावों से सम्बद्ध गतिविधियों तक इसे सीमित न मानते हुए प्रशासन को प्रभावित करने से सम्बन्धित सभी गतिविधियों को सहभागिता के दायरे शामिल किया जाता है। 'पेशेवर' एवं 'गैर व्यावसायिक सहभागिता' में विभेद करते हुए अनेक विशेषज्ञों ने गैर-व्यावसायिक सहभागिता को ही सही अर्थों में 'सहभागिता' माना है।

सहभागिता के असामान्य स्वरूपों में 'प्रतिवाद सहभागिता-धरना, दंगे, हत्या, इत्यादि-पिछले कुछ दशकों से अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। 'उदासीनता' एवं 'प्रतिमान हीनता' (anomie) सहभागिता के दो विशिष्ट स्वरूप हैं जिन्हें अब काफी महत्व दिया जा रहा है। विचारणीय प्रश्न यह है कि किस हद तक यह लोकतंत्र के लिए रोगात्मक (pathological) हैं?

इकाई 10 राजनीतिक विकास

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 राजनीतिक विकास उपागम की आवश्यकता
10.3 राजनीतिक विकास : अर्थ एवं परिभाषा
10.4 राजनीतिक विकास : प्रकृति
10.5 राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं राजनीतिक विकास
10.6 राजनीतिक विकास की विशेषताएं
10.7 राजनीतिक विकास : आलोचनात्मक समीक्षा
10.8 सारांश
10.9 उपयोगी पुस्तकें
10.10 संबंधित प्रश्न
10.11 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'राजनीतिक विकास' की अवधारणा की विवेचना की जा रही है जो समकालीन राजनीतिशास्त्र की महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- राजनीतिक विकास संम्बधी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे
- राजनीतिक विकास की अवधारणा का अर्थ एवं कुछ परिभाषाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राजनीतिक विकास की प्रकृति को समझ सकेंगे एवं 'राजनीतिक विकास' एवं आधुनिकीयकरण में अंतर कर सकेंगे
- राजनीतिक विकास की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे एवं इस दृष्टिकोण की कुछ प्रमुख आलोचनाओं एवं कमियों को समझ सकेंगे

10.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनीति के 'राजनीतिक व्यवस्था उपागम' और 'संरचनात्मक प्रकार्यात्मक' उपागमों का विवेचन इससे पूर्व किया गया है। इन दोनों उपागमों में एक मौलिक और आधारभूत कमी यह दिखाई देती है कि इनमें राजनीतिक व्यवस्था पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है। राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था को उपव्यवस्था के रूप में स्वीकार करने से यह स्पष्ट होता है कि इसके पर्यावरण के महत्व को स्वीकार किया गया है। किन्तु प्रधान प्रवर्ग राजनीतिक व्यवस्था ही को बनाए रखने से विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले नाटकीय विकासों का स्पष्टीकरण देना असंभव सा होने लगा। इन दोनों ही उपागमों में राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने या व्यवस्था के टूटने के कारणों की विस्तार से विवेचना सामान्य सिद्धांत बनाने में भी सहायक नहीं हो पाई। अतः इसे उपागमों की आवश्यकता महसूस की जो लगी जो तुलनात्मक विश्लेषणों को विकासशील देशों के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पर्यावरणों के सम्पूर्ण संदर्भ तक व्यापक बनाने में सहायक हो। इस आकार 1960 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के ऐसे उपागम अस्थापित किए जाने लगे जो राजनीतिक परिवर्तनों के पर्यावरण के समूचे संदर्भ में विश्लेषण करने की सम्भावनाएं प्रस्तुत करने वाले थे। ऐसे उपागमों की आवश्यकता स्प,ष्ट होने लगी जिनमें प्रमुखता राजनीतिक व्यवस्था या संरचनाओं को ही नहीं दी जाए, अपितु उस संदर्भ को दी जाए जिसके भाग के रूप में राजनीतिक सक्रियता संचालित होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के प्रयत्वस्वरूप तुलनात्मक

राजनीति के विश्लेषणों में राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक संस्कृति और मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागमों का प्रचलन और प्रतिपादन किया गया।

10.2 राजनीतिक विकास उपागम की आवश्यकता

राजनीतिक विकास की अवधारणा उक्त प्रयत्नों का परिणाम है जिनमें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में स्वतंत्र हुए राज्यों की राजनीतिक संरचनाओं को समझने के लिए अधिक यर्थाथवादी अध्ययन दृष्टिकोण की खोज की जा रही थी। इन राज्यों और पश्चिम के राज्यों में मौलिक अंतर होने के कारण जहां 'राजनीतिक व्यवस्था' उपागम और 'संरचनात्मक —प्रकार्यात्मक' उपागम पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में काफी सहायक रहे, वहीं विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले उलट-फेर को समझने और समझाने में विशेष सहायता नहीं कर सके। अत: कुछ विद्वान—पाई, कोलमैन, आमण्ड, रिग्स, वीनर इत्यादि ऐसे प्रत्यय के खोज में लग गए जो विकास की सम्पूर्णता के संदर्भ में नए राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने में सहायक हों।

अनके विद्वानों की यह मान्यता दृढ़ होने लगी कि गैर—पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाएं पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं से आधारभूत ढंग से भिन्न हैं इसलिए इनके अध्ययन के लिए सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पर्यावरण के सम्पूर्ण संदर्भों को लेकर चलना आवश्यक है। इन विद्वानों का अभिमत था कि विकासशील राज्यों में पारिस्थितिकीय शक्तियों का राजनीतिक व्यवस्थाओं को संचालित करने में निर्णायक दबाव और प्रभाव रहता है। अत: 'राजनीतिक विकास' का नया दृष्टिकोण विकसित हुआ जो इतना व्यापक बनाया गया कि वह राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं के विश्लेषण के अलावा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की पारिस्थितिकीय शक्तियों को भी विश्लेषण में विशेष रूप से सम्मिलित कर सके।

कोलमैन, रिग्स, बाइन्डर, फीथ, पाई, वीनर, एप्टर एवं अन्य विद्वानों ने क्रमश: नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, इन्डोनेशिया, बर्मा, भारत, घाना और अन्य राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का गहनता से अध्ययन करके विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं के बारे में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। इन देशों के अध्ययनों ने नए तथ्य और नए सत्य उद्धरित किए। इनसे आंकड़ों का अम्बार लग गया और 'राजनीतिक विकास' राजनीतिक अध्ययनों में नया ध्यान बिंदु बन गया। राजनीतिक विकास उपागम अधिक वैज्ञानिक, परिशुद्ध और परिष्कृत प्रविधियों पर आधारित होने के कारण विश्वसनीय निष्कर्षों और सामान्यीकरण तक ले जाने वाला भी प्रतीत होने लगा।

10.3 राजनीतिक विकास: व्याख्या एवं परिभाषाएं

'राजनीतिक विकास' के शब्दार्थ एवं व्याख्या पर विचारकों में मतैक्य नहीं पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण इसकी व्याख्या का 'विचारक विशेष' का दृष्टिकोण है। लूसिएन पाई का अभिमत है कि राजनीतिक विकास की विभिन्न व्याख्याएं इसको अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने और समझने की कोशिश का परिणाम है। इसके विभिन्न अर्थ और व्याख्याओं का उल्लेख करते हुए पाई ने लिखा है कि 'राजनीतिक विकास' की अवधारणा की इतने दृष्टिकोणों से व्याख्या की जा सकती है कि इन सबकी सूची बनाना ही संभव नहीं है। पाई ने 'राजनीतिक विकास' की दस व्याख्याओं का अपनी पुस्तक Aspects of Political Development में उल्लेख करते हुए इन सभी को 'भ्रमात्मक प्रयोग' बताया है।

1. राजनीतिक विकास, आर्थिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में

एमरसन, लिप्सेट, कोलमैन एवं अन्य के अनुसार 'राजनीतिक विकास' राजनीति की ऐसी स्थिति को कहा जाए जो आर्थिक उन्नति, प्रगति एवं समृद्धि में सहायक हो। किन्तु यह दृष्टिकोण तथ्य-सम्मत नहीं है क्योंकि अनेक विकासशील देशों में राजनीतिक विकास ने आर्थिक विकास को अवरुद्ध किया है।

2. राजनीतिक विकास, औद्योगिक समाजों की विशेष राजनीति के रूप में

कुछ विशेषज्ञों के अनुसार राज्य व्यवस्था में कुछ विशेषताएं होनी चाहिए, जैसे सरकार का उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार, बड़े उद्योगों को कार्य करने की स्वतंत्रता, सुव्यवस्थित, कानूनी प्रक्रियाएं, राजनीति लोक कल्याण के एक साधन के रूप में, इत्यादि। रोस्टो राजनीतिक एवं आर्थिक विकास को परस्पर संबद्ध मानते हैं एवं उनके अनुसार आर्थिक विकास के ही स्तर का राजनीतिक संगठन की संरचनात्मकता के साथ सावयवी संबंध रहता है।

3. राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास

अधिकांश समाजशास्त्री राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण को एक-सा मानते हैं। यदि राजनीतिक समाज में संरचनाओं का विभेदीकरण एवं विशेषीकरण, कानून का शासन, गुण-प्रधानता, नागरिकता तथा जन-सहभागिता आदि पाए जाते हैं तो वह राजनीतिक विकास की अवस्था मानी जाएंगी। किन्तु यह दोनों समानार्थी नहीं हैं। यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक दृष्टि से विकसित व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से आधुनिक भी हो (एप्टर, मिर्दाल, लर्नर)।

4. राजनीतिक विकास राष्ट्र—राज्य के प्रचालक के रूप में

इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिक जीवन का संगठन एवं राजनीतिक गतिविधियों का संचालन उन मानदण्डों के अनुसार होना चाहिए जो एक आधुनिक राष्ट्रीय राज्य से अपेक्षित हैं। किन्तु राजनीतिक विकास में राष्ट्रीयता का विचार एक महत्वपूर्ण पक्ष हो सकता है, लेकिन उसको राजनीतिक विकास कहना गलत होगा। अनेक विशेषज्ञों का मानना है कि पश्चिमी देशों में राष्ट्र-राज्य व्यवस्था का अन्त निकट है किन्तु उनका राजनीतिक विकास अभी भी क्रमिक है।

5. राजनीतिक विकास प्रशासकीय एवं वैधानिक विकास के रूप में

कुछ विशेषज्ञों के अनुसार नौकरशाही की प्रकृति, आकार एवं आधार और सर्वव्यापी कानूनों के माध्यम से विधि के शासन की स्थापना का होना या न होना 'राजनीतिक विकास' के प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं। अनेक विकासशील देशों में नौकरशाही वर्ग का प्रभाव है लेकिन रिग्स उसे ही राजनीतिक विकास' का परिचायक मानने के पक्षधर नहीं हैं। अत: यह व्यवस्था भी भ्रमात्मक ही कही जानी चाहिए।

6. जन संचारण एवं सहभागिता के रूप में राजनीतिक विकास

इस अवधारणा के अनुसार विकसित राजनीतिक व्यवस्थाओं में जन-संचारण एवं जन-सहभागिता बढ़ जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह सहभागिता रचनात्मक ही हो। संचरण एवं सहभागिता के नकारात्मक पहलू राजनीतिक विकास के स्थान पर राजनीतिक पतन के प्रतीक भी बन सकते हैं। जन सहभागिता के आधार का निर्धारण इस व्याख्या से उत्पन्न होने वाली दूसरी समस्या है। जन भावनाओं को उभारना एवं जनता को उत्तेजित बनाए रखना विकास के परिचायक नहीं हैं।

7. लोकतन्त्र के निर्माण के रूप में राजनीतिक विकास

लोकतंत्र के निर्माता के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को प्रतियोगी, स्वतंत्र तथा जन-सहभागिता के लक्षणों से युक्त करने की प्रक्रिया है। यद्यपि प्रथम दृष्टि में दोनों परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, दोनों में यह अन्तर है कि लोकतंत्र विचारधराओं एवं मूल्यों से जुड़ा है जबकि राजनीतिक विकास की अवधारणा इनसे उन्मुक्त है। अत: इन दोनों में संबंध स्थापित करना कठिन है।

8. स्थायित्व और सुव्यवस्थित परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास

यथास्थितिवादी स्थायित्व एवं व्यवस्थित परिवर्तनों को राजनीतिक विकास का पर्याय मानते हैं। अर्थात् जहां परिवर्तन के व्यवस्थित एवं सुनिश्चित तरीके हों तथा अनावश्यक उथल-पुथल न हो रही हो, उन राजनीतिक व्यवस्थाओं को विकसित माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण की दो कठिनाइयां हैं

– प्रथम किन परिवर्तनों को 'व्यवस्थित परिवर्तन' की संज्ञा दी जाए एवं द्वितीय – 'स्थायित्व के संकेतक' किन्हें माना जाए।

9. शक्ति – संचारक के रूप में राजनीतिक विकास

राजनीतिक व्यवस्था द्वारा शक्ति के प्रयोग की मात्रा या स्तर भी विकास की अवस्था के निर्धारण का आधार मानी जा सकती है। विकास के लिए शक्ति जुटा पाना तभी सम्भव होगा जब शासन में जन-सहभागिता होगी। अन्ततः यह व्यवस्था भी राजनीतिक विकास का सम्बन्ध लोकतंत्र के साथ स्थापित कर देती है।

10. राजनीतिक विकास, सामाजिक परिवर्तन की बहुकारकीय प्रक्रिया के एक पक्ष के रूप में

इसमें राजनीतिक विकास को एक व्यापक संदर्भ में देखते हुए इसके साथ सामाजिक तथा आर्थिक विकास का भी अध्ययन किया जाता है। आलोचकों का यह मानना है कि राजनीतिक विकास का सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से घनिष्ठ संबंध है परन्तु उसे सामाजिक परिवर्तन का एक पहलू मानना उचित नहीं है।

उपरोक्त व्याख्याओं के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा के अर्थ पर अत्यधिक मतभेद हैं। विभिन्न विचारक राजनीतिक विकास को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने और समझने का प्रयत्न करते हैं। यर्थाथवादी दृष्टिकोण से राजनीतिक विकास की यह सभी व्याख्याएं एकपक्षीय हैं और इसी कारण अधूरी हैं। इसीलिए पाई ने इन्हें अपूर्ण मानते हुए स्वयं अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। पाई इस विषय के प्रारंभिक लेखकों में थे जिन्होंने राजनीतिक विकास की संकल्पना का सबसे अधिक गहराई के साथ विश्लेषण किया। अपने विचारों का निरन्तर विकास कर पाई ने अपनी रचनाओं के द्वारा इस क्षेत्र से सम्बद्ध समस्त साहित्य को प्रभावित किया। अपनी प्रारंभिक रचनाओं में पाई ने यह विचार व्यक्त किया था कि राजनीतिक विकास का अर्थ ''संस्कृति का विसरण एवं जीवन के पुराने प्रतिमानों को नई मांगों के साथ अनुकूलित, सम्बन्धित और समायोजित करना है'' राजनीतिक विकास का प्रथम चरण राष्ट्र-राज्य व्यवस्था का विकास करना था। इसके द्वारा ही उस संस्कृति, जिसे पाई 'विश्व संस्कृति' की संज्ञा देते हैं, धीरे-धीरे सभी समाजों में प्रसार संभव हो सकता है।

1965 में प्रकाशित "Political Culture & Political Development" नाम के अपने सम्पादित ग्रंथ की प्रस्तावना में पाई ने राजनीतिक विकास के मूल तत्वों की व्याख्या की। उनके अनुसार राजनीतिक विकास तीन-स्तरीय प्रक्रिया है-1. सम्पूर्ण जनता के संदर्भ में, 2. प्रशासक एवं राज्य व्यवस्था की उपलब्धियों के स्तर के संदर्भ में, और 3. राज्य व्यवस्था के गठन की प्रकृति के संदर्भ में।

1. इस संदर्भ में मूल परिवर्तन यह होता है कि नागरिक स्वयं को प्रजा मान कर अधिकारियों से प्राप्त आदेशों का मूक पालन न कर एक ऐसे सहभागी का स्वरूप धारण करता है जिसका राजनीतिक निर्णयों के निर्माण एवं उपभोग में पूरा सहयोग होता है। अर्थात, जनसाधारण, शासकीय कार्यों में अधिक सक्रिय रूप में भाग लेते हैं, जिसका स्वाभाविक परिणाम उनका समानता के सिद्धांत के प्रति अधिक संवदेनशील होना एवं सभी पर समान रूप से लागू होने वाले कानूनों का पालन करने की तत्परता होती है। (समानता)

2. दूसरे संदर्भ में राजनीतिक विकास से तात्पर्य सार्वजनिक कार्यों का संचालन करने, वैचारिक मतभेदों पर नियंत्रण रखने और सार्वजनिक मांगों को पूरा करने की राजनीतिक व्यवस्था की अधिक क्षमता है। (क्षमता)

3. राजनीतिक व्यवस्था के गठन के संदर्भ में एक विकासशील राजनीतिक व्यवस्था से अपेक्षा की जाती है कि उसकी सहभागी संस्थाओं में संरचनात्मक विभेदीकरण (structural differentiation) प्रकार्यात्मक विशिष्टता (functional specificity) एवं एकीकरण (integration) की मात्रा में वृद्धि होती रहेगी। (विभेदीकरण)

पाई के अनुसार विकासशील राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए उसमें **समानता, क्षमता** एवं **विभेदीकरण** की विशेषताओं की खोज करनी चाहिए एवं इनकी उपलब्धि के अनुपात में उसके विकास की स्थिति का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इन तीन विशेषताओं को आगे चल कर डेविड कोलमेन ने "**विकासात्मक लक्षणसमष्टि**" (development syndrome) की संज्ञा दी।

अत: राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के यह तीन आयाम बताये गए हैं। प्राय: यह तीनों एक दूसरे के साथ आसानी से समायोजित नहीं होते - इनमें गहरे तनाव की संभावना भी रहती है। अधिक समानता की मांग व्यवस्था की क्षमता को चुनौती दे सकती है। विभेदीकरण, योग्यता एवं विशिष्ट ज्ञान के महत्व पर बल देकर समानता को सीमित करने की मांग अनपेक्षित नहीं कही जा सकती। पाई के अनुसार राजनीतिक विकास अन्तत: राजनीतिक संस्कृति, अधिकारिक संरचनाओं एवं सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओं के परस्पर संबंधों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। संक्षेप में, राजनीतिक संरचनाओं के अधिक विविध एवं क्षमतापूर्ण बनाने की प्रक्रिया, जिससे समाज का आधुनिक लक्ष्यों के अनुरूप रूपांतरण किया जा सके, राजनीतिक विकास कहा जा सकता है।

आमण्ड एवं पावेल ने राजनीतिक संरचनाओं में विभेदीकरण तथा विशेषीकरण होने के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति में बढ़ते हुए लौकिकीकरण (secularisation) को राजनीतिक विकास के रूप में वर्णित किया है। विकास का उद्देश्य राजव्यवस्था की कार्यक्षमता, प्रभावशीलता तथा सामर्थ्य को बढ़ाना है ताकि वह नवीन चुनौतियों का सामना कर सके। आल्फ्रेड डायमंट के अनुसार राजव्यवस्था को विकासशील माना जा सकता है यदि उसमें नए सामाजिक लक्ष्यों को पूरा करने, उन्हें सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने तथा नए प्रकार के संगठनों के निर्माण करने की क्षमता में वृद्धि हो। आइज़ेनस्टैट 'परिवर्तनों को लगातार आत्मसात करने की क्षमता के संस्थात्मक प्रबंध' को विकास मानते हैं। प्राय: इन विचारकों में विकास के संकेतकों (indicators) पर मतैक्य नहीं है। वे स्वतंत्र परिवर्त्यों (independent variables) एवं मध्यवर्ती परिवर्त्यों (intermediate variables) में भेद नहीं करते, अर्थात उसे विकास का कारण तथा परिणाम दोनों मान बैठते हैं।

कुछ विचारक राजनीतिक विकास को आश्रित परिवर्त्य (dependent variable) तथा कुछ स्वतंत्र एवं मध्यवर्ती परिवर्त्य (independent and intermediate variable) मानते हैं। प्रथम समूह के विचारकों के अनुसार राजनीतिक विकास, आधुनिकीकरण एवं प्रजातंत्र आदि के साथ स्वत: चला आता है। बर्जेस, लिप्सेट, रिग्स, कोलमैन, पाई, वीनर, वर्बा इत्यादि इस वर्ग में आते हैं। दूसरे समूह के विचारकों के अनुसार यह मात्र अन्य प्रभावों का परिणाम न होकर स्वयं अन्य परिवर्तनों का कारण भी है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों में आल्फ्रेड डायमंट, हेल्पर्न, आइज़ेनस्टैट, डॉयश, होल्ट, टर्नर इत्यादि हैं। यह नौकरशाही के विकास, राष्ट्रवाद के उद्भव, राजनीतिक दलों के निर्माण, राजनीतिक सहभागिता, संसाधनों के संघटन आदि को राजनीतिक विकास से जोड़ते हैं।

10.4 राजनीतिक विकास की प्रकृति

संदर्भ में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं —

1. एक मार्गीय दृष्टिकोण (Unilinear View) एवं **राजनीति विकास के**
2. बहुमार्गीय दृष्टिकोण (Multilinear View)

1. एक मार्गीय दृष्टिकोण : के समर्थकों के अनुसार सभी राष्ट्र विकास के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। उनका यह मानना है कि राजनीतिक विकास का केवल एक ही मार्ग है एवं विश्व के सभी राष्ट्र उसी मार्ग पर विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं। पुन: उनकी मान्यता है कि विकास के लिए प्रयासरत राष्ट्रों के सामने तीन विकल्प हैं— पाश्चात्य राष्ट्रों का, सोवियत रूस का एवं चीन का। राजनीतिक विकास का एक मार्ग एवं परिणाम स्वरूप विकास की एक ही दिशा होने के कारण विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को अविकसित से विकसित की निरन्तर रेखा पर अंकित किया जा सकता है।

2. बहुमार्गीय दृष्टिकोण : के समर्थकों के अनुसार राजनीतिक विकास बहुदिशाई (multi directional) व बहुआयामी (multi dimentional) हैं। स्वयं विकास की अनेक दिशाएं होती हैं, अत: राजनीतिक विकास भी एक बहुदिशाई प्रक्रिया ही है। यदि राजनीतिक विकास बहुदिशाई है तो यह बहुमार्गीय भी होगा।

इन दोनों मान्यताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक विकास का कोई निश्चित एवं पूर्व निर्धारित लक्ष्य नहीं हो सकता। वस्तुस्थिति के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि विकासशील राज्यों के विकास की न तो एक दिशा है न ही कोई एक मार्ग है। अत: राजनीतिक विकास के मार्ग के संदर्भ में दूसरा दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है। राजनीतिक विकास बहुमुखी एवं अनेक-मार्गी प्रक्रिया है।

10.5 राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं राजनीतिक विकास

पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों में अधिकांश ने राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक आधुनिकीकरण ही माना है एवं आधुनिकीकरण का अर्थ पाश्चात्यीकरण (Westernization) है। मैरियन लेवी, रार्बट वार्ड, साइरिल ब्लैक एवं डैन्कवार्ट रौस्टौ ने आधुनिकीकरण को ऐतिहासिक एवं प्रकार्यात्मक (functional) दोनों प्रकार की प्रक्रिया माना है। प्रकार्यात्मक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया को कह सकते हैं जिसके द्वारा सामंती युग के 'स्वामी-सेवक' (master-slave) संबंध को आधुनिक युग के 'नियोक्ता-कर्मचारी' (employer-employee) संबंध में परिवर्तित कर दिया गया है। मान्यता यह है कि शिक्षा के प्रसार एवं विस्तृत मताधिकार के प्रदान किए जाने के पश्चात यह प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ रही है। इन विशेषज्ञों के अनुसार प्रकार्यात्मक दृष्टि से राजनीतिक आधुनिकीकरण की तीन विशेषताएं हैं 1. राजनीतिक संरचनाओं की विभेदीकरण की मात्रा में वृद्धि, 2. केन्द्रीय प्रशासन की क्रियाकलापों का निरंतर विस्तार एवं 3. परम्परावादी अभिजन की बढ़ती हुई अवनति।

आइजेनस्टेड के अनुसार 'आधुनिकीकरण के परिणाम स्वरूप (अ) संरचनात्मक विविधता एवं विभेदीकरण और अनवरत संरचनात्मक परिवर्तनों का प्रारंभ होता है जिसके परिणामस्वरूप केन्द्र पर व्यापक समूहों का प्रभाव पड़ने लगता है' तथा '(ब) जिन नई संरचनाओं का विकास होता है उनमें अनवरत परिवर्तन से निपटने के लिए पर्याप्त क्षमता होती है।' इन नई संरचनाओं की क्षमता के कारण ही अनवरत विकास संभव हो पाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, आइजेनस्टेड का मानना है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया दो स्तरों से होकर चलती है : 1. मर्यादित आधुनिकीकरण (limited modernization) उस अवस्था को कह सकते हैं जिससे होकर पश्चिमी देश 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों के दौरान गुजर चुके हैं। इस चरण की विशेषता इन देशों में मध्यम वर्ग का उत्थान एवं निर्णयकरण के प्रमुख केन्द्रों में उसका समावेश था। 2. जन आधुनिकीकरण (mass modernization) द्वितीय चरण की शुरूआत 20वीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी देशों में हुई एवं इसमें आधुनिकीकरण का प्रभाव जन-साधारण तक पहुंचा। पश्चिमी समाजों में प्रथम से द्वितीय युग का संक्रमण धीमी गति से हुआ एवं इसे पूरा होने में काफी समय लगा। विकासशील समाजों में राजनीतिक आधुनिकीकरण के यह दोनों चरण लगभग एक साथ ही प्रारंभ होते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी राजनीतिक व्यवस्थाओं पर बहुत अधिक दबाव है एवं उनमें तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

कार्ल डॉयश एवं सैम्युएल हंटिंगटन ने इस प्रक्रिया को सामाजिक गत्यात्मकता (mobilization) कहा है। डॉयश के अनुसार सामाजिक गत्यात्मकता 'वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राचीन सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताएं क्षीण होने अथवा टूटने लगती हैं और मनुष्य समाजीकरण, अथवा व्यवहार के नए प्रतिमानों को स्वीकार करने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं।' इसे प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (per capita GNP) साक्षरता, शहरी आबादी तथा राजनीतिक दलों की सदस्य संख्या आदि के आधार पर मापा जा सकता है। इसका अर्थ परम्पराओं एवं आधुनिकता के

बीच सम्पूर्ण विभाजन होता है, क्योंकि परम्परागत सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के विघटन एवं जनसाधारण के मूल्यों और अपेक्षाओं में एक मूलभूत परिवर्तन आ जाने के बाद ही आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है। साक्षरता एवं शिक्षा के प्रसार में वृद्धि, बढ़ते हुए संचार साधन, नगरीकरण एवं इस प्रकार के अन्य कारक ही जनता की मनोवृत्ति को बदलने में सफल होते हैं। हंटिंगटन के अनुसार संस्था निर्माण की प्रक्रिया जब सामाजिक गत्यात्मकता (social mobilization) के साथ नहीं चल पाती, तब राजनीतिक व्यवस्था में गम्भीर तनाव उत्पन्न हो जाते हैं और राजनीतिक विघटन, यहां तक कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के टूट जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण परिवर्तन के स्तर की तुलना में लोगों की आकांक्षाओं के स्तर के काफी ऊँचा होने से उत्पन्न होने वाले संघर्षों का समाधान प्रस्तुत करने की राजनीतिक व्यवस्था की अक्षमता होती है। इसके परिणामस्वरूप प्रतिद्वन्दिता और जनतंत्र की ओर बढ़ने के स्थान पर "जनतंत्र का ह्रास" होना एवं स्वेच्छाचारी सैनिक शासनों एवं एक-दलीय सरकारों की स्थापना होने लगती है। हीलियो जैग्युराइब ने राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण में अन्तर करते हुए राजनीतिक विकास की अवधारणा को राजनीतिक आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक माना है। उनके अनुसार, एक प्रक्रिया के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक संस्थाकरण का योग है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण में लक्षणों की दृष्टि से मौलिक अन्तर नहीं पाया जाता। लेकिन नजदीक से देखने पर राजनीतिक आधुनिकीकरण संक्रमणशील समाजों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में आने वाले संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों तक ही सीमित है। यद्यपि इससे राजनीतिक व्यवस्था की उपव्यवस्थाओं राजनीतिक संस्कृति तथा उनकी प्रक्रियाओं में आने वाले परिवर्तनों का बोध भी होता है, परन्तु इससे राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता, उपव्यवस्थाओं की स्वतंत्रता इत्यादि का संकेत नहीं मिलता। अत: राजनीतिक विकास न तो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है और न ही राजनीतिक आधुनिकीकरण का पर्याय माना जा सकता है।

10.6 राजनीतिक विकास की विशेषताएं

ल्यूसिएन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास के तीन प्रमुख लक्षण होते हैं— **समानता**, **क्षमता** एवं **विभेदीकरण**।

1. **समानता** (equality) : राजनीतिक विकास की प्रथम विशेषता नागरिकों में समानता के प्रति सामान्य भाव का उत्पन्न होना है। समानता से तात्पर्य राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के सभी व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त होना एवं जन-सहभागिता में किसी प्रकार का भेदभाव न होना है। समानता का दूसरा अर्थ कानूनों का सार्वदेशिक स्वरूप एवं सभी व्यक्तियों का एक ही कानून से शासित होना है। समानता का तीसरा अर्थ यह है कि राजनीतिक एवं सार्वजनिक भर्ती का आधार योग्यता तथा कार्य-सम्पादन की क्षमता होना चाहिए। पाई का मानना है कि समानता मात्र कानूनी नहीं व्यावहारिक भी होनी चाहिए।

2. **क्षमता** (capacity) : राजनीतिक विकास की दूसरी विशेषता राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यक कार्यों के सम्पादन की क्षमता है क्षमता का दूसरा अर्थ सार्वजनिक नीति को लागू करने की शासन की प्रभावकारिता व समर्थता है। एवं क्षमता का तीसरा पक्ष है प्रशासनिक बुद्धिसंगतता ऐवं धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का प्रशासन में समावेश। राजनीतिक क्षमता की मात्रा का अनुमान उपरोक्त आयामों के आधार पर लगाया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप अनुचित मांगों को अस्वीकार कर सकना राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का सूचक है।

3. **विभेदीकरण** (differentiation) : संरचनात्मक विभेदीकरण एवं विशेषीकरण राजनीतिक विकास का तीसरा लक्षण है। इसका अर्थ यह है कि अलग-अलग कार्यों के लिए राजनीतिक संरचनाएं पृथक हों, कार्यात्मक दृष्टि से कार्यों का विभाजन हो, प्रकार्यात्मक सुनिश्चितता हो एवं संरचनाओं और प्रक्रियाओं का एकीकरण व उनमें समन्वय की स्थापना हो।

इस प्रकार पाई के अनुसार किसी भी विकासशील व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए उसमें समानता, क्षमता एवं विभेदीकरण की खोज की जानी चाहिए एवं जिस मात्रा में इन विशेषताओं का विकास हुआ है, उसके अनुपात में उसके राजनीतिक विकास की स्थिति को आंका जाना चाहिए। पाई के अनुसार समानता का संबंध राजनीतिक संस्कृति से क्षमता का संबंध शासन की आधिकारिक संरचनाओं की कार्य-निष्पादन क्षमता से एवं विभेदीकरण का संबंध गैर आधिकारिक संरचनाओं एवं सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओं से है।

राजनीतिक विकास के प्रारंभिक अध्ययनकर्ताओं का ध्यान उन विशेषताओं की खोज पर केन्द्रित था जिनके आधार पर विकासशील राष्ट्रों को पाश्चात्य, विकसित देशों से पृथक कर देखा जा सकता था। विकास की प्रक्रिया को प्रेरित एवं प्रभावित करने वाले कारकों एवं उन चरणों के अध्ययन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया जिनसे गुजरते हुए विभिन्न समाज विकास की दिशा में अग्रसर होते हैं। जापान एवं तुर्की की व्यवस्थाओं पर आधारित अपने अध्ययन में वार्ड एवं रौस्टॉ ने यद्यपि इन बातों पर ध्यान देने एवं ऐसी समस्याओं अथवा संकटों का पता लगाने, जिनका सामना विकासशील देशों को करना पड़ सकता है, का आश्वासन दिया था, परन्तु वास्तव में उन्होंने इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं किया। पाई ने इंग्लैण्ड के अपने अध्ययन के आधार पर छः प्रकार के संकटों (crises) का उल्लेख किया है जो वहां प्रकट हुए थे, एवं जिन पर विजय प्राप्त की जा सकी थी। पाई इन्हें **तादात्म्य** (identity), **वैधता** (legitimacy), **अन्तः प्रवेश** (penetration), सहभागिता (participation), **एकीकरण** (integration) एवं **वितरण** (distribution) की संज्ञा देते हैं। यह सभी संकट इंग्लैण्ड में इसी क्रम में उत्पन्न हुए एवं वहां की राज्य-व्यवस्था एक-एक करके इन्हें पार कर सकी थी। पाई ने स्पष्ट किया है कि सभी देशों में यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रस्तुत होने का यही क्रम रहे। विकासशील देशों की समस्या यह भी है कि उन्हें इनमें से अनेक या सभी का सामना एक साथ करना पड़ रहा है।

गेब्रिएल आमण्ड एवं जी०बी० पॉवेल ने राजनीतिक विकास की विशेषताओं को अलग शब्दावली में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उनके एवं पाई द्वारा बताए गए लक्षणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। आमण्ड एवं पॉवेल के अनुसार राजनीतिक विकास की निम्नलिखित तीन विशेषताएं हैं: **1. भूमिका-विभेदीकरण** (role differentiation), **2. उप-व्यवस्था स्वायत्तता** (sub-system autonomy), एवं **3. लौकिकीकरण** (universalization)। आमण्ड एवं पॉवेल के अनुसार राजनीतिक विकास के यह तीनों लक्षण आपस में कुछ इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि एक में परिवर्तन, शेष दोनों लक्षणों में भी परिवर्तन ला देता है। अतः इनके अनुसार भूमिका विभेदीकरण, उप-व्यवस्था स्वायत्तता एवं संस्कृति का लौकिकीकरण राजनीतिक विकास के सूचक है, जिन्हें पाई ने क्रमशः विभेदीकरण, क्षमता एवं समानता की संज्ञा दी है।

1960 के दशक के मध्य तक क्षेत्र से सम्बद्ध कई विशेषज्ञों को आभास होने लगा था कि राजनीतिक विकास का अध्ययन समाजशास्त्र, विशेषकर आमण्ड एवं उनके सहयोगियों द्वारा प्रयोग में लाए गए संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक प्रतिमानों पर अ यकता से अधिक निर्भर था। टैल्कॉट पार्सन्स के प्रभाव में राजनीति शास्त्र के अध्ययनकर्ताओं ने प्रशासनिक निकाय को एक पराश्रित परिवर्त्य (dependent variable) मानना शुरू कर दिया था जिसका स्वरूप सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक एवं अन्य तत्वों द्वारा निर्धारित होता है एवं जिसका प्रमुख कार्य इनके द्वारा प्रजनित 'आगतों' (inputs) को प्रशासनिक 'निर्गतों' (outputs) में 'रूपान्तरित' करना है। राजनीति को सामाजिक शक्तियों की दासी माना जा रहा था, एक ऐसा साधन जो समाज से प्राप्त सामग्री का प्रसंस्करण कर उसे सम्प्रेषित करता था। सम्प्रेषित होने वाली वस्तु का स्वरूप राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता (या विकास के स्तर) पर निर्भर करता है। व्यवस्था के लिए लक्ष्य निर्धारण की उन राजनीतिक नेताओं की क्षमता एवं संकल्प एवं एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का संकल्पित विकास जो इन सामाजिक, आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बन सके, की पूर्णतः उपेक्षा की गई। जब नेहरू एवं सुकार्नो जैसे राजनेताओं द्वारा अपनी ऐतिहासिक विरासत एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं से हट कर अपने देशों के भविष्य को अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर ढालते हुए देखा गया, तब इस बात का उन्हें आभास हुआ कि राजनीति एक स्वतंत्र परिवर्त्य (independent variable) भी हो सकती है

जिसकी राजनीतिक विकास के गतिवर्द्धन (acceleration) में निर्णायक भूमिका हो सकती है। अत: 1960 के दशक के मध्य में कुछ लेखकों ने यह विचार व्यक्त करना शुरू किया कि यद्यपि सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक ढांचे का राजनीतिक विकास पर प्रभाव पड़ता है, स्वयं राजनीतिक विकास इस ढांचे को पुनर्संघटित कर राजनीतिक अभिजन वर्ग द्वारा निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

1960 के दशक के अंत तक राजनीतिक विकास अध्ययन का केन्द्र बिन्दु संस्थागत अध्ययनों से राजनीतिक संस्थाओं एवं कर्ताओं की क्षमता एवं संकल्प की तरफ स्थानांतरित हो रहा था। धीरे-धीरे यह अनुभूति हो रही थी कि राजनीतिक विश्लेषण में सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के प्रभाव की अनदेखी नहीं की जा सकती। राजनीतिक विकास के स्वरूप एवं दिशा का निर्धारण अंतत: राजनीतिक नेतृत्व की क्षमता एवं इच्छाशक्ति पर निर्भर है, क्योंकि इन्हें ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत की जा रही सामाजिक समस्याओं, मांगों एवं आवश्यकताओं के प्रभावों को ध्यान में रखते हुए यह कार्य करना था। संक्षेप में, राजनीतिक विकास निरंतर चलती रहने वाली एक प्रक्रिया थी, न कि किसी प्रक्रिया की परिणति (end product)। आइजेनस्टाड (Eisenstadt), हेल्पर्न (Halpern) हंटिंगटन, डायमण्ट, होल्ट एवं टर्नर, नीए (Nye) एवं अन्य विश्लेषकों ने राजनीतिक विकास के अध्ययन के इस नए उपागम का विकास किया जिसे अलग-अलग 'संकल्प एवं क्षमता' उपागम, 'समस्या समाधान क्षमता' (problem-solving capacity), संस्थाकरण (Institutionalisation) इत्यादि की संज्ञा दी गई। राजनीतिक विकास के पथ प्रदर्शकों में से एक, आमण्ड ने अपने विचारों में संशोधन करते हुए, राजनीतिक विकास की परिभाषा ''राजनीतिक संरचनाओं के बढ़ते हुए विशेषीकरण एवं राजनीतिक संस्कृति की बढ़ती हुई लौकिकता'' (secularization) के रूप में दी थी। हेल्पर्न ने 'रूपान्तरण (transformation) की अनियंत्रित शक्तियों द्वारा उन्मुक्त की गई संरचनात्मक परिवर्तनों एवं मांगों'' एवं उनसे निपटने की ''राजनीतिक प्राधिकार की क्षमता एवं इच्छाशक्ति'' की बात की है।

'राजनीतिक विकास को सामाजिक आर्थिक आधुनिकीकरण के दायरे से बंधनमुक्त करने में सबसे प्रमुख भूमिका शायद सैमुएल हंटिगंटन की रही है। उन्होंने राजनीतिक विकास को एक-मार्गीय या चरणबद्ध प्रक्रिया मानने की धारणा को चुनौती दी। राजनीतिक विकास के साहित्य को उनका एक प्रमुख योगदन राजनीतिक अपक्षय (decay) की अवधारणा थी जिसके अनुसार राजनीतिक संस्थाएं जिस प्रकार विकसित एवं परिपक्व होती हैं, उसी प्रकार उनका क्षय एवं विघटन भी होता है। उन्होंने न सिर्फ राजनीति बल्कि आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी विकास को आधुनिकता का पर्याय मानने की प्रवृत्ति को चुनौती दी। हंटिंगटन आधुनिकीकरण को राजनीतिक विकास की कसौटी नहीं मानते, अपितु वह आधुनिकीकरण की सक्रिय सामाजिक प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक संरचनाओं के मध्य अन्योन्य परस्परक्रिया (reciprocal interaction) को अधिक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। हंटिंगटन के अनुसार राजनीतिक विकास का मानदण्ड 'राजनीतिक संगठनों एवं प्रक्रियाओं का संस्थायन' (institutionalization) था। राजनीतिक विकास के सिद्धांत को उनके महत्वपूर्ण योगदान एवं उनकी स्पष्टता के बावजूद हंटिंगटन भी संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के दायरे से स्वयं को पूरी तरह निकाल नहीं पाए। राजनीतिक विकास की पहचान लक्ष्यों के निर्धारण एवं आवश्यकतानुसार क्रांतिकारी तरीकों से उन्हें प्राप्त करने की अपेक्षा व्यवस्था की 'परिवर्तन की शक्तियों से निपटने' एवं 'गतिशील साम्यावस्था' (moving equilibrium) के बनाए रखने की क्षमता से की गई थी।

फ्रेड रिग्स (Fred W. Riggs) ने इस तर्क को अस्वीकार किया है कि पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओं को अपनाने का अर्थ पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिरूपों को (patterns) स्वीकार करना है। सांस्कृतिक परिवर्तन एवं शिल्पवैज्ञानिक (technological) परिवर्तन के बीच स्पष्ट विभेद करते हुए रिग्स राजनीतिक संस्थाओं का संबंध प्रौद्योगिकी से जोड़ते हैं न कि संस्कृति से। वह संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक विश्लेषणों के बीच फर्क करते हैं एवं यह मानते हैं कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण को इतना अधिक महत्व दिया जाने लगा था कि गम्भीर संरचनात्मक विश्लेषण में रुचि समाप्त होती जा रही थी। रिग्स के अनुसार संरचनात्मक विभेदीकरण के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला

शिल्पवैज्ञानिक परिवर्तन त्वरित हो सकता है जब कि प्रकार्यात्मक परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमी गति से होते हैं। लूसिएन पाई के विकासात्मक समस्टिलक्षण-समानता, क्षमता एवं विभेदीकरण के संदर्भ में रिग्स का मानना है कि समानता एवं क्षमता साथ-साथ चलते हैं। परन्तु यदि राजनीतिक व्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में संरचनात्मक विभेदीकरण नहीं पाया जाता तो समानता एवं सामर्थ्य दोनों निरर्थक हो जाएंगे। उन्होंने समानता एवं क्षमता के बीच संतुलन बनाए रखने को भी महत्वपूर्ण माना है। रिग्स के अनुसार समानता के विकास के प्रतीक वामपंथी समूह एवं क्षमता के विकास के प्रतीक दक्षिणपंथी समूह होते हैं। दोनों के बीच यदि संतुलन नहीं होगा तो राजनीतिक विकास एक 'विकास-फन्द' (development trap) की स्थिति में पहुँच जाएगा। इन दोनों सिद्धांतों के बीच संतुलन की स्थापना द्वारा ही संरचनात्मक विभेदीकरण के स्तर को बढ़ाया जा सकता है। व्यवस्था में विभेदीकरण की मात्रा जितनी अधिक होगी, समानता एवं सामर्थ्य में उतनी वृद्धि होगी। वाम या दक्षिण की तरफ अधिक झुकने के कारण राजव्यवस्था 'विकास-फन्द' में फंस जाती है जहां से यह राजनीतिक क्षय या विघटन की अवस्था में प्रविष्ट हो सकती है। रिग्स के अनुसार इस खतरे की सम्भावना सांक्रांतिक (transitional) समाजों में पारम्परिक या आधुनिक समाजों की अपेक्षा अधिक होती है। हंटिंगटन के विचारों से रिग्स इस अर्थ में असहमत थे कि वह संस्थाकरण (institutionalization) को पर्याप्त नहीं मानते। एक सीमा से अधिक संस्थाकरण अपने आप में एक 'विकास-फंद' बन सकता है। चीन एवं भारत की पारम्परिक राजव्यवस्थाओं का उदाहरण देते हुए रिग्स कहते हैं कि एक में 'सार्वभौमिकता' एवं 'केन्द्रीकरण' पर एवं दूसरे में 'विशिष्टवाद' एवं 'विकेन्द्रीकरण' पर आवश्यकता से अधिक बल देने से अंतत: दोनों का पतन हुआ। इसके विपरीत यूरोप में संरचनात्मक परिवर्तनों की तीव्र गति एवं दक्षिण और वाम के बीच निरन्तर दोलन (swings) से समानता एवं सामर्थ्य के सिद्धान्तों के बीच सूक्ष्म (precarious) संतुलन स्थापित रहा जिससे नई राजनीतिक प्रौद्योगिकी एवं संरचनात्मक दृष्टि से अधिक विभिन्नीकृत राजनीति का विकास संभव हुआ।

10.7 राजनीतिक विकास-आलोचनात्मक समीक्षा

राजनीतिक विकास के प्रतिमानों की संख्या को देखते हुए विकास की अवधारणा के किसी सर्वमान्य सिद्धांत के खोज के प्रयास निरर्थक से प्रतीत होते हैं। विकास के किसी पूर्वनिर्धारित नियम-एक मार्गीय, बहुमार्गीय या कुण्डलित (spiral)– की अवधारणा तर्क संगत नहीं प्रतीत होती है। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि न तो कोई ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था है जिसे सभी समाजों का लक्ष्य माना जाए, न ही इस प्रकार की किसी क्रिया (movement) को अवश्यंभावी मानना। पूँजीवादी व्यवस्थाओं एवं साम्यवादी व्यवस्थाओं दोनों के विघटन एवं तृतीय विश्व के प्रत्येक देश द्वारा विकास के अपने नक्शे (pattern) के अनुरूप चलने से न सिर्फ 'विकसित एवं विकासशील' के मध्य प्रत्ययात्मक अंतर अर्थहीन हो गया है, बल्कि राजनीतिक विकास के सिद्धांत (theory) के समस्त प्रयासों के आधारों की अनिश्चितता स्पष्ट रूप से रेखांकित हो गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि Social Science Research Council की Committee on Comparative Politics को इस बात का आभास था क्योंकि इसने प्रिंसटन श्रृंखला (Princeton University Series) में किसी नई पुस्तक के प्रकाशन का प्रयास नहीं किया। 1971 में राजनीतिक विकास की अवधारणा के पुनर्निर्धारण (re-conceptualization) के पश्चात् Crises and Sequences in Political Development के प्रकाशन के साथ एक नई श्रृंखला की शुरूआत हुई। इस पुनर्निर्धारण के बाद भी राजनीतिक विकास उपागम की समस्या प्रकार्यात्मक (functional) विश्लेषण के दायरे से उसका न निकल पाना है। प्रकार्यवाद (functionalism) न तो विकसित समाजों के गतिशील सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के लिए, न ही परिवर्तनशील समाजों के अध्ययन के लिए बहुत उपयुक्त साधन है।

अत: स्थिति यह है कि एक लम्बी यात्रा के बाद हम वहीं पहुंच गए हैं जहां से 1960 में यात्रा शुरू हुई थी—राजनीतिक विकास के सिद्धांत की तलाश में। राजनीतिक विकास के समस्त सिद्धांत आज अस्त-व्यस्त हैं। कोलिन लेज़ (Colin Leys) की बात सही प्रतीत होती है कि हाल के वर्षों में राजनीति से सम्बन्धित जितनी जानकारी हमें विकसित देशों के अध्ययन से प्राप्त हुई उससे कहीं

अधिक जानकारी अविकसित (under - developed) देशों के अध्ययन से प्राप्त हुई है। लेकिन यह स्पष्ट है कि विकासशील समाजों का अध्ययन संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के दायरे में सीमित रह कर करना व्यावहारिक नहीं है। राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में परिवर्तन न तो स्वचालित न ही एकदिशीय (unidirectional) होता है। व्यवस्था को अपने लिए कुछ लक्ष्यों का निर्धारण कर एक विश्व-व्यापी व्यवस्था से निरन्तर परस्पर-क्रिया के संदर्भ में उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयासरत होना पड़ता है। विकास को न तो औद्योगीकरण न ही आर्थिक विकास का समकक्ष माना जा सकता है। न ही इसे आधुनिकीकरण या पाश्चात्यीकरण (Westernization) का पर्याय कहा जा सकता है।

10.8 सारांश

राजनीतिक 'व्यवस्था उपागम' एवं 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक' उपागम नवोदित एवं विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले नाटकीय घटनाक्रम के विश्लेषण के लिए अपर्याप्त साबित हुए। 1960 के दशक में ऐसे उपागमों की आवश्यकता स्पष्ट हो गई थी जो मात्र राजनीतिक संरचनाओं को प्रमुखता न दें, अपितु राजनीतिक परिवर्तनों को पर्यावरण के समूचे संदर्भ में विश्लेषित करने का प्रयास करें। तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण हेतु प्रस्तुत उपागमों में सबसे प्रमुख 'राजनीतिक विकास' उपागम था।

'राजनीतिक विकास' के अर्थ पर इसके प्रयोगकर्ताओं में मतभिन्नता पाई जाती है। पाई ने उसकी दस व्याख्याओं का उल्लेख करते हुए इन सभी को 'भ्रमात्मक प्रयोग' कहा है। उन्होंने राजनीतिक विकास को ''संस्कृति का विकास एवं जीवन के प्रयोग में प्रतिमानों को नई मांगों के साथ अनुकूलित, सम्बन्धित एवं समायोजित करने'' के रूप में परिभाषित किया है। पाई के अनुसार राजनीतिक विकास तीन स्तरीय प्रक्रिया है—i. सम्पूर्ण जनता के संदर्भ में, ii. प्रशासन एवं राज्य व्यवस्था की उपलब्धियों के संदर्भ में एवं iii. राज्य व्यवस्था के गठन की प्रकृति के संदर्भ में। इन तीनों से सम्बद्ध विशेषताएं क्रमशः समानता, क्षमता एवं संरचनात्मक विभेदीकरण तथा प्रकार्यात्मक विशिष्टता है; पाई के अनुसार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में इनकी उपलब्धि के अनुपात में उसके 'विकास' की स्थिति का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। डेविड कोलमैन ने इन विशेषताओं को 'विकासात्मक लक्षणसमष्टि' (development syndrome) की संज्ञा दी है। आमण्ड एवं पॉवेल ने राजनीतिक संरचनाओं में विभेदीकरण तथा विशेषीकरण होने के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति के बढ़ते हुए लौकिकीकरण (secularization) को 'राजनीतिक विकास' के रूप में वर्णित किया है।

राजनीतिक विकास के सन्दर्भ में दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं—एक मार्गीय एवं बहु मार्गीय। प्रथम के अनुसार राजनीतिक विकास का केवल एक ही मार्ग है एवं विश्व के सभी राष्ट्र इसी मार्ग पर विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं। बहुमार्गीय दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिक विकास एक बहुदिशायी एवं बहुआयामी प्रक्रिया है। वस्तुस्थिति के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विकास की न तो कोई सर्वमान्य दिशा है, न ही कोई एक सर्वस्वीकृत दशा है।

पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों में से अधिकांश ने राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक आधुनिकीकरण ही माना है, एवं आधुनिकीकरण का अर्थ पाश्चात्यीकरण है। हीलियो जैग्युराइब ने राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण में अन्तर करते हुए राजनीतिक विकास की अवधारणा को आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक माना है। उनके अनुसार एक प्रक्रिया के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक संस्थाकरण का योग है। लक्षणों की दृष्टि से यद्यपि राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण में मौलिक अन्तर नहीं पाया जाता। नजदीक से देखने पर राजनीतिक आधुनिकीकरण संक्रमणशील समाजों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में आने वाले संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों तक ही सीमित है। अतः राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण का पर्याय नहीं माना जा सकता।

पाई के अनुसार राजनीतिक विकास के तीन प्रमुख लक्षण समानता, क्षमता एवं विभेदीकरण हैं। किसी भी विकासशील व्यवस्था में इन तीनों की मात्रा के आधार पर उसके राजनीतिक विकास की स्थिति

का आंकलन किया जाना चाहिए। पाई के अनुसार समानता का सम्बन्ध राजनीतिक संस्कृति से, क्षमता का सम्बन्ध शासन की आधिकारिक संरचनाओं की कार्य-निष्पादन क्षमता से, एवं विभेदीकरण का सम्बन्ध गैर आधिकारिक संरचनाओं एवं सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओं से है। पाई ने इंग्लैंड के अध्ययन के आधार पर छः प्रकार के संकटों का उल्लेख किया है- तादात्म्य, वैधता, अन्तःप्रवेश, सहभागिता, एकीकरण एवं वितरण, जिनका सामना विकास की प्रक्रिया के दौरान करना पड़ता है। पाई ने स्पष्ट किया है कि सभी देशों में यह आवश्यक नहीं है कि उनके प्रस्तुत होने का यही क्रम हो, या इनमें से एक से अधिक एक साथ प्रस्तुत न हों।

1960 के दशक के मध्य तक अनेक विशेषज्ञों को आभास होने लगा कि राजनीतिक विकास का अध्ययन समाजशास्त्र, विशेषकर संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक प्रतिमानों पर आवश्यकता से अधिक निर्भर था। जब नेहरू एवं सुकार्नो जैसे राजनेताओं द्वारा अपने देशों के भविष्य को अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर ढालते हुए देखा गया, तब उन्हें इस बात का आभास हुआ कि राजनीति एक स्वतंत्र परिवर्त्य भी हो सकती है। अतः 1960 के दशक के अंत तक राजनीतिक विकास अध्ययन का केन्द्र बिन्दु संस्थागत अध्ययनों से हटाकर राजनीतिक संस्थाओं एवं कर्ताओं की क्षमता एवं संकल्प की तरफ स्थानान्तरित हो गया।

राजनीतिक विकास के प्रतिमानों की संख्या को देखते हुए विकास की अवधारणा के किसी सर्वमान्य सिद्धांत की खोज का प्रयास निरर्थक ही प्रतीत होता है। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि न तो कोई ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था है जिसे सभी समाजों का लक्ष्य माना जाए, न ही इस प्रकार की किसी क्रिया को अवश्यंभावी मानने के पर्याप्त कारण हैं। पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्थाओं के विघटन एवं तृतीय विश्व के प्रत्येक देश द्वारा विकास के अपने प्रतिमान के अनुरूप चलने से न सिर्फ 'विकसित' एवं विकासशील के बीच प्रत्ययात्मक अन्तर अर्थहीन हो गया है, बल्कि राजनीतिक विकास के सिद्धांत के समस्त प्रयासों की अनिश्चितता स्पष्ट रूप से रेखांकित हुई है। वस्तुस्थिति यह है कि इस लम्बी यात्रा के बाद हम वहीं हैं जहां से 1960 में यात्रा शुरू हुई थी —राजनीतिक विकास के सिद्धांत की तलाश में। लेकिन यह स्पष्ट है कि विकासशील व्यवस्थाओं का अध्ययन संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के सीमित दायरे में रह कर करना व्यावहारिक नहीं है।

10.9 उपयोगी पुस्तकें

एस०पी० वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, नई दिल्ली, विकास, 1998

एस०एल० वर्मा आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन 1993

धर्मवीर, राजनीतिक समाजशास्त्र, जयपुर, राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी. 2001

पी०जैन एवं बी०एल० फाड़िया, राजनीतिक समाजशास्त्र, आगरा, साहित्य भवन 2001

सी०बी० गेना, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाए, नई दिल्ली, विकास 1993

गेब्रिएल आमण्ड एवं जेम्स कोलमैन, द पॉलिटिक्स ऑफ डेवेलपिंग एरियास, प्रिंसटन, पि०यु०प्रे०, 1960

ल्यूसिएन पाई, ऐस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट, लिटल, ब्राउन एंड कं० 1966

ए०एफ०के० ऑरगैन्सकी, द स्टेजेस ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट, न्यूयॉर्क, नौफ, 1965

ग्रेब्रिएल आमण्ड एवं जी०बी० पॉवेल, कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स, ए डेवेलपमेन्टल अप्रोच, बॉस्टन, लिटल, ब्राउन एंड कं०, 1966

लेनार्ड बाइन्डर एवं अन्य, क्राइसीज एण्ड सीक्वेन्सेज़ इन पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट, प्रिंसटन, पि०यू०प्रे० 1971

एडवर्ड शिल्स, पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट इन द न्यू स्टेट्स, द हेग, मूतों, 1962

10.10 संबंधित प्रश्न :

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक विकास की अवधारणा की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
2. राजनीतिक 'विकास' एवं 'आधुनिकीकरण' में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. 'विकासात्मक लक्षणसमष्टि' पर एक टिप्पणी लिखें।
4. राजनीतिक विकास की उत्पत्ति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण में अन्तर स्पष्ट करते हुए राजनीतिक विकास की प्रकृति एवं विशेषताओं पर एक निबंध लिखिए।
2. राजनीतिक विश्लेषण के उपकरण की दृष्टि से 'राजनीतिक विकास' की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कोलमैन, बाइंडर, ऐप्टर एवं पाई द्वारा जिन देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया गया उनके सही क्रम को चुनें:

   a. बर्मा, पाकिस्तान, भारत एवं चीन

   b. नाइजीरिया, भारत, बर्मा एवं पाकिस्तान

   c. इंडोनेशिया, चीन, श्रीलंका, एवं घाना

   d. नाइजीरिया, पाकिस्तान, घाना एवं बर्मा

2. राजनीतिक विकास के प्रारंभिक एवं गहन विश्लेषकों में निम्नलिखित में कौन थे?

   a. हीलियो जैगुराइब b. लुसिएन पाई c. डेविड ईस्टन d. कार्ल मार्क्स

3. पाई द्वारा प्रस्तुत 'विकासात्मक लक्षणसमष्टि' में शामिल तत्वों की पहचान कीजिए :

   a. स्वतंत्रता, सम्प्रभुता एवं सहनशीलता b. समानता, न्याय एवं पंथनिरपेक्षता

   c. समानता, क्षमता एवं विभेदीकरण d. संवेदनशीलता, सम्प्रभुता एवं समता

4. पाई के अनुसार विकास के मार्ग में प्रस्तुत होने वाली संकटों की संख्या कितनी है :

   a. छः b. चार c. पांच d. सात

10.11 प्रश्नोत्तर

1. d
2. b
3. c
4. a

इकाई 11. राजनीतिक सम्प्रेषण (संचार)

इकाई की रुपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2. उत्पत्ति एवं अर्थ
11.3 मूल संकल्पनाएं
11.3.1 संग्राहक एवं संग्रहण व्यवस्थाएं
11.3.2 सूचना प्रवाह एवं प्रक्रियाएं
11.4 प्रतिसम्भरण
11.4.1 सकारात्मक प्रतिसम्भरण
11.4.2 लक्ष्य परिवर्तन प्रतिसम्भरण एवं अधिगम
11.5 आलोचनात्मक समीक्षा
11.6 सारांश
11.7 उपयोगी पुस्तकें
11.8 संबंधित प्रश्न
11.9 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीतिक सम्प्रेषण के सिद्धांत की विवेचना की जा रही है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- सम्प्रेषण की अवधारणा की उत्पत्ति एवं इसके अर्थ के बारे में जान सकेंगे;
- सम्प्रेषण सिद्धांत की मूल संकल्पनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- प्रतिसम्भरण की संकल्पना एवं सम्प्रेषण की दृष्टि से इसके महत्व को समझ सकेंगे;
- सम्प्रेषण सिद्धांत के महत्व एवं राजनीति के अध्ययन के लिए इसकी उपयुक्तता का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- सम्प्रेषण सिद्धांत की सीमाओं को समझ सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञान के क्षेत्रों में हुई प्रगति से समाजशास्त्री इतना प्रभावित हुए कि अपने विशिष्ट अध्ययन क्षेत्रों के विश्लेषण के लिए उन्होंने उसी ''वैज्ञानिक पद्धति'' (Scientific Method) के प्रयोग करने का प्रयास किया। ''व्यवस्था सिद्धांत'' (Systems Theory) इसी प्रयास का एक परिणाम था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात प्रविधि विज्ञान के क्षेत्र में हुए क्रांतिकारी परिवर्तनों से विकसित 'संचार-नियंत्रण' विज्ञान (Cybernetics) से प्रभावित होकर कार्ल डॉयश (Karl K. Deuisch) एवं कुछ अन्य विशेषज्ञों ने राजनीतिक गतिविधियों के विश्लेषण हेतु सम्प्रेषण एवं संतांत्रिकी (Cybernetics) पर आधारित एक नए उपागम को प्रस्तुत किया। संतांत्रिकी के अनुसार मनुष्य, जानवर, राष्ट्र, राज्य, समाज, आदि 'मशीनों' के समान हैं। संचार-नियंत्रण विज्ञान उन सम्भावित मार्गों के अध्ययन से सम्बन्धित विज्ञान है जिनके द्वारा उक्त 'मशीनें' अपने परिवेश का 'नियंत्रण' करती हैं। डॉयश राजनीतिक सम्प्रेषण या संचार को राजनीतिक व्यवस्था का प्राण मानते हैं। संचार व्यवस्था समाज को राजनीतिक व्यवस्था से एवं राजनीतिक व्यवस्था को समाज से जोड़ती है। कार्ल डॉयश ने सर्वप्रथम संचार व्यवस्था पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन का प्रारूप पेश किया, एवं तत्पश्चात लूसिएन पाई (Lucian W. Pye) बर्टन (J. W. Burton) एवं अन्य विशेषज्ञों ने इस सिद्धांत पर आधारित विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं।

11.2 उत्पत्ति एवं अर्थ

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात प्रविधि-विज्ञान के क्षेत्र में हुए क्रांतिकारी परिवर्तनों से विकसित 'संचार सिद्धांत' के अग्रदूत गणितज्ञ नॉर्बर्ट वीनर (Norbert Wiener) ने 1950 में प्रकाशित अपनी पुस्तक The Human Use of Human Beings, Cybernetics and Society में इसे 'संचार-नियंत्रण' विज्ञान की संज्ञा दी थी। उसे और अधिक विस्तृत एवं विकसित करने का कार्य रॉस ऍशबी (W. Ross Ashby) ने किया। ऍशबी के अनुसार मानव, पशु, समाज, राज्य, राष्ट्र, आदि 'मशीनों' के समान हैं। उन सम्भावित मार्गों के अध्ययन संबंधी सिद्धांत तथा प्रविधियों के समूह को, जिनके द्वारा यह 'मशीनें' अपने परिवेश का नियंत्रण करती हैं, 'संचार-नियंत्रण विज्ञान' कहा जाता है। अन्य अध्ययन-क्षेत्रों से संदर्भ परिधियों (Frames of Reference) एवं उपागम (Approach) उधार लेने को समकालीन परम्परा (Inter-Disciplinary Approach) के अनुरूप कार्ल डॉयश एवं कुछ अन्य विशेषज्ञों ने सम्प्रेषण एवं सन्तांत्रिकी (Cybernetics) पर आधारित राजनीतिक विश्लेषण के एक नए उपागम को प्रस्तुत किया है। सम्प्रेषण या संचार सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्था के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन एवं समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता का अध्ययन करना है।

यहां 'संचार' शब्द का प्रयोग सामान्यत: प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में किया जा रहा है। वीनर ने इसमें **'उन सभी प्रक्रियाओं को शामिल किया है जिनके द्वारा एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क को प्रभावित करता है।'** 'साइबरनेटिक्स' शब्द की उत्पत्ति मूल यूनानी शब्द 'Kubernetes' से हुई है, जिसका अर्थ 'मार्ग-परिवर्तक' या 'चालक' है। संचारण में सावयव (organism) पारिस्थितिकी को एवं पारिस्थितिकी सावयव को प्रभावित करता है। यहां संदर्भ को सीमित करते हुए केवल 'राजनीतिक संचार' की विवेचना की जा रही है। राजनीतिक संचार से तात्पर्य 'मांगों' एवं 'निर्णयों' का राजनीतिक निकाय के एक भाग से दूसरे भाग तक जाना है। संचार ही व्यवस्था को गतिशील बनाता है। अत: संचारण के सिद्धांतों को जानना, उसकी संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं की पहचान एवं व्यवस्था पर उसके प्रभाव को समझना आवश्यक है। हेराल्ड लासवेल (Harold Lasswell) ने इस क्रिया को '(i) **कौन,** (ii) **किसको,** (iii) **किस प्रभाव के साथ,** (iv) **किस मार्ग के द्वारा,** (v) **क्या कहता है,**' के रूप में वर्णित किया है।

यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सम्प्रेषण उपागम निर्णयों के परिणामों में उतनी रुचि नहीं रखता जितनी उनके निर्माण की प्रक्रिया में। सन्तान्त्रिकी में भी लक्ष्य से अधिक महत्व संचालन एवं समायोजन की प्रक्रियाओं को दिया जाता है। स्पष्टत: यह उपागम गतिशीलता की समस्या पर ध्यान केन्द्रित करता है। 'सूचना प्रवाह' (information flow) इस पद्धति की मूल इकाई है, क्योंकि संचालन की प्रक्रिया को गति से सम्बद्ध करने का यही माध्यम है। वीनर एवं अन्य लेखकों की तरह डॉयश ने अपने सिद्धांत की व्याख्या का आरंभ संचार अभियांत्रिकी (Communication Engineering) एवं शक्ति अभियांत्रिकी (Power Engineering) में अंतर बताने से किया है। शक्ति अभियांत्रिकी में प्राय: शक्ति के प्रयोग की मात्रा के अनुपात में ही परिवर्तन होता है। संचार अभियांत्रिकी में इसके विपरीत थोड़ी सी शक्ति का प्रयोग भी 'संदेश' के 'प्राप्तकर्ता' की स्थिति में ऐसा परिवर्तन ले आता है जो प्रयोग में लाई गई शक्ति के अनुपात में कई गुना बड़ा होता है। अत:, इस सिद्धांत का ध्यान-केन्द्र **'परिवर्तन'** है। परिवर्तन का माध्यम शक्ति है, परन्तु परिवर्तन की मात्रा इस पर निर्भर करती है कि सूचना की प्राप्ति हो एवं उस पर अमल किया जाए।

11.3 मूल संकल्पनाएँ

11.3.1 संग्राहक एवं संग्रहण व्यवस्थाएँ

सम्प्रेषण सिद्धांत के अनुसार प्रशासन विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय-करण की एक व्यवस्था है। यह सिद्धांत दो प्रकार की संकल्पनाओं पर आधारित है। सर्वप्रथम, वह अवधारणाएं हैं जो व्यवस्था को संचालित करने वाली संरचनाओं से सम्बद्ध हैं। तत्पश्चात, दूसरे वर्ग में वह

संकल्पनाएं हैं जो विभिन्न प्रकार की सूचनाओं के प्रवाहों एवं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध हैं।

प्रथम वर्ग में वह संरचनाएं शामिल हैं जिन्हें संग्राहक (receptors) एवं संग्रहण व्यवस्थाएं (reception systems) कहा जा सकता है। यह व्यवस्थाएं आंतरिक एवं बाह्य, दोनों ही प्रकार के स्रोतों से सूचनाएं प्राप्त करती हैं। सूचना प्राप्ति में अन्तरग्रहण परिलोकन (scanning) संक्रियाएं, चयन तथा तथ्य प्रक्रम (data processing) की क्रियाएं सहित अनेक बातें सम्मिलित हैं। प्राप्त सूचना के परीक्षण के लिए अधिकांश व्यवस्थाएं ऐसी नियामक पद्धति का विकास कर लेती हैं जिन्हें सक्रिय करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। प्राप्त होने वाली सूचना की जांच स्मृति (memory) एवं मूल्य-निर्धारण प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करने वाली अनेक संरचनाओं द्वारा की जाती है। स्मृति की प्रक्रिया प्राप्त सूचना को परिणामों एवं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध विगत अनुभवों से जोड़ती है। मूल्य-निर्धारण से सम्बद्ध संरचनाएं 'सम्भावनाओं को अधिमान्यताओं से' सम्बद्ध करती हैं एवं तत्पश्चात, निर्णय-निर्माण का स्तर आता है। अन्य संरचनाएं विनिश्चयों (decisions) के क्रियान्वयन से तथा उनके निष्पादन हो चुकने से सम्बन्धित सूचनाओं को प्रतिसम्भरित (feed-back) करती हैं, जो एक नए निवेश का रूप धारण करती हैं।

11.3.2 सूचना प्रवाह एवं प्रक्रियाएं

दूसरे संवर्ग की संकल्पनाएं, जिन्हें शायद अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, सूचना प्रवाहों एवं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध हैं। कार्ल डॉयश के अनुसार सूचना '**सूचना-प्रवाहों का एक आकृतिबद्ध समूह**' (a patternd set of information flows) है जो सम्प्रेषण के एक संजाल (network) का स्वरूप धारण कर लेता है। प्रवाह की इस अवधारणा के साथ कई अन्य संकल्पनाएं भी सम्बद्ध हैं, जिनमें 'सारणीयों' या 'मार्गों' (channels), 'भार' (load) तथा 'भार-क्षमता' (load capacity) प्रमुख हैं। 'सारणी' या 'मार्ग' सूचनाओं को लाने-ले जाने वाली संरचनाओं के अनुक्रम को कहते हैं। 'भार' का तात्पर्य सूचना की उस मात्रा से है जो एक निर्दिष्ट समय में भेजी अथवा प्राप्त की जा सकती है। 'भार-क्षमता' का अर्थ सूचना के लाने-ले जाने के लिए उपलब्ध सारणीयों की संख्या एवं प्रकार है। 'भार' की प्रकृति समय एवं स्थान के अनुरूप बदलती रहती है। डॉयश के अनुसार कुछ अन्य कारक जिनका भार-क्षमता के साथ गहरा सम्बन्ध है, निम्नलिखित हैं—'ग्रहणशीलता' (receptivity), 'निष्ठा' (fidelity), 'पृष्ठभूमि का कोलाहल' (background noise) एवं 'विकृति' (distortion)। किसी भी व्यवस्था को अनुक्रियात्मक तब माना जा सकता है जब वह प्राप्त प्राप्त होने वाली सूचना का कुशलतापूर्वक प्रयोग कर ले। पुनःस्मरण (Recall) का संबंध व्यवस्था द्वारा आगत सूचना का संगत विगत अनुभवों के साथ सम्बद्ध करने की क्षमता से है। प्राप्त होने वाली सूचना का इस तरह प्रयोग कि लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक विनिश्चयों को शीघ्र ले सकने की क्षमता को डॉयश ने संयोजनात्मक क्षमता (combinational capacity) की संज्ञा दी है। संक्षेप में, यह सूचनाओं की प्राप्ति एवं उपयोग से सम्बन्धित कुशलता है।

डॉयश द्वारा परमाणीकरण को दिया गया महत्व सम्प्रेषण सिद्धांत के प्रति उनके आकर्षण का एक प्रमुख कारण है। उनके अनुसार सूचना का मापन एवं गणना की जा सकती है एवं सम्प्रेषण सारणियों द्वारा सूचना के पारेषण या विकृत करने का परिमाणात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है। डॉयश यह मानते हैं कि सूचना-प्राप्ति की कुछ प्रविधियां इतनी जटिल हो सकती हैं कि उनका मापन सम्भव न हो, किन्तु कुछ अन्य प्रविधियां भी हैं जिनका मापन सम्भव है। डॉयश ने सूचना प्रवाहों पर आधारित अध्ययन के द्वारा जानने का प्रयास किया है कि सूचना को प्रवाहित करने वाली सारणियां उसे उसके लक्ष्य तक कितनी विकृति के साथ पहुंचाने में सफल होती हैं। यदि सूचना में विकृति अथवा मार्ग में लुप्त हो जाने वाले अंश की मात्रा कम है, तो वह सारणी अच्छी है। संचार सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार किसी भी व्यवस्था का सम्प्रेषण मार्गों के एक संजाल (network of communication channels) के रूप में अध्ययन किया जा सकता है। व्यवस्था की क्षमता का आंकलन इन आधारों पर किया जा सकता है कि उसके संघटक भाग किस हद तक उसके साथ एकीकृत हैं एवं किस हद तक विभिन्न विषयों से सम्बद्ध सूचनाओं को वह भेजने एवं प्राप्त करने में सक्षम हैं।

11.4 प्रतिसम्भरण (FEEDBACK)

नियंत्रण एवं मार्ग-परिवर्तन (steering) का प्रत्येक व्यवस्था में अत्यधिक महत्व होता है। संचार की जिस विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा यह कार्य किया जाता है, उसे 'प्रतिसम्भरण' प्रक्रिया कहा जाता है। इस प्रक्रिया का, विशेषकर इसके नकारात्मक पक्ष (negative feedback) का विश्लेषण यहां प्रासंगिक है क्योंकि इसे संचार सिद्धांत का सार या आत्मा माना गया है। प्रतिसम्भरण की अवधारणा भी नॉर्बर्ट वीनर से लेकर सम्प्रेषण सिद्धांत में शामिल की गई है। वीनर ने प्रतिसम्भरण की व्याख्या **'किसी यंत्र के अपेक्षित कार्य-निष्पादन के स्थान पर वास्तविक कार्य-निष्पादन पर नियंत्रण'** (the control of a machine on the basis of its actual performance rather than its expected performance) के रूप में की है। दिन-प्रतिदिन के जीवन में प्रतिसम्भरण के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे कि थर्मोस्टैट (thermostat) जो विभिन्न यंत्रों के तापमान को नियंत्रित रखते हैं। इसे डॉयश ने 'नकारात्मक प्रतिसम्भरण' की संज्ञा दी है। नकारात्मक प्रतिसम्भरण से तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से है जिनके द्वारा विनिश्चयों (decisions) एवं उनके क्रियान्वयन के परिणामों से सम्बन्धित सूचनाएं इस प्रकार व्यवस्था में पहुंचती हैं कि वे व्यवस्था के व्यवहार को स्वत: उस दिशा में मोड़ देती हैं जो उसे संगत लक्ष्यों की प्राप्ति के अधिक निकट ले जाएं। नकारात्मक प्रतिसम्भरण की संकल्पना का आधार यह धारणा है कि प्राय: सभी व्यवस्थाओं में आन्तरिक असन्तुलन (disequilibrium) की स्थिति पाई जाती है, एवं संतुलन का यही अभाव व्यवस्था की गतिशीलता का स्रोत होता है। असन्तुलन की इस स्थिति के उत्पन्न होते ही व्यवस्था इस आंतरिक असन्तुलन को कम करने की दिशा में प्रयत्नशील हो जाती है।

अत: सम्प्रेषण सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण अवधारणा यह है कि जब तक नकारात्मक प्रतिसम्भरण की व्यवस्था सही तरीके से कार्य नहीं कर रही होगी, तब तक कोई भी व्यवस्था संतोषजनक ढंग से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर पाएगी। अर्थात व्यवस्था को निरन्तर (a) लक्ष्य की अवस्थिति (location), (b) उसके एवं लक्ष्य की दूरी, एवं (c) किस गति से वह उस दूरी को तय कर सकती है, इन तीनों के सम्बन्ध में सही जानकारी मिल रही है। व्यवहार्य (viable) होने के लिए आवश्यक है कि व्यवस्था प्राप्त सूचना के आधार पर अपनी स्थिति एवं व्यवहार में पर्याप्त एवं आवश्यक बदलाव लाने की क्षमता रखे। डॉयश का मानना है कि यह समस्त प्रक्रिया किसी राजनीतिक व्यवस्था में उतनी ही निर्विघ्न एवं व्यवस्थित होनी चाहिए जितनी किसी जीवित प्राणी की तन्त्रिकीय व्यवस्था (nervous system) में। एक स्वस्थ शरीर की संरचना ऐसी होती है कि पारिस्थितिकीय प्रभावों या परिवर्तनों के कारण शरीर का तापमान बढ़ता या घट जाता है, तो वह बिना किसी विशेष प्रयास के उसे सामान्य पर ले आता है। डॉयश का मानना है कि प्रशासन में भी इसी प्रकार कार्य करने की क्षमता होनी चाहिए। प्रशासन के समक्ष आंतरिक एवं बाह्य नीतियों संबंधी निश्चित लक्ष्य होते हैं, एवं उन्हें इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि लक्ष्यों तक पहुँचा जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक व्यवस्था के पास इन दोनों से सम्बद्ध सूचनाएं निरन्तर प्राप्त होती रहें कि (a) उसकी वर्तमान स्थिति एवं लक्ष्य के बीच दूरी, एवं (b) लक्ष्य तक पहुंचने के उसके प्रयास कितने सफल हो रहे हैं। यदि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आवश्यक क्षमता उसके पास विद्यमान है, एवं वह इस स्थिति में है कि उचित प्रयास द्वारा वह लक्ष्य तक पहुंच सकता है, तो केवल यह जानना शेष रह जाता है कि उस लक्ष्य तक पहुंचने के सर्वश्रेष्ठ साधन क्या हो सकते हैं।

डॉयश ने अपने संकल्पनात्मक ढांचे (conceptual framework) को और अधिक परिष्कृत बनाने के लिए उसमें चार परिमाणात्मक तत्व शामिल किए हैं—**'भार'** (load), **पश्चता या विलंब** (lag), **लाभ** (gain) एवं **अग्रता** (lead)। 'भार' का अर्थ उपलब्ध प्रतिसम्भरण सुविधाओं के संदर्भ में व्यवस्था की गतिविधियों के विस्तार एवं संचार सारणियों की क्षमता के संदर्भ में प्रतिसम्भरण द्वारा प्राप्त हो रही सूचना की मात्रा से है। दूसरे शब्दों में 'भार' से तात्पर्य लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयास कर रही व्यवस्था के संदर्भ में लक्ष्य की स्थिति में हो रहे परिवर्तनों की गति एवं मात्रा से है। यदि लक्ष्य तेज गति से चलने वाली कोई वस्तु है, जैसे कि वायुयान या प्रक्षेपास्त्र, तो प्राप्त होने वाली सूचना की दृष्टि से भार की मात्रा अधिक होगी। पश्चता या विलंब का अर्थ विनिश्चयों एवं क्रियाओं

के परिणामों से सम्बन्धित सूचना के समय पर एवं सही रूप में व्यवस्था द्वारा प्राप्त कर लेने पर भी उस पर कार्यवाही में शिथिलता है। सूचना की प्राप्ति एवं उस पर प्रतिक्रिया के बीच विलंब के अनेक कारण हो सकते हैं—सूचना धीमी गति से प्राप्त हो रही हो, उसके पारेषण या उसकी व्याख्या में गलती या प्राप्त सूचना के आधार पर व्यवस्था द्वारा शीघ्र एवं प्रभावी प्रतिक्रिया करने में असमर्थता। यदि सारणियों से प्राप्त होने वाली सूचना का भार अत्यधिक है या व्यवस्था द्वारा प्रतिक्रिया में अधिक विलंब हो रहा है तो वह अपने लक्ष्य तक शायद नहीं पहुंच पाएगी। लाभ से तात्पर्य व्यवस्था द्वारा प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रियाओं (responses) की प्रभावशीलता एवं विस्तार से है। व्यवस्था द्वारा प्रतिक्रिया में विलंब न होना पर्याप्त नहीं है। अनुक्रिया की प्रभावशीलता व्यवस्था द्वारा उसके स्वरूप एवं समय के बारे में पूर्वानुमान पर निर्भर करेगी। अग्रता का अर्थ भविष्य के परिणामों के पूर्वानुमानों के अनुरूप प्रतिक्रिया की क्षमता है। उचित अग्रता के लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्था की भविष्यसूचक प्रक्रियाएं अत्यन्त ही कुशल हों। उदाहरणत: यदि कोई गतिमान वस्तु हमारा लक्ष्य होता है तो निशाना वहां लगाया जाता है जहां वह वस्तु उस समय होगी जब गोली वहां पहुंचेगी।

डॉयश के अनुसार प्रतिसम्भरण पर आधारित प्रतिमान (The Feedback Model) विश्लेषण के पारम्परिक तरीकों से श्रेष्ठतर हैं क्योंकि उससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के कार्य निष्पादन के बारे में अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार सम्भव है, जो विश्लेषण की अन्य पद्धतियों में सम्भव नहीं है। इस पद्धति से प्रशासन उन आंतरिक एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हो रहे परिवर्तनों की मात्रा एवं गति का अनुमान लगाने का प्रयास कर सकता है जिनमें उन्हें कार्य करना है। राज्य की निर्णयकरण व्यवस्थाओं, राजनीतिक नेतृत्व, हित समूहों, राजनीतिक संगठनों, सामाजिक वर्गों इत्यादि पर पड़ रहे भार का आंकलन इस सिद्धांत की सहायता से किया जा सकता है। इस बात का अनुमान भी लगाया जा सकता है कि किसी नई चुनौती या आपात स्थिति से निपटने में प्रशासन अथवा सत्तारूढ़ दल द्वारा संभावित विलंब की मात्रा क्या होगी। किसी नई परिस्थिति के प्रस्तुत होने पर नीति-निर्माताओं को उसकी गम्भीरता को समझने में समय लगता है, या यह तुरन्त हो जाता है। क्या आपसी विचार-विमर्श एवं सहभागिता की व्यवस्था तुरन्त सक्रिय होती है, या इसमें समय लगता है? सम्बद्ध अधिकारियों, नागरिकों, इत्यादि तक निर्देश पहुंचाने का काम तेजी से किया जा सकता है, या उसमें विलंब होता है? यदि प्रशासन इन प्रश्नों का उत्तर सही तरीके से देने की स्थिति में है, तो सम्भवत: वह विभिन्न उपायों के प्रयोग द्वारा 'विलंब' की मात्रा को कम कर सकता है। यह जानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि किसी चुनौतीपूर्ण स्थिति का सामना करने में राजनीतिक व्यवस्था कितने 'लाभ' की स्थिति में हो सकती है। इसी प्रकार, यदि प्रशासन को नई समस्याओं के पूर्वानुमान की अपनी क्षमता-'अग्रता' का सही ज्ञान है, तो वह अपनी अनुक्रियाओं का सही तरीके से निर्धारण कर सकेगा। यदि प्रशासन इन तत्वों के प्रति सजग है एवं प्राप्त होने वाली सूचनाओं से सम्बद्ध करता रहता है, तथा उन्हें अपनी लक्ष्य प्राप्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुरूप सामंजित करता रहता है, तो वह उन प्रशासनों की अपेक्षा जो इन सूचना सारणियों के अस्तित्व एवं कार्य-विधि से अनभिज्ञ हैं, अधिक सफल होने की स्थिति में होता है।

डॉयश का यह मानना है कि सम्प्रेषण उपागम राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के मूल्यांकन में सहायक है क्योंकि यह परिमाणीकरण पर आधारित है, न कि किसी निश्चित या अनिश्चित तत्वों के समूह पर। पारम्परिक दृष्टिकोण के अनुसार किसी भी देश की शक्ति का मूल्यांकन उसके सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक अथवा राजनीतिक मूल्यों पर आधारित होता है। इसके विपरीत, सम्प्रेषण उपागम से राजनीतिक व्यवस्था द्वारा राजनीतिक प्रक्रिया पर नियंत्रण, अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक परिस्थितियों को ढालने की उसकी क्षमता एवं अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफलता की क्षमता का कहीं बेहतर अनुमान लगाया जा सकता है। अर्थात, किसी भी व्यवस्था की क्षमता उसके एक संचालन व्यवस्था (steering system) के रूप में कार्य करने एवं अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उनकी प्रभावशीलता पर निर्भर होगी। लेकिन डॉयश ऐसे उपागम की सीमाओं से परिचित हैं जो राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन 'संचालन निकायों' के रूप में करने का प्रयास करते हैं। वह जानते हैं कि राज्यों के मूल्यांकन का आधार उनके कुशलतापूर्वक कार्य करने की

क्षमता मात्र नहीं हो सकती। इसका अधिक महत्वपूर्ण आधार अपने नागरिकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के विकास की उसकी क्षमता एवं इसके लिए व्यवस्था द्वारा नागरिकों को उपलब्ध करवाई जा रही सुविधाएं हैं। सम्प्रेषण उपागम, क्योंकि यह एक यांत्रिक दृष्टिकोण पर आधारित है, उन मनोवैज्ञानिक तत्वों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता जो लक्ष्य निर्धारण की प्रक्रिया में शामिल होते हैं, न ही उनकी प्राप्ति के तरीके या मात्रा का अनुमान लगा पाता है।

11.4.1 निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण

अभी तक हमने नकारात्मक प्रतिसम्भरण (negative feedback) की विशेषताओं की विवेचना की है, जिसका कार्य राजनीतिक व्यवस्था तक ऐसी सूचनाएं भेजना है जो उसकी उन गतिविधियों को प्रतिवर्तित (reverse) कर सकें जो व्यवस्था को उसके लक्ष्य से विमुख कर रही हैं। इसके विपरीत, इस प्रकार की परिस्थिति भी संभव है जिसमें व्यवस्था में प्रतिसम्भरित होने वाली सूचनाएं ऐसी क्रियाओं को प्रोत्साहित करें जो व्यवस्था द्वारा वांछित लक्ष्य की दिशा में प्रगति से उसे विमुख करे या विपरीत दिशा में ढकेले। इसे निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण (positive or amplifying feedback) की संज्ञा दी जाती है। प्राय: इस प्रकार की स्थिति राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, दोनों में पाई जाती है। इस सूचना के प्राप्त होने पर कि कोई प्रतिद्वंद्वी देश तेजी से स्वयं को शस्त्रीकृत कर रहा है, प्राय: वह देश मान लेता है कि इस तैयारी का लक्ष्य वह स्वयं है। संभावित खतरे की गंभीरता को आवश्यकता से अधिक बढ़ा कर देखते हुए वह स्वयं को शस्त्रीकृत करना शुरू कर देता है। दूसरे देश पर इसका परिणाम तनाव का धीरे-धीरे इस स्तर तक पहुंचना होता है कि युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है। यदि राजनेताओं में सूचनाओं के निहितार्थ का सही तरीके से विश्लेषण करने की क्षमता हो, एवं उनकी अनुक्रिया संयमित हो तो इस प्रकार के संकट से बचा जा सकता है। यद्यपि राज्यों द्वारा अति-प्रतिकार (over-retaliation) के अनेक उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं, अधो-प्रतिकार (under-retaliation), अर्थात प्रतिकार की भावना को नियंत्रित रखने के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में टकराव की स्थितियों के कुछ पक्षों का विश्लेषण नकारात्मक एवं निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण प्रक्रियाओं के आधार पर किया जा सकता है। इससे सम्बन्धित अनेक अध्ययन निवारण सिद्धांत (Theory of Deterrence) के समर्थकों— मॉर्टन कैपलान (Morton A. Kaplan), थॉमस शैलिंग (Tomas C. Shelling), हर्मन कान (Herman Kahn), लुई कोज़र (Louis A. Coser), इत्यादि द्वारा किए गए हैं।

11.4.2 लक्ष्य-परिवर्तन प्रतिसम्भरण एवं अधिगम

डॉयश सम्प्रेषण सिद्धांत के लिए किसी भी स्थिति-विशेष के उचित आंकलन एवं परिमाणात्मक आधार पर उसके मापन की क्षमता के दावे स्वयं से संतुष्ट नहीं हैं। उनका मानना है कि यह सिद्धांत राज्य को अपने अनुभवों से सीखने एवं अपने लक्ष्यों का परिवर्तित करने की क्षमता भी उपलब्ध कराता है। इसे वह **'लक्ष्य-परिवर्तन प्रतिसम्भरण'** (goal-changing feedback) एवं **'अधिगम'** या **'शिक्षा-प्राप्ति'** (learning) की संज्ञा देते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्य स्थायी या अपरिवर्तनशील नहीं होते। यदि व्यवस्था के संचालकों ने संचार सिद्धांत की बारीकियों को समझ लिया है तो वह व्यवस्था, यदि संचालक चाहें, आवश्यकतानुसार अपने लक्ष्यों में परिवर्तन कर सकती है। राजनीतिक व्यवस्था को अपने लक्ष्यों में परिवर्तन करने की आवश्यकता सांस्कृतिक प्रतिमान एवं राजनीतिक अभिजात वर्ग की व्यक्तित्व संरचना में हो रहे परिवर्तनों के कारण हो सकती है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि लक्ष्य परिवर्तन का प्रतिसम्भरण प्रक्रियाओं से सम्पूर्ण एकीकरण संभव नहीं है। यदि राजनीतिक व्यवस्था ने किसी लक्ष्य की प्राप्ति कर ली है तो वह प्राप्त हो रही सूचना के आधार पर स्वयं को स्वत: किसी दूसरे एवं अधिक व्यापक लक्ष्य की ओर उन्मुख कर सकता है। यद्यपि राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्य अनेक परिवर्तनों के कारण दुर्ग्राह्य (imperceptible) तरीके से बदलते रहते हैं, यदि विनिश्चयकर्ताओं को सक्रिय शक्तियों/प्रभावों की जानकारी हो तो परिवर्तन अधिक सरलता से लाए जा सकते हैं।

सम्प्रेषण सिद्धांत से सम्बद्ध संकल्पनाओं की सूची में डॉयश ने 'शिक्षा-प्राप्ति' या 'अधिगम'

(learning), 'अभिनव परिवर्तन' (innovation), 'संवृद्धि' या 'वर्धन' (growth) एवं 'आत्म परिवर्तन' (self transformation) की अवधारणाओं का भी उल्लेख किया है। अधिगम से तात्पर्य राजनीतिक व्यवस्था की प्राप्त होने वाली सूचनाओं के अनुरूप अपनी आंतरिक संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं में आवश्यक परिवर्तन एवं समायोजन द्वारा अपनी कार्यविधियों के अनुकूलन की क्षमता से है। जब राजनीतिक व्यवस्था गम्भीर परिवर्तनों से स्वयं को अनुकूलित करने की परिस्थिति से आगे बढ़ती है, तब वह 'अभिनव परिवर्तन', 'वर्धन' (growth), एवं 'आत्म-परिवर्तन' की प्रक्रियाओं से गुजरती है। लक्ष्यों, संरचना या प्रक्रियाओं में परिवर्तन तो सामान्य अनुकूलन की प्रक्रिया से सम्बद्ध परिवर्तन हैं। 'अभिनव परिवर्तन' एवं 'वर्धन' का प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन एवं नई दिशाओं में संवृद्धि एवं सम्पूर्ण आत्म-परिवर्तन हो सकता है जिससे व्यवस्था के प्रकार्यात्मक पक्ष में मौलिक परिवर्तन हो सकते हैं। अत: 'आत्म-परिवर्तन' व्यवस्था की आंतरिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के प्रजनन की क्षमता है जो अन्तत: व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन को सम्भव बनाती है। लेकिन डॉयश यह चेतावनी देते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था को लक्ष्य परिवर्तन की प्रक्रिया एवं परिवर्तन लाने की प्रक्रिया के संदर्भ में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। उन्होंने अनेक उदाहरणों का उल्लेख किया है जहां राज्यों को लक्ष्य-निर्धारण या लक्ष्य-परिवर्तन में असावधानी के कारण गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। राज्यों द्वारा लक्ष्य निर्धारण एवं उनमें परिवर्तन के विभिन्न तरीकों का अध्ययन राजनीति शास्त्र के शोधकर्ताओं के लिए अनेक नए आयाम प्रस्तुत करता है।

11.5 आलोचनात्मक समीक्षा

जैसा कि ओरान यंग ने अपनी पुस्तक Systems of Political Science में कहा है, यह उपागम परिकल्पनाओं को व्यावहारिक बनाने एवं परिमाणात्मक विश्लेषण की दिशा में अत्यन्त सहायक है। साथ ही इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस उपागम का बल निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया पर है न कि निर्णयों के परिणामों पर। अत: उपागम का जितना ध्यान सूचना के प्रवाहों एवं प्रवाह को प्रभावित करने वाली विभिन्न संरचनाओं के स्वरूप पर है, उतना सूचना के सार पर नहीं है। अपने अध्ययनों में डॉयश ने व्यापार की मात्रा, डाक की मात्रा, राजनयिक समझौतों की संख्या जैसी बातों में रुचि दिखलाई है। परिवर्त्यों (Variables) के परिमाणन की आवश्यकता को देखते हुए शायद इसे स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। शायद उपागम की इस सीमा के भीतर रहते हुए डॉयश ने आगत सूचनाओं के अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं द्वारा उनके प्रति अनुक्रिया के अध्ययन के श्रेष्ठ उपकरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे विनिश्चयकर्ताओं को उनके काम में सहायता होगी। परन्तु राजनीति की जटिलताएं इतनी अधिक हैं कि उनकी बारीकियों को प्राय: अत्यन्त चौकस पर्यवेक्षक के लिए भी पकड़ पाना संभव नहीं होता।

शक्ति को राजनीतिक क्रिया का आधार माना जाता है एवं शक्ति का अध्ययन बहुत ही कठिन है। यद्यपि सम्प्रेषण उपागम शक्ति के केन्द्र की पहचान एवं उसकी अनेक गतिविधियों को समझने में सहायक हो सकता है, शक्ति की क्रिया-विधियों की गहराई से विश्लेषण का प्रयास इसके द्वारा नहीं किया गया है। जहां विस्तार एवं गहनता की दृष्टि से शक्ति की कोटि (degree) में अन्तर होता है। वहीं शक्ति एवं प्रभाव (influence) में बहुत अधिक अन्तर है। समाज में सत्ता का प्रयोग कर रहे अभिजात वर्गों (elites) के व्यवहार का विश्लेषण अथवा उनकी वैयक्तिक शक्ति के स्रोतों की पहचान सम्प्रेषण उपागम जैसे मात्रात्मक प्रविधि के माध्यम से कर पाना अत्यन्त ही कठिन है। राजनीतिक व्यवहार के किसी भी विश्लेषण में इन पक्षों के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता एवं सम्प्रेषण सिद्धांत द्वारा इनकी तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

सम्प्रेषण सिद्धांत ने ढांचे के अनुरक्षण (pattern maintenance) को अधिक महत्व दिया है, यद्यपि इस संदर्भ में डॉयश 'साम्यावस्था' (equilibrium) की अपेक्षा 'स्थायित्व' (stability) शब्द के प्रयोग को अधिक उपयुक्त मानते हैं। 'स्थिरता' या 'स्थायित्व' की अवधारणा, प्रतिसम्भरण के प्रक्रम (mechanism) के माध्यम से समन्वय एवं विनियमन (regulation) की प्रक्रियाओं के प्रयोग द्वारा संचालन की अनेक विकृतियों के दूर किए जाने में सहायक हो सकती है, यद्यपि डॉयश इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं, कि इन विकृतियों में से कुछ को समझने के लिए इस उपागम से कहीं

अधिक परिष्कृत संकल्पनात्मक समझ की आवश्यकता होती है। राजनीतिक व्यवस्था द्वारा रूपान्तरित (modificatiory) अथवा विकासात्मक (evolutionary) परिवर्तन लाने में 'अधिगम' एवं 'लक्ष्य-परिवर्तनकारी' प्रतिसम्भरण की अवधारणाएं सहायक हो सकती हैं। लेकिन क्रांतिकारी परिवर्तन एवं विघटन (disruption) को समझने में इस उपागम की उपयोगिता सीमित है, हालांकि 'भार की अधिकता' (over load) एवं संचालन-विक्रितियों तथा प्रवर्धनशील प्रतिसम्भरण (amplifying feedback) जैसी संकल्पनाओं के द्वारा डॉयश ने क्रांतिकारी परिवर्तनों की भयावह प्रतीत होने वाली संभावनाओं पर भी विचार किया है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि संचार उपागम व्यवस्था अनुरक्षण (system maintenance) की समस्याओं से ठीक तरह से निपट सकती है, विकासोन्मुखी परिवर्तन के विश्लेषण में इसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परन्तु क्रांतिकारी परिवर्तन की समस्याओं से निपटने में इसे बहुत अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

सम्प्रेषण उपागम की एक प्रमुख आलोचना उसका अत्यधिक यांत्रिक स्वरूप है। इसके समर्थकों ने मानव व्यवहार को एक अभियांत्रिकी स्वरूप देने का प्रयास किया है। सम्प्रेषण सिद्धांत की उत्पत्ति के संदर्भ में यह बात आसानी से समझी जा सकती है। इस अवधारणा का जन्म क्लॉड शैनन (Claude E. Shannon) एवं नॉर्बर्ट वीनर (Norbert Wiener) द्वारा स्वतंत्र रूप से विकसित सूचना सिद्धांत तथा रॉस ऐशबी (W. Ross Ashby) द्वारा विकसित संतांत्रिकी प्रतिमान (Cybernetics Model) से हुआ। वीनर एवं शैनन विद्युत संचार से सम्बद्ध कुछ समस्याओं का समाधान ढूंढने का प्रयास कर रहे थे। वीनर संतांत्रिकी प्रतिमान से इतना अधिक प्रभावित थे कि वैज्ञानिक अन्वेषण को उसकी सम्पूर्णता में संतांत्रिकी के ढांचे में ढाल कर एक नया स्वरूप देना चाहते थे। ऐशवी ने सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्धता को और आगे बढ़ाने की भूमिका निभाई, क्योंकि उनके अनुसार 'निरन्तर जटिल हो रही मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को दूर करने के साधन यही उपलब्ध करा सकता है'। इन तीनों से प्रेरणा लेते हुए डॉयश ने सम्प्रेषण उपागम का प्रयोग राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए करने का प्रयास किया। वस्तुत: सम्प्रेषण की परिकल्पना विद्युत अभियांत्रिकी के क्षेत्र से ली गई अवधारणाओं का समाजिक अध्ययन के क्षेत्र में हस्तान्तरित करने का प्रयास है, जो इन क्षेत्रों के बीच पाये जाने वाले अन्तर को देखते हुए महत्वाकांक्षी ही कहा जाएगा।

अपने इस प्रयास के समर्थन में डॉयश का कहना है कि यांत्रिकी, कम्प्यूटर एवं संतांत्रिकी में तेजी से हो रही प्रगति से यंत्रों एवं जैविक संरचनाओं के बीच पाया जाने वाला अन्तर मिटता जा रहा है। यद्यपि डॉयश के इस तर्क से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन उनके इस सादृष्य (analogy) की अपनी सीमाएं हैं। अचेतन प्रक्रियाओं पर आधारित प्रतिमानों द्वारा मानव व्यवहार को नहीं समझा जा सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संतांत्रिकी पर आधारित प्रतिमान परिणामों या निष्कर्षों की अपेक्षा प्रक्रियाओं को अधिक महत्व देते हैं। नि:सन्देह, राजनीति में प्रक्रियाओं का महत्व है, लेकिन परिणामों एवं निष्कर्षों का महत्व इससे कहीं अधिक है। सम्प्रेषण उपागम सूचना प्रवाहों एवं प्रक्रियाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है। वह राजनीति के आधारभूत समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने की अपेक्षा, प्रवाहों की मात्रात्मक गणना पर अधिक जोर देता है। उपागम की कमजोरियों के संदर्भ में ओरान यंग (Oran Young) ने परिमाणीकरण के खतरों से सावधान करते हुए कहा है कि इस पर अधिक बल देने से सम्भवत: सूचना के सार की प्रकृति एवं उसके गुणात्मक एवं प्रासंगिक महत्व से हमारा ध्यान बिल्कुल हट जाए।

सम्प्रेषण सिद्धांत की परेशानी सिर्फ यह नहीं है कि अभियांत्रिकी के क्षेत्र से लिए गए प्रतिमानों का ज्यों का त्यों प्रयोग राजनीतिक गतिविधियों के अध्ययन के लिए किया गया है। इससे अधिक गम्भीर परेशानी यह है कि जिन उद्देश्यों के लिए इसका प्रयोग सामाजिक अध्ययन क्षेत्रों में किया जा रहा है, यह प्रतिमान उन्हें पूरा नहीं कर पा रहा है। प्रतिमान-निर्माण का उद्देश्य सामान्यत: जटिल वस्तुओं को सरल बना कर उन्हें समझना होता है। परन्तु डॉयश का संचार प्रतिमान स्वयं इतना जटिल हो गया है कि राजनीतिक घटनाओं को सरलीकृत करने के स्थान पर यह उन्हें और अधिक उलझा देता है। परेशानी का दूसरा पक्ष यह है कि अभियांत्रिकी से लिए गए अनेक शब्दों का प्रयोग विशुद्ध प्राविधिक अर्थ में न करके डॉयश ने सामान्य अर्थ में किया है जिससे उनसे वांछित अर्थ का बोध

नहीं हो पाता। अत: चाहे संरचना की दृष्टि से देखा जाए, चाहे सारतत्व की दृष्टि से (substantive viewpoint), सम्प्रेषण सिद्धांत में कुछ गम्भीर दोष पाए जाते हैं। सारतत्वीय स्तर पर प्रस्तुत होने वाली समस्याएं अधिक गम्भीर हैं क्योंकि यह सिद्धांत रूपवाद (formalism) एवं तर्कशीलता के गुणों को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है। जैसा कि सर्वविदित है, राजनीति में वास्तविक निर्णयकरण की प्रक्रिया में इस प्रकार की तर्कशीलता नहीं पाई जाती जिसकी अपेक्षा इस सिद्धांत द्वारा की जा रही है।

सिद्धांत के क्रियान्वयन के स्तर पर यह कठिनाइयां और भी स्पष्ट हो जाती हैं। वास्तविक जीवन में उस तरह की कार्य विशिष्टता (role specificity) शायद ही कभी संभव हो पाती हो, जिसकी अपेक्षा सिद्धांत द्वारा की जा रही है। न तो सूचना-सारणियां, न ही उन्हें बनाने वाली संरचनाएं कभी इतनी औपचारिक होती हैं। जब निर्णय लेने वाले प्राय: यही नहीं जानते कि लक्ष्य क्या है, तो उसके दिशा-परिवर्तन एवं इसके लिए आवश्यक तरीकों की जानकारी से उन्हें क्या लाभ होगा, यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि ऐसे प्रयास की इच्छाशक्ति उनमें है। इन कठिनाइयों को देखते हुए सम्प्रेषण उपागम पर आधारित प्रयोगाश्रित (empirical) शोध की लगभग नगण्य मात्रा पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यद्यपि डॉयश ने इस सिद्धांत की रचना एवं इसका प्रतिपादन किया है, अपनी बौद्धिक प्रतिभा के होते हुए भी वह उसका वास्तविक प्रयोग कम ही कर पाए। यदि इस शब्द का सामान्य अर्थ भी लिया जाए, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों एवं राष्ट्रीय राजनीति में भी सम्प्रेषण की महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि सूचनाएं निर्विघ्न प्राप्त होती रहें एवं निर्णय लेने वाले उन्हें प्राप्त कर उचित प्रतिक्रिया करने की स्थिति में हों, तो राजनीतिक व्यवस्था अनेक समस्याओं का समाधान कर सकती है। लेकिन इस बात पर कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि राजनीति शास्त्र में संचार का अर्थ अभियांत्रिकी में सम्प्रेषण से बिल्कुल भिन्न है। राजनीति में सम्प्रेषण की समस्या सिर्फ सूचना प्राप्ति की नहीं है, अपितु उसे समझने एवं ग्रहण करने की है। अर्थात, समस्या सीमित अर्थ में अविकृत रूप में सूचना-संचारण (transmission) की नहीं है, बल्कि व्यापक अर्थ में ज्ञान (knowledge) की है।

शैनन एवं वीनर, अपने दावों के बावजूद, संचारण के अत्यन्त ही सीमित क्षेत्र में सीमित समस्याओं का हल ढूँढ़ने का प्रयास कर रहे थे। उनकी समस्या मुख्यत: यंत्रों के नियंत्रण एवं नियमन की थी एवं अपने व्यापकतम अर्थ में भी, संतांत्रिकी (Cybernetics) यंत्रों के नियंत्रण एवं नियमन से सम्बद्ध अवधारणा ही है। इसका सम्बन्ध एक निश्चित (determinate) यंत्र के व्यवहार से है, एक ऐसा यंत्र जिसका व्यवहार हमेशा एक निश्चित प्रकार का ही होता है। यंत्र वर्तमान अवस्था, जिसमें वह है, से अगली अवस्था में ही प्रवेश कर सकता है, एवं यदि उसकी वर्तमान परिस्थिति एवं अवस्था ज्ञात है तो उसकी अगली अवस्था का निर्धारण सम्भव है। सम्प्रेषण सिद्धांत यंत्रों की दुनिया से ली गई इन अवधारणाओं का प्रयोग सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए करना चाहता है। डॉयश यह मान कर चलते हैं कि राजनीतिक व्यवस्थाओं में वह सभी गुण होते हैं जो एक यंत्र में होते हैं। लेकिन यह समझ पाना कठिन है कि किस प्रकार कोई प्रशासन, भले ही उसके पास समस्त सूचनाएं उपलब्ध हों, अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ेगा एवं उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक गतिविधियों का निर्धारण करेगा (यह मानते हुए कि उसे अपने लक्ष्य एवं अपनी वर्तमान स्थिति के अन्तर, एवं अपनी क्षमताओं और सीमाओं की जानकारी है।)

इस सिद्धांत के प्रतिपादकों द्वारा दी गई चेतावनी पर समाजशास्त्रियों द्वारा ध्यान न दिया जाना एक विडंबना ही है। जैसा कि ऐशबी ने स्वयं बताया है प्रतिसम्भरण की अवधारणा जो कुछ प्राथमिक स्थितियों में इतनी सरल एवं प्राकृतिक प्रतीत होती है, व्यवस्था के अंगों के बीच परस्पर-सम्बन्धों में जटिलता के बढ़ने पर कृत्रिम एवं अनुपयोगी हो जाती है। जब केवल दो पुर्जे एक दूसरे से ऐसे जुड़े हों कि वह एक दूसरे को प्रभावित करते हों तो प्रतिसम्भरण से सम्पूर्ण व्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण एवं उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। लेकिन जब इनकी संख्या थोड़ी सी बढ़ कर चार भी हो जाती है, एवं यदि इनमें से प्रत्येक अन्य तीनों को प्रभावित करता है, तो उनके परस्पर संबंधों की संख्या बीस तक पहुंच जाती है, एवं इन सभी की विशेषताओं को जान कर भी हम निकाय के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने का दावा नहीं कर सकते। राजनीतिक व्यवस्था की जटिलताओं का विश्लेषण

परस्पर-सम्बद्ध भागों के प्रतिसम्भरण के आधार पर कर पाना सम्भव नहीं है। ऐशबी ने हमारा ध्यान 'स्थायित्व' (stability) एवं 'साम्यावस्था' (equilibrium) जैसी संकल्पनाओं के राजनीतिक घटनाक्रम के विश्लेषण के लिए अनुपयुक्तता की तरफ भी आकृष्ट किया है। सामाजिक अध्ययनकर्ताओं ने इन चेतावनियों को नजरअंदाज करते हुए जटिल सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रतिसम्भरण मार्गों के खोज का प्रयास किया है, जिसका कोई परिणाम नहीं निकलता है। अत: न तो सूचना सिद्धांत न ही संतांत्रिकी सिद्धांत का राजनीति के अध्ययनकर्ताओं पर कोई विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। 'सम्प्रेषण' पर आधारित अनेक अध्ययनों में डॉयश द्वारा किया गया शोध नि:संदेह सबसे उत्कृष्ट होते हुए भी प्रशासनिक व्यवस्थाओं के क्रियाकलापों से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाने से अधिक कुछ नहीं कर पाता। इन प्रश्नों को उठाने का श्रेय संतांत्रिकी उपागम को देते हुए यह ध्यान रखने योग्य है कि इनका उत्तर हमें अन्यत्र ढूंढना होगा।

11.6 सारांश

नॉर्बर्ट वीनर एवं रास ऐशबी द्वारा विकसित 'संचार-नियंत्रण' विज्ञान के अनुसार मनुष्य, पशु, राज्य, समाज, राष्ट्र आदि 'मशीनों' के समान हैं। उन सम्भावित मार्गों (channels) के अध्ययन सम्बन्धी सिद्धांत तथा प्रविधियों के समूह को, जिनके द्वारा यह अपने परिवेश का नियंत्रण करती है, संतांत्रिकी (Cybernetics) कहा जाता है। कार्ल डॉयश ने सम्प्रेषण एवं संतांत्रिकी पर आधारित राजनीतिक विश्लेषण का नया उपागम प्रस्तुत किया है जो राजनीतिक व्यवस्था के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन एवं समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता का अध्ययन करता है। वीनर ने 'संचार' में उन सभी प्रक्रियाओं को शामिल किया है जिनके द्वारा एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क को प्रभावित करता है। परन्तु यहां केवल राजनीतिक संचार, अर्थात मांगों एवं निर्णयों के राजनीतिक निकाय के एक भाग से दूसरे भाग तक लाने-ले जाने की विवेचना की गई है। सम्प्रेषण उपागम निर्णयों के परिणामों में उतनी रुचि नहीं रखता जितना उनके निर्माण की प्रक्रिया में।

सम्प्रेषण सिद्धांत के अनुसार प्रशासन विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णयकरण की एक व्यवस्था है। 'संग्राहक' एवं 'संग्रहण व्यवस्थाएं' आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के स्रोतों से सूचनाएं प्राप्त करती हैं। निर्णय-निर्माण एवं निर्णयों के क्रियान्वयन से सम्बद्ध सूचनाओं को प्रतिसम्भरित किया जाता है जो एक नई 'निवेश' का रूप धारण करती हैं। संकल्पनाओं के दूसरे वर्ग जो सूचना प्रवाहों एवं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है, की कुछ प्रमुख संकल्पानाएँ 'सारणी' या 'मार्ग', 'भार' एवं 'भार-क्षमता' है। डॉयश ने सूचना प्रवाहों पर आधारित अध्ययन के द्वारा यह जानने का प्रयास किया है कि सूचना को प्रवाहित करने वाले 'मार्ग' उसे उसके लक्ष्य तक कितनी विकृति के साथ पहुंचाने में सफल होते हैं। सम्प्रेषण सिद्धांत के अनुसार किसी भी व्यवस्था का सम्प्रेषण मार्गों के एक संजाल (a network of communication channels) के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

संचार की जिस विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा नियंत्रण एवं मार्ग-परिवर्तन का कार्य किया जाता है उसे 'प्रतिसम्भरण' (feedback) प्रक्रिया कहा जाता है। 'नकारात्मक' प्रतिसम्भरण उन सूचनाओं को कहा गया है जो व्यवस्था के व्यवहार को स्वत: उस दिशा में मोड़ देती हैं जो उसे संगत लक्ष्यों की प्राप्ति के अधिक निकट ले जाए। व्यवस्था को निरन्तर (a) लक्ष्य की अवस्थिति, (b) उसके एवं लक्ष्य के बीच दूरी, एवं (c) किस गति से वह दूरी को तय कर सकती है, इन तीनों के बारे में सही जानकारी मिलती रहनी चाहिए। व्यवस्था में प्राप्त सूचना के आधार पर अपनी स्थिति एवं व्यवहार में आवश्यक बदलाव लाने की क्षमता होनी चाहिए। डॉयश ने सिद्धांत के संकल्पनात्मक ढांचे को और अधिक परिष्कृत बनाने के लिए उसमें कुछ परिमाणात्मक तत्व-'पश्चता', 'लाभ' एवं 'अग्रता'- शामिल किए हैं। उनका यह मानना है कि परिमाणीकरण पर आधारित यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के मूल्यांकन में सहायक है। किसी भी व्यवस्था की क्षमता उसके एक 'संचालन व्यवस्था' के रूप में कार्य करने एवं अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उसकी प्रभावशीलता पर निर्भर होगी। अन्तत: डॉयश ने कुछ अन्य संकल्पनाओं का भी संदर्भ दिया है, जैसे निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण, अधिगम, अभिनव परिवर्तन, वर्धन इत्यादि।

यह उपागम परिकल्पनाओं को व्यावहारिक बनाने एवं परिमाणात्मक विश्लेषण की दिशा में अत्यन्त ही सहायक है। डॉयश ने प्राप्त होने वाली सूचनाओं एवं व्यवस्था द्वारा उसके प्रति अनुक्रिया के अध्ययन के श्रेष्ठ उपकरण प्रस्तुत किए हैं। परन्तु शक्ति, जिसे राजनीतिक क्रिया का आधार माना जाता है, की क्रिया-विधियों की गहराई से विश्लेषण का प्रयास इस उपागम द्वारा नहीं किया गया है। संक्षेप में, सम्प्रेषण सिद्धांत व्यवस्था-अनुरक्षण की समस्याओं से ठीक तरह से निपट सकता है, परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तनों की पेचीदगियों से निपटने में उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

इस सिद्धांत की एक प्रमुख आलोचना उसका अत्यधिक यांत्रिक स्वरूप है एवं इसके प्रयोगकर्ताओं ने मानव स्वभाव को अभियांत्रिकी स्वरूप देने का प्रयास किया है। सम्प्रेषण की परिकल्पना विद्युत अभियांत्रिकी के क्षेत्र से ली गई अवधारणाओं को सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में हस्तान्तरित करने का प्रयास है, जो इन क्षेत्रों के बीच पाए जाने वाले अन्तर को देखते हुए महत्वाकांक्षी ही कहा जाएगा। अचेतन प्रक्रियाओं पर आधारित प्रतिमानों द्वारा मानव व्यवहार को नहीं समझा जा सकता। यह एक विडम्बना ही है कि सिद्धान्त के प्रतिपादकों द्वारा दी गई चेतावनी पर समाजशास्त्रियों ने ध्यान नहीं दिया है। स्वयं ऐशबी ने कहा था कि कुछ प्राथमिक स्थितियों में सरल एवं प्राकृतिक प्रतीत होने वाली.प्रतिसम्भरण की अवधारणा, व्यवस्था के अंशों के बीच परस्पर-सम्बन्धों में जटिलता के बढ़ने पर कृत्रिम एवं अनुपयोगी हो जाती है। राजनीतिक व्यवस्था की जटिलताओं का विश्लेषण परस्पर-सम्बद्ध भागों के प्रतिसम्भरण के आधार पर कर पाना सम्भव नहीं है। अत: न तो सम्प्रेषण सिद्धान्त न ही संतांत्रिकी का राजनीति के अध्ययनकर्ताओं पर कोई विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

11.7 उपयोगी पुस्तकें

एस०पी० वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, विकास, नई दिल्ली

जैन एवं फाड़िया, राजनीतिक समाजशास्त्र, आगरा, साहित्य भवन 2002

श्याम लाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1993

कार्ल डॉयश, द नर्वस ऑफ गवर्नमेन्ट, द फ्री प्रेस, 1963

नॉर्बर्ट वीनर, द ह्यूमन यूज़ ऑफ ह्यूमन वीइंगस, साइबरनेटिक्स एण्ड सोसाइटी, डइलडे एंड को, 1950

ओरान आर० यंग, सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स, न्यूजर्सी, प्रेंटिस हाल, 1968

रॉस ऐशबी, एन इन्ट्रोडक्शन टू साइबरनेटिक्स, जॉन वाइली, 1963

11.8 संबंधित प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. 'संचार अभियांत्रिकी' एवं 'शक्ति अभियांत्रिकी' में अन्तर स्पष्ट करें।
2. सूचना प्रवाहों एवं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध कुछ प्रमुख अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।
3. 'निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण' की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
4. 'संचालन' की अवधारणा एवं सम्प्रेषण सिद्धांत में इसके महत्व पर टिप्पणी लिखिए।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. सम्प्रेषण सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. 'प्रतिसम्भरण' से आप क्या समझते हैं? सम्प्रेषण की प्रक्रिया में इसकी भूमिका एवं महत्व का वर्णन कीजिए।

1. 'Kubernetis' का अर्थ है :

   a. दिशा-परिवर्तक b. मार्ग-परिवर्तक

   c. हृदय-परिवर्तक d. इनमें से कोई नहीं

2. राजनीतिक व्यवस्था को वांछित लक्ष्य की दिशा में प्रगति से विमुख करने वाली सूचना को क्या कहते हैं?

   a. लक्ष्य-परिवर्तन प्रतिसम्भरण b. नकारात्मक प्रतिसम्भरण

   c. निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण d. इनमें से कोई नहीं

3. सन्तान्त्रिकी प्रतिमान से प्रभावित हो कर सम्पूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण को सन्तांत्रिकी के ढांचे में ढाल का नया स्वरूप प्रदान करने के इच्छुक वैज्ञानिक का नाम है—

   a. रॉस ऐशबी b. कार्ल डॉयश

   c. क्लॉड़ शैनन d. नॉर्बर्ट वीनर

4. प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रियाओं की प्रभावशीलता एवं विस्तार को कहा जाता है।

   a. अग्रता b. पश्चता

   c. भार d. लाभ

11.9 प्रश्नोत्तर

1. b
2. c
3. d
4. a

इकाई 12. राजनीतिक सहभागिता

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2. अर्थ एवं परिभाषा
12.3 राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप
12.4 राजनीतिक सहभागिता की प्रमुख क्रियाएं
12.5 राजनीतिक सहभागिता के आधार
12.6 राजनीतिक सहभागिता का महत्व
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 उपयोगी पुस्तकें
12.10 संबंधित प्रश्न
12.11 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीतिक प्रक्रियाओं में तीसरी-राजनीतिक सहभागिता या अंशभागिता का अध्ययन किया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- राजनीतिक सहभागिता का अर्थ एवं इसकी कुछ प्रमुख परिभाषाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजनीतिक सहभागिता के विभिन्न स्वरूपों एवं उनके बीच अंतर को समझ सकेंगे।
- राजनीतिक सहभागिता की प्रमुख क्रियाओं-सामान्य एवं विशिष्ट-की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजनीतिक सहभागिता के आधारों एवं उनके महत्व को समझ सकेंगे।
- लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनीतिक सहभागिता के महत्व को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

राजनीतिक व्यवस्थाएं दो प्रकार की होती हैं प्रजातांत्रिक एवं गैर-प्रजातांत्रिक (तानाशाह, प्राधिकृत, इत्यादि)। प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली इस धारणा पर आधारित होती है कि व्यक्ति इतना प्रबुद्ध है कि वह अपने हितों का स्वयं निर्धारण कर सकता है। इसके विपरीत, गैर-लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं व्यक्ति को इस लायक नहीं मानती कि उसे अपने फैसले स्वयं करने का अधिकार दिया जाए। इन व्यवस्थाओं में सभी महत्वपूर्ण फैसले एक छोटे से वर्ग द्वारा लिए जाते हैं एवं बहुसंख्यक वर्ग द्वारा उनका पालन किया जाता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में हर नागरिक को निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने एवं इसे प्रभावित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। लोगों के राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल होने को राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है। इसी आधार पर न सिर्फ प्रजातांत्रिक एवं गैर-लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों के बीच फर्क किया जाता है, अपितु राजनीतिक प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी की मात्रा ही व्यवस्था के लोगों के प्रति उत्तरदायित्व की मात्रा का सूचक भी होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजनीति में जन-सहभागिता लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों में एक है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि गैर-लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक सहभागिता का कोई महत्व नहीं है। राजनीतिक सहभागिता हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के

लिए अनिवार्य आवश्यकता है। तानाशाह एवं प्राधिकृत शासन व्यवस्थाओं में भी सहभागिता का महत्व है एवं इनमें भी लोगों को सहभागिता के अवसर प्रदान किए जाते हैं। अंतर यह है कि इस तरह के राज्यों में सहभागिता के अवसर सीमित होते हैं, राज्य का इन पर नियंत्रण सम्पूर्ण होता है, एवं इनका उद्देश्य शासकों द्वारा लिए गए फैसलों का लोगों द्वारा 'अनुमोदन' होता है ताकि व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।

12.2 राजनीतिक सहभागिता : अर्थ एवं परिभाषा

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद प्रकाशित मेरिएम (Merriam) एवं गॉसनेल (Gossnell) की पुस्तक नॉन वोटिंग (Non-Voting, 1924) एवं मेरिएम द्वारा 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध में 'नागरिकता' पर प्रकाशित पुस्तकों की श्रृंखला के पश्चात राजनीति में जन-सहभागिता, या असहभागिता (non-participation) से सम्बद्ध अनेक अध्ययन हुए हैं। सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में लोगों की भागीदारी के 'कब' 'क्यों' एवं 'कैसे' के बारे में अब प्रचुर मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। राजनीतिक सहभागिता हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था का आवश्यक अंश है। प्रजातंत्र में, क्योंकि यह लोगों की सहमति पर आधारित व्यवस्था है, सहभागिता और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। समस्त समकालीन राजनीतिक व्यवस्थाएं, चाहे उनका स्वरूप सर्वाधिकारवादी ही क्यों न हो, सत्ता के आधार को सुदृढ़ करने एवं व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नागरिकों को किसी न किसी रूप में राजनीति में भाग लेने का अधिकार देती हैं।

राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेना। इस भागीदारी की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों के द्वारा होती है। हर्बर्ट मैक्क्लॉस्की (H. McClosky) के अनुसार राजनीतिक सहभागिता लोकतांत्रिक व्यवस्था में सहमति देने एवं वापस लेने का प्रमुख माध्यम है एवं यह प्रशासन को लोगों के प्रति उत्तरदायी बनाने का साधन है। उन्होंने राजनीतिक सहभागिता की परिभाषा 'उन ऐच्छिक गतिविधियों जिनके द्वारा नागरिक अपने शासकों के चयन एवं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में भाग लेते हैं' के रूप में की है। नीये (Nie) एवं वर्बा (Verba) ने अपनी परिभाषा में 'नागरिकों की उन वैधानिक गतिविधियों' को शामिल किया है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रशासनिक वर्ग के चयन एवं उसके क्रियाकलापों को प्रभावित करने के लिए की जाती हैं। हंटिंगटन (Huntington) एवं नेलसन (Nelson) ने राजनीतिक सहभागिता को 'नागरिकों द्वारा प्रशासनिक निर्णयकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करने की गतिविधि' के रूप में परिभाषित किया है। मैथ्यूज (Matthews) एवं प्रोथ्रो (Prothro) ने राजनीतिक सहभागिता को 'जनता द्वारा प्रत्यक्ष राजनीतिक विचारों को व्यक्त करने से सम्बन्धित हर प्रकार का व्यवहार' कहा है। इन परिभाषाओं से कई ऐसे प्रश्न उभरते हैं जिन पर गम्भीर विचार आवश्यक है।

राजनीतिक सहभागिता से तात्पर्य उस प्रकार की गतिविधि से है जिसका उद्देश्य प्रशासनिक निर्णय-निर्माण एवं कार्यवाही को प्रभावित करना है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समाज के लिए 'मूल्यों के आधिकारिक आबंटन' (authoritative allocation of values) को प्रभावित करने के लोगों के प्रयास हमेशा प्रशासन के औपचारिक निर्णयों के माध्यम से ही हों। किसी भी समाज के विभिन्न समूहों के बीच संसाधनों के वितरण का अधिकांश हिस्सा प्रशासन के हस्तक्षेप के बिना होता है। अत: क्या उन सभी गतिविधियों को राजनीतिक सहभागिता कहना एवं अध्ययन की परिधि में शामिल करना उचित होगा? ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक सहभागिता अंशत: प्रशासनिक गतिविधियों का फलन (function) है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या राजनीतिक सहभागिता के दायरे में सिर्फ कार्यों (acts) को शामिल किया जाएगा, या उन कार्यों को प्रेरित या प्रोत्साहित करने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को भी? राजनीतिक सहभागिता के कुछ अध्ययनों में वास्तविक राजनीतिक व्यवहार के साथ-साथ विश्लेषण के दायरे में सहभागिता के प्रति दृष्टिकोण या रुझानों को भी शामिल किया गया है। आमण्ड (G. Almond) एवं वर्बा (S. Verba) ने अपने अध्ययन में राजनीतिक सहभागिता के व्यक्तिनिष्ठ

(subjective) या मनोवैज्ञानिक पक्ष को अधिक महत्व दिया है। बेरेलसन (Berelson) लाज़ारस्फैल्ड (Lazarsfeld) एवं मैक्फी (McPhee) ने राजनीतिक सहभागिता को एक पूर्ववर्ती प्रक्रिया-राजनीतिक समाजीकरण-का पुनर्ग्रहण (continuation) माना है, एवं इसके मापन का एक मात्र आधार राजनीति में रुचि को माना है। रश (Rush) एवं आल्तौफ (Althoff) के अनुसार राजनीतिक समाजीकरण व्यक्ति को एक बोधात्मक यवनिका (perceptual screen) उपलब्ध कराता है, जिसके द्वारा उसे राजनीतिक उद्दीपन (stimuli) प्राप्त होते हैं। इनके परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वयं को राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों में सम्मिलित करता है, जिसे राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है। हंटिंगटन एवं नेलसन ने भी इसके दूसरे पक्ष को ही बल देते हुए वस्तुनिष्ठ राजनीतिक गतिविधि एवं व्यक्तिनिष्ठ राजनीतिक मनोवृत्ति को एक दूसरे से पृथक परिवर्त्य (variable) माना है। नीये एवं वर्बा भी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को सहभागिता के श्रोत की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए वास्तविक राजनीतिक सहभागिता से पृथक रखने के पक्ष में हैं। संक्षेप में, अनेक विशेषज्ञ प्रशासन को प्रभावित करने के प्रयासों से सम्बद्ध वास्तविक व्यवहार को ही राजनीतिक सहभागिता के दायरे में शामिल करने के पक्ष में हैं।

12.3 राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप

राजनीतिक सहभागिता के रूपों (Forms) की दृष्टि से 'सहभागिता' की अवधारणा के क्षेत्र में धीरे-धीरे वृद्धि होती रही है। सहभागिता की पूर्ववर्ती अवधारणा अपेक्षाकृत संकीर्ण थी एवं सामान्यत: चुनाव प्रक्रिया में नागरिकों की मतदाताओं के रूप में भागीदारी, चुनाव प्रचार एवं दलीय राजनीति से सम्बद्ध अन्य गतिविधियों, जैसे राजनीतिक चर्चा, अपना मत किसी प्रत्याशी या दल को देने के लिए मनाना, राजनीतिक बैठकों में हिस्सा लेना, राजनीतिक साहित्य का वितरण, चंदा देने इत्यादि को ही सहभागिता के (क्षेत्र) अध्ययनों में शामिल किया जाता था। धीरे-धीरे चुनावों के मध्य की अवधि में नागरिकों द्वारा प्रशासनिक निर्णयों को प्रभावित करने से सम्बद्ध गतिविधियों को शामिल कर सहभागिता की अवधारणा को अधिक व्यापक बनाया गया। मैथ्यूज एवं प्रोध्रो ने राजनीतिक सहभागिता की परिभाषा '**ऐसा समस्त व्यवहार जिसके माध्यम से नागरिक अपने राजनीतिक विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करते हैं**' के रूप में की है। यहां पर विचारणीय प्रश्न यह है कि राजनीतिक सहभागिता के किन स्वरूपों को अध्ययन की दृष्टि से अधिक महत्व दिया जाना चाहिए? नि:संदेह चुनावों से सम्बद्ध गतिविधियां-प्रचार, मतदान, इत्यादि-सहभागिता के सबसे प्रत्यक्ष स्वरूप हैं, एवं अधिकांश अध्ययन इन्हीं गतिविधियों पर केन्द्रित हैं। परन्तु सहभागिता के कई अन्य एवं अपेक्षित स्वरूपों का विश्लेषण एवं अध्ययन भी आवश्यक है।

सहभागिता की मात्रा या विस्तार के आधार पर रश एवं आल्तौफ ने राजनीतिक गतिविधियों को निम्नलिखित सोपानीय रूप में व्यवस्थित किया है :

(i) राजनीतिक या प्रशासनिक पद धारण करना;

(ii) राजनीतिक या प्रशासनिक पद प्राप्त करने का प्रयत्न करना;

(iii) राजनीतिक संगठन का सक्रिय सदस्य होना;

(iv) राजनीतिक संगठन का निष्क्रिय सदस्य होना;

(v) अर्ध-राजनीतिक संगठन (दबाव समूह या हित समूह) का सक्रिय सदस्य होना;

(vi) अर्ध-राजनीतिक संगठन का निष्क्रिय सदस्य होना;

(vii) सार्वजनिक सभाओं, प्रदर्शनों, इत्यादि में भाग लेना;

(viii) अनौपचारिक राजनीतिक चर्चा में भाग लेना;

(ix) राजनीति में सामान्य रुचि;

(x) मतदान; एव

(xi) उदासीनता (apathy)

रश एवं आल्तौफ द्वारा अपनी इस व्यवस्था में उस सम्प्रत्ययात्मक फर्क-व्यावसायिक सहभागिता एवं गैर-व्यावसायिक सहभागिता की तरफ ध्यान नहीं दिया गया है जिसे नीये एवं वर्क और हंटिंगटन एवं नेल्सन ने महत्वपूर्ण माना है। ऐसे व्यक्ति को पेशेवर राजनीतिज्ञ कहा जाएगा जिसका व्यवसाय राजनीति या प्रशासन हो। राजनीतिक एवं प्रशासनिक पदधारक, राजनीतिक प्रत्याशी, दबाव समूह के सदस्यों, इत्यादि को पेशेवर राजनयिक मानते हुए उन्हें राजनीतिक सहभागिता में सामान्यत: शामिल माना गया है। अत: इनकी गतिविधियों को अपने अध्ययन के दायरे में न रखते हुए इन विशेषज्ञों ने गैर-व्यावसायिक राजनीतिक सहभागिता को ही सही अर्थों में 'सहभागिता' माना है। राजनीतिक गतिविधियों में गैर-व्यावसायिक सहभागिता आवर्तक (intermitant) अंशकालिक एवं सामान्यत: उपव्यावसायिक (avocational) अर्थात कर्ता के अन्य सामाजिक भूमिकाओं की तुलना में गौण होती है। अत: इस प्रकार की सहभागिता को ही विशुद्ध राजनीतिक सहभागिता के रूप में अध्ययन की परिधि में रखा जाना चाहिए।

12.4 राजनीतिक सहभागिता की प्रमुख क्रियाएं

मैक्क्लॉस्की ने 'सहभागिता में मतदान, जानकारी प्राप्त करना, वाद-विवाद एवं धर्मपरिवर्तन, सभाओं में उपस्थित होना, चंदा देना, प्रतिनिधियों के साथ सम्पर्क रखना, इत्यादि' जैसी विविध प्रकार की क्रियाएं सम्मिलित की हैं। उनके अनुसार सहभागिता के अधिक सक्रिय स्वरूपों में दल की औपचारिक सदस्यता ग्रहण करना, चुनाव प्रचार एवं मतदाताओं का पंजीकरण, राजनीतिक भाषण लिखना एवं देना, अभियानों में शामिल होना एवं सार्वजनिक और दलीय पदों के लिए चुनाव में भाग लेने जैसी गतिविधियों को सम्मिलित किया जा सकता है। वुडवर्ड (Woodward) एवं रोपर (Roper) ने अपने लेख "**पोलिटिकल एक्शन्स ऑफ अमेरिकन सिटिजन्स**" में राजनीतिक सहभागिता में पांच प्रमुख क्रियाएं शामिल की हैं—(i) चुनावों में मत देना; (ii) प्रभावक समूहों का सदस्य बन कर इन्हें समर्थन प्रदान करना; (iii) विधायकों से प्रत्यक्ष संचार करना; (iv) राजनीतिक दलों की गतिविधियों में भाग ले कर विधायकों पर अधिकार प्राप्त करना; तथा (v) अन्य नागरिकों से मौखिक रूप से राजनीतिक विचारों का आभ्यासिक प्रचार करना। लेस्टर मिलब्रेथ ने मात्रात्मक अन्तर के आधार पर राजनीति में सहभागियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। इस आधार पर उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों के तीन प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं :

1. **असिक्रीड़कीय (GLADIATORIAL) क्रियाएं**—इस वर्ग में ऐसे व्यक्तियों को शामिल किया जा सकता है जो राजनीति को अपना पेशा मानते हैं। इसमें दल के सक्रिय कार्यकर्ताओं को जो दलीय पदों पर नियुक्त हैं, दल के प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़ने, दल के लिए चंदा एकत्र करने, दल की सभाओं में जाने एवं दल के अभियानों में सम्मिलित होने जैसी सक्रिय गतिविधियों में भाग लेने वालों को शामिल किया जाता है। मिलब्रेथ के अनुसार 1 से 3 प्रतिशत अमेरिकी नागरिक इस प्रकार की गतिविधियों में स्वयं को शामिल करते हैं।

2. **अन्तर्वर्ती (TRANSITIONAL) क्रियाएं**—इस वर्ग में दल के समर्थकों, सहानुभूति रखने वालों, अथवा मात्र तटस्थ सजग श्रोताओं के रूप में दल की सभाओं में शामिल होने वालों, दल के कोष में चंदा देने, प्रशासनिक अधिकारियों या दल के नेताओं से सम्पर्क स्थापित करने जैसी क्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। अमेरिका में 7 से 9 प्रतिशत नागरिक इन क्रियाओं में भाग लेते हैं।

3. **दर्शक (SPECTATOR) क्रियाएं**—इस वर्ग में शामिल क्रियाओं में औपचारिकता का अंश पाया जाता है। ऐसे व्यक्ति राजनीति से विरक्त न होते हुए भी स्वयं को आंशिक रूप से ही उसमें शामिल करते हैं। इस वर्ग में मत देने, दूसरे को मत देने के लिए प्रभावित करने राजनैतिक विचार-विमर्श में भाग लेने, तथा दल विशेष के प्रतीक चिह्नों का प्रयोग करने

इत्यादि क्रियाओं को शामिल किया जाता है। लगभग 60 प्रतिशत अमेरिकी नागरिक इन क्रियाओं में भाग लेते हैं। शेष 30 प्रतिशत नागरिक राजनीतिक दृष्टि से 'उदासीन' हैं।

इस वर्गीकरण से हमें यह पता चलता है कि राजनीतिक सहभागिता की दृष्टि से सभी नागरिक एक समान नहीं है अर्थात, सक्रियता की मात्रा की दृष्टि से उनमें अन्तर पाया जाता है। शिक्षा के स्तर एवं सहभागिता के स्तर परस्पर सम्बद्ध हैं। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देशों में पाए जाने वाले सहभागिता के उच्च स्तर से विशेषज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सम्पन्नता एवं सहभागिता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसके विपरीत, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े एवं शिक्षा के सीमित प्रसार वाले समाजों में न सिर्फ सहभागिता का स्तर निम्न होगा, बल्कि उनकी राजनीतिक व्यवस्थाएं इतनी स्थायी भी नहीं होगी।

सम्पर्क द्वारा संचार राजनीतिक सहभागिता की आवश्यक सारणी (Channel) है क्योंकि इसका कार्य प्रशासनिक अधिकारियों एवं विधायकों को प्रभावित करना है। इस सम्पर्क के दो स्तर हो सकते हैं—**प्रथम** समस्तरीय (horizontal) अर्थात नागरिक एवं नागरिक के बीच संचार, **द्वितीय** लम्ब (vertical) अर्थात नागरिकों एवं प्रशासनिक अधिकारियों के बीच संचार। समूहों एवं संगठनों के माध्यम से नागरिक अपने सामूहिक प्रयासों द्वारा ऐसी सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं जो सभी को प्रभावित करते हैं। परन्तु, यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यक्ति प्रशासनिक अधिकारियों एवं विधायकों से सम्पर्क मुख्यत: अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करते हैं। विकासशील देशों में वैधानिक एवं गैर-कानूनी फायदों को प्राप्त करने में बिचौलियों या 'सम्पर्क व्यक्तियों' की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रही है। इस प्रकार का विशिष्टीकृत सम्पर्क, जिसमें राजनीतिक कार्यकर्ता एवं विधायक नागरिकों एवं निर्णयकर्ताओं के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं, अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

प्रतिवाद (protest) सहभागिता, अर्थात धरना, प्रदर्शन, बंद एवं हड़ताल इत्यादि के द्वारा राजनीतिक सहभागिता पिछले कुछ दशकों से महत्वपूर्ण हो गई है। इस प्रकार की गतिविधियों में दंगे, तोड़-फोड़, आगजनी एवं हत्या जैसे नागरिक हिंसा के तरीके शामिल हैं, जिनके द्वारा नागरिक प्रशासन पर दबाव डालने या उसे आतंकित करने का प्रयास करते हैं। कुछ विशेषज्ञ, जैसे नीये एवं वर्बा, प्रतिवाद सहभागिता को अध्ययन के दायरे के बाहर रखने के पक्षधर हैं क्योंकि वह इन गतिविधियों को "गैर-कानूनी" मानते हैं। उनके अनुसार प्रशासन को प्रभावित करने के प्रयास निर्णयकर्ताओं पर दबाव डालकर कुछ निश्चित कार्यों को करने, या कुछ कार्यों को न करने के लिए बाध्य करना होता है। लेकिन कभी-कभी राजनीतिक सहभागिता का उद्देश्य निर्णयकर्ताओं द्वारा सम्पूर्ण दिशा-परिवर्तन, या उन अधिकारियों को पद से हटाना, या राजनीतिक व्यवस्था के मौजूदा संगठन को बदलना (या बनाए रखना), या राजनीति के खेल के नियमों में परिवर्तन भी हो सकता है। कभी-कभी इस प्रकार की गतिविधियां राजनीतिक व्यवस्था के प्रचलित नियमों के अनुसार "अवैधानिक" भी हो सकती हैं। परन्तु इससे राजनीतिक सहभागिता के रूप में इन गतिविधियों का महत्व घटने की अपेक्षा बढ़ जाता है। अत: प्रशासन को प्रभावित करने के उद्देश्य से की गई समस्त गतिविधियाँ वैधानिक एवं अवैधानिक राजनीतिक सहभागिता मानी जाएंगी। परन्तु पेशेवर क्रांतिकारी, अर्थात ऐसे व्यक्ति जो प्रशासन को अवैधानिक तरीकों से बदलने के लिए पूर्णकालिक प्रयासों में लगे हुए हैं, को एक पृथक श्रेणी में रखा जाना चाहिए। हंटिंगटन एवं नेल्सन भी ऐसे कर्ताओं को राजनीतिक सहभागिता के दायरे से बाहर मानते हैं। लेकिन, कुछ अन्य विशेषज्ञों के अनुसार वैधानिक एवं अवैधानिक, दोनों प्रकार की गतिविधियों को सम्प्रत्ययात्मक दृष्टि से समस्तरीय मानना चाहिए, चाहे उनसे अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो रहे हों या नहीं। राजनीतिक सहभागिता का उद्देश्य राजनीतिक सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करना है, एवं सहभागिता और सत्ता के वास्तविक प्रयोग में अन्तर को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए।

हाल के वर्षों में समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक सहभागिता के उन विशिष्ट स्वरूपों के विश्लेषण में रुचि दिखलाई है जिन्हें सहभागिता का 'लोप बिंदु' (vanishing point) भी कहा जाता है—उदासीनता (apathy) एवं एनॉमी (anomie) अर्थात निराशा की स्थिति। कुछ व्यक्ति राजनीति के प्रति उदासीन होते हैं—उनमें न तो इसके प्रति कोई रुचि होती है न ही वे राजनीतिक गतिविधियों

में भाग लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों में राजनीतिक प्रभावशीलता (efficacy) की भावना का अभाव होता है जो अधिकांश व्यक्तियों को राजनीतिक सहभागिता के लिए प्रेरित करता है। राजनीतिक प्रभावशीलता से तात्पर्य व्यक्ति के इस विश्वास से है कि उसके अपने प्रयासों का राजनीतिक प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है। उदासीनता की भावना की उत्पत्ति कभी संतुष्टि की भावना से तो कभी असंतोष या स्वयं को असहाय स्थिति में पाने से हो सकती है। कुछ व्यक्ति मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था से संतुष्ट होते हैं एवं उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं महसूस करते हैं। इसके विपरीत, कुछ व्यक्ति परिवर्तन की आवश्यकता को समझते हुए भी इस दिशा में सार्थक प्रयास नहीं कर पाते एवं स्वयं को असहाय महसूस करते हैं। इसके कारण कुछ भी हो, लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीति के प्रति उदासीनता एक महत्वपूर्ण समस्या है।

एनॉमी (anomie) से तात्पर्य व्यक्ति में जड़विहीनता की भावना (rootlessness), मूल्यों का ह्रास एवं दिशाहीनता की स्थिति है। सर्वप्रथम, एमील दुर्खाइम् (Emile Durkheim) ने सामाजिक विघटन की समस्या एवं व्यक्ति पर आंतरिक एवं बाह्य नियंत्रण के अभाव की स्थिति की पहचान कर उसे 'एनॉमी' की संज्ञा दी। तब से समाजशास्त्रियों में यह अवधारणा अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। 'एनॉमी' उदासीनता की ही तरह व्यक्ति में प्रभावहीनता की भावना को प्रोत्साहित करती है एवं राजनीतिक सहभागिता को अवरुद्ध करती है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को यह महसूस होता है कि अधिकारियों को उसकी परवाह नहीं है। परन्तु इससे अधिक गम्भीर निहितार्थ व्यक्ति के लक्ष्यों एवं मूल्यों का अवमूल्यन है। मेयो (Mayo) इसे समकालीन राजनीतिक घटनाक्रम के बड़े हिस्से के लिए उत्तरदायी मानते हैं। प्रतिक्रिया स्वरूप, इस प्रकार का व्यक्ति न सिर्फ राजनीति के प्रति उदासीन होता है बल्कि उसका राजनीतिक आचरण सामान्य से हटकर (deviant) होता है। ऐरिक फ्रॉम (Erich Fromm) का मानना है कि एनॉमिक व्यक्ति किसी न किसी सर्वाधिकारवादी आंदोलन के माध्यम से स्वयं को वैचारिक एवं सामाजिक स्तर पर समाज के साथ पुनःसम्बद्ध (reintegrate) करने का प्रयास करता है। 1930 के दशक के दौरान जर्मनी में कुछ इसी प्रकार का घटनाक्रम देखा गया। अमेरिका में साम्यवाद के प्रति आकर्षण स्थानीय समूहों की अपेक्षा प्रवासी समूहों में अधिक पाया गया है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'उदासीनता' एवं 'एनॉमी' लोकतंत्र के लिए किस हद तक रोगात्मक (pathological) कहे जा सकते हैं? यद्यपि एनॉमिक व्यवहार, जिसमें हिंसा एवं भ्रष्टाचार का अंश होता है, किसी भी स्थापित व्यवस्था के लिए हानिकारक हो सकता है, कुछ विशेषज्ञ उदासीनता' को लोकतंत्र के लिए क्रियात्मक (functional) मानते हैं।

12.5 राजनीतिक सहभागिता के आधार

राबर्ट लेन (Robert E. Lane) के अनुसार राजनीतिक सहभागिता आयु, लिंग, शिक्षा एवं हैसियत (status) जैसे तत्वों का फलन (function) होती है, एवं प्रजाति (race) धर्म एवं राष्ट्रीयता जैसे तत्वों से यह जटिल रूप से सम्बद्ध है। एशिया एवं अफ्रीका के देशों में राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने में वर्ग एवं साम्प्रदायिक समूहों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कुछ समाजों में वर्ग एवं दलगत पहचान में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है, जबकि अन्य समाजों में यह एक दूसरे को आच्छादित (cut across) करते हैं। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अलग-अलग समाजों में राजनीतिक सहभागिता के आधार-समूह भिन्न-भिन्न होते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ सामान्य आधारों की पहचान की जा सकती है। हंटिंगटन एवं नेलसन ने राजनीतिक सहभागिता के सामान्य आधारों में निम्नलिखित की पहचान की है :

(a) **वर्ग** : (class) एक जैसी सामाजिक हैसियत, आय एवं व्यवसाय में शामिल व्यक्ति;

(b) **साम्प्रदायिक समूह** : (communal group) एक जैसी प्रजाति, धर्म, भाषा एवं जातीय समूह के व्यक्ति;

(c) **पड़ोसी वर्ग** : (neighbourhood) ऐसे व्यक्ति जो एक दूसरे के निकट रहते हों;

(d) **राजनीतिक दल** : ऐसे व्यक्ति जो एक ऐसे औपचारिक संगठन से जुड़े हों जो प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करने एवं बनाए रखने के लिए प्रयासरत हों; एवं

(e) **गुट** : (taction) व्यक्ति जो निरन्तर या गहन व्यक्तिगत परस्पर सम्बंधों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए हों।

लेन ने अमेरिका में राजनीतिक सहभागिता के विभिन्न स्वरूपों को समझाने के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्त्यों (variables) की पहचान करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इससे अन्य देशों में सहभागिता के विभिन्न स्वरूपों के अध्ययन के संभावित तरीकों के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले अनके कारकों को चार प्रमुख समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है-सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक एवं आर्थिक।

1. **सामाजिक कारक**—राजनीतिक सहभागिता स्वाभाविक क्रिया नहीं है, बल्कि राजनीतिक समाजीकरण का परिणाम है। शिक्षा, व्यवसाय, आय, लिंग, आयु, निवास-स्थान, गतिशीलता, धर्म, प्रजाति तथा सामूहिक प्रभाव ऐसे सामाजिक कारक हैं जो सहभागिता को प्रभावित करते हैं। अमेरिका सहित अनेक पश्चिमी देशों में किए गए अध्ययनों द्वारा इन कारकों के राजनीतिक सहभागिता पर प्रभाव की कुछ इस प्रकार की तस्वीर उभरी है :

   (a) **शिक्षा**—शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ-साथ राजनीतिक सहभागिता की मात्रा में भी वृद्धि होती है (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, फिनलैंड, मैक्सिको इत्यादि);

   (b) **नगरीय-ग्रामीण**—शहरी क्षेत्रों में रहने वालों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वालों में राजनीतिक सक्रियता कम होती है (अमेरिका, नॉर्वे, फिनलैंड, डेनमार्क, स्वीडन, ब्रिटेन इत्यादि);

   (c) **सामाजिक एकजुटता**—ऐसे लोगों की अपेक्षा जो संगठनों के सदस्य नहीं होते, श्रमिक संघों के सदस्य राजनीति में अधिक रुचि लेते हैं एवं मताधिकार का प्रयोग अधिक करते हैं (अमेरिका, ब्रिटेन, स्वीडन इत्यादि);

   (d) **निवास**—किसी स्थान पर व्यक्ति का निवास जितनी अधिक लम्बी अवधि के लिए होता है, राजनीतिक सहभागिता की उसकी मात्रा उतनी ही अधिक होती है (अमेरिका, फिनलैंड, ब्रिटेन इत्यादि);

   (e) **आयु**—आयु के साथ-साथ राजनीतिक सहभागिता बढ़ती है परन्तु 50-60 वर्ष की आयु के पश्चात इसमें कमी होने लगती है (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि);

   (f) **वैवाहिक स्थिति**—अविवाहित नागरिक सहभागिता की दृष्टि से सबसे उदासीन होते है; तथा सन्तान विहीन विवाहितों में सहभागिता की दर सबसे अधिक होती है (अमेरिका);

   (g) **लिंग**—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में राजनीतिक सहभागिता अधिक पाई जाती है, (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, मैक्सिको, जापान इत्यादि); तथा

   (h) **धर्म एवं प्रजाति**—नीग्रो (अश्वेत) श्वेतों की अपेक्षा, यहूदी कैथोलिक की अपेक्षा, एवं कैथोलिक प्रोटेस्टेंट की अपेक्षा राजनीति में अधिक सक्रिय होते हैं, (अमेरिका, फ्रांस, बेल्जियम इत्यादि)।

2. **मनोवैज्ञानिक कारक**—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अकेले न रहना एवं अन्य मनुष्यों से सहयोग करने की भावना राजनीतिक सहभागिता की प्रेरक है। एक जिज्ञासु प्राणी होने के नाते मनुष्य राजनीतिक सहभागिता द्वारा राजनीतिक परिवेश को समझने का प्रयास करता है। सहभागिता अचेतन मनोवैज्ञानिक स्थितियों, जैसे कि मानसिक तनाव, से भी प्रेरित हो सकती है। राजनीतिक सहभागिता मानसिक तनाव को कम करने में सहायक हो सकती है।

3. **राजनीतिक कारक**-उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक कारक भी सहभागिता को

प्रमाणित करते हैं। यदि राजनीतिक संचार के माध्यम सीमित है अथवा यह अपनी भूमिका ठीक प्रकार से नहीं निभा पा रहे हैं, या सरकारी संस्थाएं जटिल व कठोर नियमों से बंधी हुई हैं तो राजनीतिक सहभागिता की सम्भावनाएं सीमित होंगी। उन्मुक्त दलीय गतिविधियां, राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, राजनीतिक जागरूकता, माध्यमों की उपलब्धिता इत्यादि भी राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करते हैं।

4. **आर्थिक कारक**—राजनीतिक सहभागिता को आर्थिक कारकों से भी सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। अपने आर्थिक हितों की रक्षा करना व्यक्ति को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित कर सकता है। अनेक विशेषज्ञ इस तर्क को अस्वीकार करते हैं एवं उनका मानना है कि सम्पन्न व्यक्तियों के सहभागिता के स्तर वैसे ही उच्च होते हैं।

12.6 राजनीतिक सहभागिता का महत्व

राजनीतिक सहभागिता के विस्तार एवं इसके बढ़ते हुए महत्व के कई कारण हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

(a) 19वीं शताब्दी के अंत तक राज्य के कार्यों का दायरा सीमित था। बीसवीं शताब्दी के दौरान इसमें अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आज प्रशासन ने न सिर्फ एक सहकारी सेवा संस्था का स्वरूप धारण कर लिया है, बल्कि वह सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का सबसे सशक्त माध्यम बन गया है। व्यक्ति एक बेहतर जीवन एवं अधिक स्वतंत्रता की अपेक्षा करता है।

(b) शिक्षा एवं जन संचार के माध्यमों (रेडियो, टेलिविजन, प्रेस इत्यादि) के प्रसार एवं सामान्य भाषाओं, विचारों, लक्ष्यों एवं आकांक्षाओं के विकास से 'राष्ट्रीय चेतना' एवं 'विश्व चेतना' के विकास को प्रोत्साहन मिला है। नवोदित राष्ट्रों के लोगों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रशासन में भागीदारी की अपेक्षा को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

(c) लोकतंत्र के इस युग में नागरिक अपने अधिकारों के प्रति चेतन हो गए हैं। राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग के साथ-साथ राजनीतिक दायित्वों के निर्वाह के लिए राजनीति में भागीदारी आवश्यक है।

(d) प्रशासन में भागीदारी राजनीतिक सहभागिता का महत्वपूर्ण अंश है। प्रशासनिक गतिविधियो के निरन्तर बढ़ते हुए दायरे को देखते हुए यह और भी आवश्यक हो गया है कि प्रशासन की नीतियों को व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हो। प्रशासनिक गतिविधियों, विशेषकर विकास-सम्बन्धी योजनाओं को यदि लोगों का समर्थन एवं सहयोग न मिले तो उनके सफल होने की सम्भावना सीमित हो जाती है।

12.7 सारांश

व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेने को राजनीतिक सहभागिता की संज्ञा दी जाती है। जन-सहमति पर आधारित प्रजातंत्रीय व्यवस्थाओं में सहभागिता स्वीकृति देने एवं वापस लेने का प्रमुख माध्यम है। यह प्रशासन को लोगों के प्रति उत्तरदायी बनाने का साधन भी है। सहभागिता से तात्पर्य प्रशासनिक निर्णयों एवं क्रिया-कलापों को प्रभावित करने के उद्देश्य से की गई गतिविधियों से है। राजनीतिक सहभागिता अंशत: प्रशासनिक गतिविधियों की मात्रा एवं विस्तार का फलन (function) प्रतीत होता है। कुछ विशेषज्ञों ने राजनीतिक सहभागिता को एक पूर्ववर्ती प्रक्रिया-राजनीतिक समाजीकरण का विस्तारण माना है। अनेक विशेषज्ञों ने 'राजनीतिक गतिविधि' एवं 'राजनीतिक मनोवृत्ति' के बीच फर्क करते हुए दोनों को स्वतंत्र परिवर्त्य (variable) माना है, परन्तु राजनीतिक मनोवृत्ति के राजनीतिक सहभागिता के अध्ययन के दायरे में शामिल किए जाने के प्रश्न पर सर्वसम्मति नहीं पाई जाती।

स्वरूपों की दृष्टि से सहभागिता के विस्तार में वृद्धि हुई है। अब चुनावों से सम्बद्ध गतिविधियों तक इसे सीमित न मानते हुए, चुनावों के मध्य प्रशासन को प्रभावित करने से सम्बन्धित सभी गतिविधियों को इसकी परिधि में शामिल कर अवधारणा को और व्यापक बनाया गया है। कई विशेषज्ञों ने 'पेशेवर' सहभागिता एवं 'गैर-व्यावसायिक' सहभागिता में सम्प्रत्ययात्मक आधार पर फर्क करते हुए सिर्फ 'गैर-व्यावसायिक' राजनीतिक सहभागिता को ही सही अर्थों में 'सहभागिता' माना है। 'व्यावसायिक' या 'पेशेवर' सहभागिता को उन्होंने अपने अध्ययन के दायरे से बाहर रखा है।

लेस्टर मिलब्राथ ने मात्रात्मक आधार पर फर्क करते हुए राजनीतिक सहभागियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर राजनीतिक गतिविधियों के प्रतिमान पेश किए हैं—असिक्रीड़कीय (Gladiatorial), अनावर्ती (Transitional) एवं दर्शक (Spectator)। अमेरिका जैसे पुराने लोकतंत्र में इन वर्गों में क्रमशः 1-3%, 7-9% एवं 60% नागरिक सम्मिलित होते हैं, एवं शेष 30 प्रतिशत नागरिक राजनीतिक दृष्टि से 'उदासीन' हैं। सहभागिता के असामान्य स्वरूपों में प्रतिवाद सहभागिता—धरना, हड़ताल, दंगे, आगजनी एवं हत्या जैसे नागरिक हिंसा के तरीके पिछले कुछ दशकों से काफी महत्वपूर्ण हो गए हैं। प्रशासन को प्रभावित करने के प्रयासों के आगे बढ़ते हुए अनेक विशेषज्ञ अधिकारियों को पद से हटाने, राजनीति के नियमों में परिवर्तन एवं राजनीतिक व्यवस्था को बदलने के लिए की जाने वाली सभी गतिविधियों-वैधानिक एवं अवैधानिक—को भी राजनीतिक सहभागिता का रूप मानते हैं। संक्षेप में राजनीतिक सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करने के उद्देश्य से की गई सभी गतिविधियों को सहभागिता ही माना जाना चाहिए। हाल के वर्षों में समाज-शास्त्रियों ने सहभागिता के दो विशिष्ट स्वरूपों—'उदासीनता' एवं 'एनॉमी' (anomie), अर्थात निराशा की स्थिति के विश्लेषण में काफी रुचि दिखलाई है। उदासीनता का सम्बन्ध राजनीतिक प्रभावशीलता के अभाव से जोड़ते हुए अधिकांश विशेषज्ञ इसे लोकतंत्र के लिए एक समस्या मानते हैं। दुर्खाइम (E. Durkheim) ने व्यक्ति में जड़हीनता, मूल्यों के ह्रास एवं दिशा हीनता की भावना से उत्पन्न होने वाले व्यवहार को 'एनॉमी' की संज्ञा दी थी। इसे भी प्रभावहीनता को प्रोत्साहित करने एवं सहभागिता को बाधित करने की भूमिका प्रदान की गई है। समकालीन राजनीतिक समस्याओं के अच्छे खासे हिस्से के लिए इसे उत्तरदायी माना गया है क्योंकि इस भावना से ग्रस्त व्यक्ति का राजनीतिक आचरण असामान्य (deviant) होता है। यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि 'उदासीनता' एवं 'एनॉमी' किस हद तक लोकतंत्र के लिए रोगात्मक (pathological) हैं?

राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों में आयु, लिंग, शिक्षा, हैसियत, प्रजाति, धर्म, राष्ट्रीयता, निवास स्थान एवं सामाजिक एकजुटता जैसे सामाजिक कारकों के साथ-साथ कुछ मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारक भी महत्वपूर्ण हैं। राजनीतिक सहभागिता के बढ़ते हुए महत्व के पीछे राज्य के कार्यों का बढ़ता हुआ दायरा, लोकतंत्र का प्रसार, शिक्षा एवं जन संचार के माध्यमों में अभूतपूर्व वृद्धि, अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती हुई जन चेतना एवं प्रशासनिक योजनाओं के सफल क्रियान्वयन के लिए जन समर्थन एवं सहयोग की आवश्यकता जैसे परिवर्तन हैं।

12.8 शब्दावली

उदासीनता— राजनीतिक प्रक्रिया में अरुचि, उसके प्रति भावशून्यता या स्वयं को उससे अलग रखने की प्रवृत्ति।

एनॉमी*— जीवन की परिस्थितियों में द्रुत एवं अभिघातज (traumatic) परिवर्तनों से होने वाले मूल्यों के क्षरण एवं जीवन के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के ह्रास से उत्पन्न होने वाली मनोदशा।

राजनीतिक समाजीकरण—विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तरीकों द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी एवं एक शासन व्यवस्था से दूसरे को राजनीतिक मान्यताओं एवं व्यवहार के तरीकों के सम्प्रेषण की प्रक्रिया।

* प्रतिमान हीनता या आदर्श शून्यता

सहभागिता—प्रशासनिक निर्णयों एवं क्रियाओं को प्रभावित करने के उद्देश्य से व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेना।

12.9 उपयोगी पुस्तकें :

धर्मवीर, राजनीतिक समाजशास्त्र, 2001, जयपुर

पुखराज जैन एवं बी० एल० फाड़िया, राजनीतिक समाजशास्त्र, 2002, आगरा

परमात्मा शरण, "थ्योरी आफ कम्पेरिटिव पॉलीटिक्स", 1984, नई दिल्ली

एन० एच० नीये एवं एस० वर्बा, "पोलिटिकल पार्टिसिपेशन", 1975

एल० मिलब्राथ, "पोलिटिकल पार्टिसिपेशन", 1965, शिकागो

एच० मैक्लॉस्की, "पोलिटिकल पार्टिसिपेशन" इन इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, डेविड सिल्स (सम्पादित) Vol. 12

12.10 संबंधित प्रश्न

(अ) लघुउत्तरीय प्रश्न

1. 'राजनीतिक सहभागिता' की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
2. 'व्यावसायिक' सहभागिता एवं 'गैर-व्यावसायिक' सहभागिता के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. राजनीतिक सहभागिता की प्रमुख क्रियाओं पर टिप्पणी लिखिए।
4. 'उदासीनता' एवं 'एनॉमी' का लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की दृष्टि से क्या महत्व है?
5. राजनीतिक सहभागिता के प्रमुख कारकों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

(ब) दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. 'राजनीतिक सहभागिता लोकतंत्र की अपरिहार्य परिस्थिति है', व्याख्या कीजिए।
2. राजनीतिक सहभागिता का अर्थ स्पष्ट कीजिए। सहभागिता के प्रमुख स्वरूपों एवं इन्हें प्रभावित करने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) "नान वोटिंग" के लेखक हैं :

a. नीये एवं वर्बा b. हंटिंगटन एवं नेलसन

c. मैथ्यूज एवं प्रोथो d. मेरिएम एवं गॉसनेल

(2) निम्नलिखित में कौन सहभागिता का स्वरूप नहीं है :

a. प्रचार b. मतदान

c. प्रतियोगी परीक्षा में सम्मिलित होना

d. दबाव-समूह का सक्रिय सदस्य होना

(3) पेशेवर क्रांतिकारियों की गतिविधियों को सहभागिता की किस श्रेणी में रखा जा सकता है :

a. अन्तर्वर्ती b. असिक्रीड़कीय

c. दर्शक d. इनमें से कोई नहीं

(4) अमेरिका में निम्नलिखित में राजनीतिक सहभागिता की दृष्टि से सबसे सक्रिय समूह कौन सा है :

a. यहूदी b. अश्वेत

c. कैथोलिक d. प्रोटेस्टेंट

12.11 प्रश्नोत्तर

1. d
2. c
3. d
4. b

खण्ड

5

राजनीतिक संस्थायें तथा संरचनायें

इकाई 13

राजनीतिक दल 5

इकाई 14

दबाव-समूह 18

इकाई 15

प्रतिनिधित्व के सिद्धांत 25

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-03 :– *तुलनात्मक राजनीति*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः डॉ. सतीश कुमार, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 3 इकाई

खण्ड दोः डॉ. मानुका खन्ना, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीनः डॉ. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चारः डॉ. राजीव सरन, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड पाँचः प्रो. सी.बी. सिंह, (अ.प्रा.) राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 5 का परिचय : राजनीतिक संस्थायें तथा संरचनायें

जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में संप्रभुता, अर्थात् शासन की सर्वोच्च सत्ता, जनता में निहित होती है। सामान्यतः जनतांत्रिक देशों में जनता अपनी इस शक्ति का प्रयोग अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है जिन्हें एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा चुना जाता है। एक स्वस्थ तथा उत्तरदायी सरकार के निर्माण के लिये यह अति आवश्यक है कि चुनाव की ऐसी प्रणाली को अपनाया जाए जिससे समाज के सभी वर्गों को समान भागीदारी और समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके। इस समस्या के निराकरण के लिये निर्वाचन की विभिन्न पद्धतियों का प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विभिन्न देशों ने अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार अपनाया है।

प्रतिनिधात्मक शासन अनिवार्य रूप से दलीय शासन होता है। इस शासनतंत्र में जनता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव दलीय आधार पर करती है। सच तो यह है कि वर्तमान परिदृश्य में राजनीतिक दलों के बिना चुनाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। राजनीतिक दल सरकार बनाने, चलाने और उसे बदलने का मूल साधन होते हैं। इनका गठन कुछ निश्चित सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है और इनका अंतिम लक्ष्य राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करके अपनी वैचारिकी के अनुसार देश का शासन चलाना होता है। विभिन्न देशों में वहाँ की राजनीतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के दलों का निर्माण और अनेक प्रकार की दल-प्रणालियों का विकास हुआ है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि समाज में विभिन्न वर्गों के विविध और विभिन्न हित होते हैं। यह हित परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। उदाहरणतः श्रमिक और पूँजीपति के हितों के बीच टकराव होता है। फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और समूह अपने हितों को सुरक्षित और विकसित करने के लिये अलग-अलग संगठनों का निर्माण करते हैं। इन संगठनों अथवा समूहों का मुख्य कार्य सरकार पर इस उद्देश्य से दबाव डालना होता है कि सरकार उनके हितों को पूर्ण कर सके और वह कोई ऐसी नीति न बनाए जो उस समूह विशेष के हितों के प्रतिकूल हो। जनतंत्र में पाए जाने वाले यह दबाव समूह स्वयं चुनाव तो नहीं लड़ते किन्तु राजनीतिक दलों की समस्त गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और सामान्यतया उनके सहायक उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। कुछ विशेष अर्थों में इन्हें लघु-राजनीतिक दल कहा जा सकता है।

प्रस्तुत खण्ड में जनतंत्रीय व्यवस्था के इन्हीं तीन स्तम्भों राजनीतिक दल, दबाव समूह और प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियों का विवेचन किया जाएगा। विशेष रूप से राजनीतिक दलों और दबाव समूहों की परिभाषा उनके संगठन का स्वरूप उनके कार्य, शासन व्यवस्था में उनकी भूमिका, विभिन्न प्रकार की दल-प्रणालियाँ, उनके गुण-दोष, दबाव समूह तथा राजनीतिक दलों के बीच अन्तर तथा प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांतों पर प्रकाश डाला जाएगा।

इस खण्ड में उल्लिखित विषयों के अध्ययन से जनतंत्रीय शासन के निर्माण में सहायक उपकरणों की प्रकृति और उनके कार्य को समझने में सहायता मिलेगी।

इकाई-13 राजनीतिक दल

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 राजनीतिक दल की परिभाषा

13.3 राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व

13.4 जनतंत्र में राजनीतिक दलों का महत्व

13.5 जनतंत्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों के कार्य

13.6 दल-पद्धति के गुण-दोष

13.7 दल-पद्धति के प्रकार

13.8 सारांश

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

13.10 संबंधित प्रश्न

13.11 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

आधुनिक जनतन्त्र में लोकमत के निर्माण एवं विकास में राजनीति दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिक दलों के प्रचार के कारण ही नागरिकों का ध्यान छोटे-छोटे, पाास्परिक एवं व्यक्तिगत मतभेदों से हटकर राष्ट्रीय महत्व की समस्याओं की ओर आकृष्ट होता है। जब राष्ट्रीय समस्याओं के पक्ष और विपक्ष की उक्तियाँ निरन्तर उनके कानों में पड़ती हैं तब वे उनके विषय में अपनी सम्मति निश्चित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जो वाद-विवाद और विचार-विनिमय के पश्चात लोकमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होता हैं।

13.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल जनतंत्र तथा उत्तरदायी शासन के अभिन्न अंग एवं वर्तमान राजनीति की प्रेरक शक्ति है। राजनीतिक दलों के अभाव में जनतन्त्रीय शासन निष्प्राण हो जाता है। जनतन्त्रीय प्रणाली में शासन का संचालन राजनीतिक दलों के द्वारा होता है। इसीलिए राजनीतिक दलों को जनतन्त्र का प्राण कहा जाता है। राजनीतिक दल जनतन्त्र रूपी मशीन के सफल संचालन में ईंधन का काम करते हैं।

13.2 राजनीतिक दल की परिभाषा

सामान्य बोलचाल की भाषा में व्यक्तियों के किसी समूह को, जो एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं, दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक होता है तो उसे राजनीतिक दल कहते हैं। विद्वानों ने राजनीतिक दल की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है।

1. **एडमंड बर्क** का कहना है, "**राजनीतिक दल उन मनुष्यों का एक समूह है, जो कुछ सिद्धान्तों के आधार पर, जिनसे वे सहमत हैं, अपने संयुक्त प्रयासों से राष्ट्रीय हित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहते हैं।**" इसमें बर्क ने तीन आवश्यक तत्व बतायें हैं- (1) राष्ट्रीय हित, (2) सिद्धान्त और (3) संगठन।

2. मैक्स वेबर के अनुसार, "राजनीतिक दल स्वेच्छा से बनाया हुआ संगठन है, जो शासन-शक्ति अपने हाथ में लेना चाहता है और इसे हस्तगत करने के लिए वह प्रचार और आन्दोलन का सहारा लेता है। शासन शक्ति अपने हाथ में लेने के पीछे एक उद्देश्य हो सकता है, जो या तो वस्तुनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हो या व्यक्तिगत स्वार्थ हो अथवा दोनों हों।"

3. **मैकाइवर** के शब्दों में, "राजनीतिक दल वह समुदाय है, जिसका संगठन किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए हुआ हो तथा जो संवैधानिक उपायों का सहारा लेकर इस सिद्धान्त या नीति को सरकार का आधार बनाने का प्रयास करता हो।"

4. **लीकॉक**, "राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं, जो मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनमें विचार एक जैसे होते हैं और वे एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सत्ता पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।"

5. **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "राजनीतिक दल व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं, जिसके सदस्यों के विचार समान होते हैं और वे एक राजनीतिक-इकाई की तरह काम कर सरकार को नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं।"

6. **गेटेल** के अनुसार, "राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है, जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को नियंत्रित करना तथा सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहते हैं।"

वास्तव में राजनीतिक दल किसी राज्य में रहने वाले नागरिकों के उस संगठित समूह का नाम है जिसका अन्तिम लक्ष्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना हो और जो उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए शान्तिमय तथा वैध साधनों को ही काम में लाता हो।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक दल का अभिप्राय नागरिकों के ऐसे समूह से है, जो सार्वजनिक प्रश्नों पर समान विचार रखते हैं और जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी परिकल्पित नीति को संचलित करने के लिए सत्तारूढ़ होना चाहते हैं।

13.3 राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजनीतिक दल के निम्नलिखित आवश्यक तत्व होते हैं–

1. आधार भूत सिद्धान्तों में मतैक्यता

प्रत्येक राजनीतिक दल कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित होता है। दल के सदस्यों में मूल सिद्धान्तों पर मतैक्य होना चाहिये। सैद्धान्तिक एकता के अभाव में उनमें परस्पर सहयोग नहीं हो सकता।

2. संगठन

समान विचार वाले व्यक्तियों को संगठित होना चाहिये। संगठन के अभाव में राजनीतिक दल एक भीड़ मात्र है। संगठन शक्ति का प्रतीक है। संगठन का अभिप्राय नियम, उपनियम, अनुशासन, पदाधिकारी आदि हैं।

3. वैधानिक एवं संवैधानिक उपायों का प्रयोग

राजनीतिक दलों को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सदैव वैधानिक उपायों का अवलंबन करना चाहिये उन्हें मतदान-पत्र को सरकार निर्माण का साधन बनाना चाहिये।

4. राष्ट्रीय हित की वृद्धि

राजनीतिक दलों का उद्देश्य हित होना चाहिए।

13.4 जनतंत्र में राजनीतिक दलों का महत्व

राजनीतिक दल जनतन्त्र की आधारशिला है। बेजहॉट के अनुसार, "दलगत शासन उत्तरदायी शासन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।" मैकाइवर के अनुसार, "दल-प्रथा के बिना राज्य में नमनीयता तथा वास्तविक आत्मनिर्णय सम्भव नहीं है।" वस्तुतः राजनीतिक दल उत्तरदायी शासन के अविभाज्य अंग हैं। राजनीतिक दलों के बिना जनतन्त्र की कल्पना नहीं हो सकती। जहाँ राजनीतिक दलों को काम करने की स्वतंत्रता नहीं है तथा जहाँ एक ही राजनीतिक दल होता है, वहाँ स्वतन्त्रता का अभाव होता है। राजनीतिक दलों को सरकार का चतुर्थ अंग बताया जाता है। अतः प्रतिनिधिमूलक जनतन्त्र की सफलता राजनीतिक दलों पर ही निर्भर करती है। राजनीतिक दलों की जन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में महत्वपूर्ण भूमिका है। फाइनर के अनुसार, "दलों के बिना मतदाता या तो नपुंसक हो जायेंगे या विनाशकारी, जो ऐसी असंभव नीतियों का अनुगमन करेंगे, जिनसे राजनीतिक यंत्र ध्वस्त हो जायेगा।" वस्तुतः यदि राजनीतिक दल संगठित न हो, तो प्रतिनिधिमूलक सरकार का चलना कठिन होगा। लीकॉक ने भी यही बताया है, "राजनीतिक दलों के अभाव में न तो सिद्धान्तों की संगठित अभिव्यक्ति हो सकती है और न नीतियों का उचित विकास ही और न नियंत्रित रूप से संसदीय चुनाव के वैधानिक उपायों अथवा मान्य संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता है, जिसके द्वारा राजनीतिज्ञ अपनी स्थिति बनाए रखने या प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।" संक्षेप में, राजनीतिक दल ही जनतंत्र को व्यावहारिक रूप देते हैं। लार्ड ब्राइस का कहना है, "दल अनिवार्य है। कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी व्यक्ति ने यह नहीं व्यक्त किया है कि प्रतिनिधिमूलक शासन दलों के बिना कैसे चल सकता है। वे मतदाताओं की अव्यवस्था में शांति और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। यदि दल बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं, तो वे बुराइयों को कुछ कम या दूर भी करते हैं।"

राजनीतिक दल जनतन्त्र में शिक्षा के साधन हैं। वे जनता को सार्वजनिक प्रश्नों एवं समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की शिक्षा देते हैं। वे जनमत का निर्माण, जनमत प्रदर्शन, विकास आदि विविध कार्य करते हैं। मतदान और निर्वाचन के समय वे राज्य के नागरिकों को राजनीतिक साहित्य प्रदान करते हैं, उनमें शासन के प्रति जागरूकता उत्पन्न करते हैं और उन्हें राजनीतिक कर्तव्यों का बोध कराते हैं। जनतन्त्रीय शासन के सफल संचालन में राजनीतिक दलों की निम्नलिखित भूमिका होती है।

1. राजनीतिक दलों द्वारा मतदाताओं को अधिक संख्या में अपने दल का सदस्य बनाना और मतदाताओं की सूची में उनका नाम लिखवाना जिससे वे आगामी चुनाव में मतदान कर सकें।
2. जिन-जिन पदों के लिए निर्वाचन होना है उनके लिए अपने दल में से योग्य अभ्यर्थी चुनना और मतदाताओं से उनका परिचय कराना।
3. समाचार पत्रों, पुस्तकों, व्याख्यानों, सभाओं तथा प्रदर्शन द्वारा जनता में अपने दल के सिद्धान्तों तथा कार्यक्रमों का प्रचार और अन्य दलों की रीति-नीति की आलोचना करके मतदाताओं में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करना।
4. चुनाव लड़ना, मतदाताओं से अपने अभ्यर्थियों के लिए मतदान की प्रार्थना करना और चुनाव के दिन मतदाताओं को चुनाव स्थल पर ले जाना।
5. उक्त सभी कार्य के लिए चन्दे या अन्य रीतियों से आवश्यक धन संचय करना।
6. चुनाव में बहुमत न मिलने पर अपनी सरकार बना कर शासन का संचालन करना।
7. चुनाव में बहुमत न मिलने पर विपक्ष में रहकर अन्य दल या दलों द्वारा बनायी गई सरकार के कार्यों की आलोचना करना।
8. सरकार को सुझाव देना।
9. सरकार को सदन में पराजित करने का प्रयास करना और उसमें सफलता मिलने पर नया मंत्रिमण्डल बनाना।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल और भी कई महत्वपूर्ण कार्या करते हैं।

13.5 जनतंत्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों के कार्य

जनतन्त्र में राजनीतिक दल निम्नलिखित कार्य सम्पादित करते हैं :-

1. जनता में नागरिक एवं राजनीतिक चेतना जागृत करना

विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दल समय-समय सार्वजनिक सभाओं में भाषण करते हैं तथा राजनीतिक विषयों से सम्बद्ध अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाएं निकालते हैं, जिन्हें जनता बड़े शौक से क्रमशः सुनती और पढ़ती है। निर्वाचन के अवसर पर प्रत्येक राजनीतिक दल जनता के बीच अपने विचार और कार्यक्रम रखता है और जनता को अपने पक्ष में लाने तथा शासन-सम्बन्धी विषयों में भाग लेने के लिए उत्साहित करता है। राजनीतिक दलों के विभिन्न प्रकार से भाषण सुनने तथा पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने से जनता में नागरिक एवं राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है। वह प्रत्येक दल के विचारों तथा कार्यक्रमों का गहन अध्ययन कर निष्कर्ष-विशेष पर पहुँचती है। इस प्रकार, प्रत्येक राजनीतिक दल जनता की उदासीनता मिटाकर, उसमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर उसे देश की समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

2. जनता को राज्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से अवगत कराना

सामान्य जनता सफलतापूर्वक अपने राज्य की जटिल आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ स्पष्ट रूप से समझने में प्रायः असमर्थ होती है। उसकी इस स्थिति के कारण उसके सीमित साधन, उसके अल्पज्ञान तथा उसकी अभिरूचि की कमी है। इस प्रकार, उपर्युक्त समस्याएँ जनता के सामने प्रायः अस्पष्ट रहती हैं। राजनीतिक दल व्याख्यान द्वारा तथा पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का प्रकाशन कर विशेष प्रकार की जटिल समस्याओं को जनता के बीच स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। अतः राष्ट्र की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं से जनता को अवगत कराकर राजनीतिक दल जनमत का निर्माण करते हैं।

3. सरकार पर जनमत के अनुसार कार्य करने के लिए दबाव डालना

जनतन्त्र में सत्तारूढ़ पार्टी को सर्वदा इस बात का भय बना रहता है कि यदि शासन-संचालन जनमत की इच्छा के प्रतिकूल होगा तो विरोधी दल जनता को उसके विरूद्ध उभारेंगे, उसकी नीति एवं कार्यों की आलोचना करेंगे तथा उसके विरूद्ध जनता में अविश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार, राजनीतिक दलों के कारण ही सरकार शासन का संचालन जनमत के अनुसार करती है। वस्तुतः यदि सरकार के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव सदन में बहुमत से पारित हो जाय तो, उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ता है तथा विरोधी दल का मंत्रिमण्डल निर्मित होता है। अतः जनमत के अनुसार शासन करने के लिए सत्तारूढ़ दल को विवश करने का बहुत-कुछ श्रेय राजनीतिक दलों को ही है।

4. अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों की पूर्ति हेतु शासन तन्त्र पर अधिकार करने का प्रयत्न करना

प्रत्येक राजनीतिक दल अपने अभ्यर्थी निर्वाचन के लिए खड़ा करता है। निर्वाचन में खड़े होने वाले प्रत्याशी सामान्यतया अयोग्य नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक दल बड़ी सावधानी से सोच-विचार कर उन्हें खड़ा करता है। चुनाव के समय सभी दलों द्वारा अपने अधिकतम अभ्यर्थी खड़ा करने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि उनके निर्वाचित होने पर शासनकार्य में उसका बहुमत रहे। अतः प्रत्येक दल मतदाताओं को अपनी ओर आकृष्ट कर विधायिका पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है। इसके अनंतर प्रत्येक दल निर्वाचन के अवसर पर की गई प्रतिज्ञाओं को अगला चुनाव लड़ने के उद्देश्य से पूरा करने का प्रयत्न करता है।

5. कार्यपालिका तथा विधायिका में सामंजस्य स्थापित करना

राजनीतिक दलों के कारण ही संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यापालिका तथा विधायिका में संघर्ष न होकर मेल स्थापित रहता है। संसदीय शासन-पद्धति के अन्तर्गत विधायिका में

बहुमत दल की कार्यपालिका होने के कारण दोनो में मेल रहना तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि उसके सभी सदस्य अपने दल की नीतियों, कार्यक्रमों तथा अनुशासन में बँधे होते हैं। इसके अतिरिक्त, अध्यक्षात्मक शासन पद्धति में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त लागू होने के कारण यद्यपि गत्यावरोध की अधिक सम्भावना रहती है, तथापि दलीय पद्धति के विद्यमान रहने से राजनीतिक दल कार्यपालिका और विधायिका के बीच मेल स्थापित करते है।

6. नीति विशेष की पूर्ति के लिए जनप्रतिनिधियों में एकता एवं संगठन की भावना पैदा करना

राजनीतिक दलों के होने से ही सदन में सदस्यों के बीच एकता तथा संगठन स्थापित रहता है। प्रत्येक राजनीतिक दल के अभ्यर्थी अपने दल की नीति एवं कार्यक्रम-निर्वाचन के अवसर पर जनता के बीच रखते हैं और निर्वाचित हो जाने की अवस्था में उसे पूरा करने का आश्वासन एवं वचन देते हैं। इस कारण पार्टी के प्रत्येक सदस्य को अपने दल की नीति कार्यान्वित करने के उद्देश्य से परस्पर अनुशासित एवं संगठित रहना पड़ता है। इसके विधायिका में दल के सचेतक भी रहते हैं, जो समय-समय पर सदस्यों को अपने दल की नीति के समर्थन के लिए सचेत करते रहते हैं। राजनीतिक दल अपने सदस्यों पर विधायिका में विशेष नियंत्रण रखते हैं। मतदान के अवसर पर एक निश्चिन ढंग से मत देने के उद्देश्य से सचेतक अपने दल के सदस्यों को दल की नीति के अनुसार मत देने के लिए निर्देशित करते है। अपने दल की नीति के विरूद्ध कार्य करने वाले सदस्यों के विरूद्ध प्रत्येक राजनीतिक दल कार्यवाही करता है। इस प्रकार, राजनीतिक दल विधायिका में अपने सदस्यों के बीच संगठन, एकता एवं अनुशासन स्थापित करता है।

7. निर्वाचकों और जन प्रतिनिधियों में सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करना

राजनीतिक दलों के सांसद या विधायक (जन प्रतिनिधि) शासन-नीति को यथासम्भव सर्वप्रिय बनाने तथा जनता और सरकार के बीच सम्बन्ध बनाये रखने के उद्देश्य से समय-समय पर जनता के बीच जाते है और उनकी शिकायतें सरकार के समक्ष व्यक्त कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

8. सुधार सम्बन्धी कार्यों में भाग लेना

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त राजनीतिक दल समय-समय पर देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में भी हाथ बँटाते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में सामाजिक सुधार के लिए हरिजनोद्धार, अमीर-गरीब तथा जाति-पाँति की कुत्सित भावनाएँ मिटाने आदि सम्बन्धी कार्य। सांस्कृतिक उन्नति के लिए राजनीतिक दल पुस्तकालयों तथा अन्य प्रकार के अध्ययन-केन्द्रों का भी निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भूदान, जमींदारी-उन्मूलन और कुटीर-उद्योगों की उन्नति-सम्बन्धी आर्थिक सुधार में भी भाग लिया है। दूसरे, राजनीतिक दल भी आर्थिक सुधार का काम करते हैं।

13.6 दल-पद्धति के गुण-दोष

प्रायः संसार की प्रत्येक वस्तु में गुण-दोष दोनों पाए जाते हैं। राजनीतिक दलबंदी तथा दल-पद्धति भी इस तथ्य से रहित नहीं है। जहाँ एक ओर कुछ विद्वानों ने दल-पद्धति के गुणों पर ध्यान दिया है और इसे लोकतांत्रिक तथा संसदीय शासन के सफल संचालन के लिए एक अनिवार्य अंग बताया है वहाँ दूसरी ओर कुछ विचारकों ने इसे अनावश्यक बताकर इसकी निंदा तथा भर्त्सना भी की है। इस प्रकार, दल-पद्धति की प्रशंसा तथा निन्दा कर उसे क्रमशः हितकर तथा हानिकर दोनों बताया गया है।

लीकॉक ने लोकतांत्रिक शासन को व्यावहारिक रूप देने के दल-पद्धति को अनिवार्य बताया है। उनका कथन है कि सुव्यवस्थित राजनीतिक दलों के अस्तित्व के बिना संसदीय शासन पद्धति को क्रियान्वित करना असंभव होगा।

मैकाइवर का भी कहना है, "राजनीतिक दलों के बिना न सिद्धांत का एक रूप वर्णन हो सकता है न नीति में यथाक्रम विकास हो सकता है, न संसदीय निर्वाचनों के सांविधानिक उपायों का अवलंबन

हो सकता है और न वस्तुतः कोई स्वीकृत संस्था हो सकती है, जिसके द्वारा कोई दल शक्ति प्राप्त करता अथवा उसे कायम रखता है।" किंतु कुछ विद्वान दल-पद्धति का खंडन भी करते हैं। नीचे दल-पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है।

दल पद्धति के गुण

1. राजनीतिक दलों के कारण जनता में जागृति आती है

लोकतंत्रीय शासन को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए राजनीतिक दल आवश्यक हैं। जनता की निद्रा भंग करने का प्रमुख श्रेय राजनीतिक दलों को ही दिया जा सकता है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने व्याख्यानों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन द्वारा जनता को राजनीतिक भोजन प्रदान करते हैं। उसमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं। उसे जटिल राष्ट्रीय समस्याओं से अवगत कराकर उस पर विचार करने के लिए उत्साहित करते हैं तथा उसे शासन-सम्बंधी कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हैं। उनके व्याख्यानों तथा प्रकाशनों को क्रमशः ध्यानपूर्वक सुनकर एवं पढ़कर जनता अपनी उदासीनता एवं अन्यमनस्कता को तिलांजलि देकर सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय कार्यों की ओर क्रियाशील होकर अभिरुचि दिखाने लगती है। वह विभिन्न राजनीतिक दलों की उक्तियों का विवेकपूर्ण अध्ययन एवं मनन कर एक निष्कर्ष पर पहुँचती है। इस प्रकार उसमें विचार करने की शक्ति उत्पन्न होती है। जनता निर्वाचन के पूर्व ही इस बात को समझने में समर्थ हो जाती है कि मतदान किस दल के पक्ष में करना उचित है।

2. राजनीतिक दल सामान्य निर्वाचन के समय बड़ी-बड़ी समस्याओं के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट करते हैं

लॉवेल का कथन है कि राजनीतिक दल विचार-प्रचार के कार्य करते हैं। राजनीतिक दलों की विद्यमानता के बिना निर्वाचन की आधारभूत नीति के निर्माणकर्ता का अभाव रहेगा, जिसके फलस्वरूप निर्वाचन की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकती। राजनीतिक दल व्यक्तियों को राजनीति में हाँथ बँटाने के लिए प्रेरणा देते हैं और उनमें निर्वाचन-केन्द्र पर आने की चेतना उत्पन्न करते हैं। राजनीतिक दल विभिन्न जटिल एवं अस्पष्ट आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ जनता के समक्ष प्रस्तुत कर उसे सफलतापूर्वक स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दलों के अभाव में सामान्य जनता जटिल, अस्पष्ट तथा पेचीदा समस्याएँ समझ सकने में सर्वथा असमर्थ रहती है। परंतु, उनकी विद्यमानता के कारण वह उन्हें आसानी से समझ सकती है और एक विशेष निष्कर्ष पर पहुँचती है। राजनीतिक दल जनता को देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं से अवगत कराते हैं और उसके सहारे लोकमत का निर्माण कर निर्वाचन में जनता की सहभागिता सुनिश्चित करते हैं।

3. राजनीतिक दलों के होने से सरकार का कार्य संचालन जनमत के अनुसार होने की अधिक संभावना रहती है

राजनीतिक दलों की विद्यमानता के कारण सत्तापक्ष निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन नहीं कर सकता, उसे जनता की इच्छा के अनुकूल शासन के लिए बाध्य होना पड़ता है। राजनीतिक दलों के अभाव में जनमत के प्रतिकूल शासन होने की अधिक संभावना रहती है। दलीय पद्धति के होने से सत्तारूढ़ दल को सर्वदा यह भय बना रहता है कि लोकेच्छा के प्रतिकूल शासन होने से विरोधी दल उसके विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कराकर उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है और वैकल्पिक मंत्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है। अतः राजनीतिक दलों के कारण शासकदल की तानाशाही नहीं चल पाती। प्रो० लास्की के शब्दों में, "राजनीतिक दल देश में तानाशाही से हमारी रक्षा के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।"

4. राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों के बीच महत्वपूर्ण कड़ी का काम कर उनके बीच ताल-मेल एवं सामंजस्य स्थापित करते है

राजनीतिक दलों के कारण संसदीय तथा अध्यक्षात्मक दोनों प्रणालियों में विधायिका और कार्यपालिका के बीच तालमेल बना रहता है। संसदीय शासन के अंतर्गत तो इन दोनों के बीच अभिन्न सामंजस्य

रहना स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें कार्यपालिका का निर्माण उन व्यक्तियों से ही होता है, जिनका विधायिका में बहुमत होता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत भी जहाँ शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत लागू होना है, विधायिका तथा कार्यपालिका के बीच गत्यावरोध की बहुत कम सम्भावना रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जहाँ अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है, राजनीतिक दलों के कारण सामंजस्य स्थापित रहता है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि दलीय पद्धति सचमुच एक ऐसी पद्धति है जिसके कारण अमेरिका में अत्यधिक कठोरता का दोष कम हो गया है।

5. राजनीतिक दल सदन में अपने प्रतिनिधियों के बीच अनुशासनपूर्ण नियंत्रण का कार्य करते हैं

राजनीतिक दलों के निर्वाचित प्रतिनिधि प्रायः बहुत विचार-विमर्श के बाद ही निर्वाचन में खड़े किए जाते हैं। प्रत्येक दल के प्रतिनिधि दलीय अनुशासन में बँधे होते हैं। प्रत्येक दल अगले चुनाव में सफलता पाने के उद्देश्य से पूर्वनिर्वाचन में जनता के समक्ष की गई प्रतिज्ञा को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार शक्तिशाली शासन के निर्माण का प्रयत्न करता है।

6. राजनीतिक दल विधायिका के सदस्यों में शक्तिशाली शासन के निर्माण तथा एक निश्चित नीति के निर्माण के लिए संगठन निर्मित करते हैं

राजनीतिक दल सदन में अपने सदस्यों को एक निश्चित ढंग से किसी महत्वपूर्ण विषय पर मतदान के लिए प्रेरित करते हैं और इसके प्रतिकूल कार्य करने वाले सदस्यों के विरूद्ध आवश्यक कार्रवाई भी करते हैं। फलतः विधायिका के सदस्यों में संगठन तथा अनुशासन का जन्म होता है और वे एक निश्चित नीति के आधार पर कार्य करते हैं। इस प्रकार एक सुव्यवस्थित, सदृढ़ तथा अनुशासनपूर्ण राजनीतिक दल, जो निश्चित नीति के अनुसार कार्य करता है, स्थायी एवं शक्तिशाली शासन की स्थापना में सफलता प्राप्त करता है।

7. राजनीतिक दल देश की समस्याओं के समाधान के लिए विशेषज्ञों की समितियों की स्थापना करते हैं

राजनीतिक दल सदन में प्रस्तावित विविध प्रस्तावों एवं विधेयकों पर विचार-विमर्श तथा उनके समाधान के लिए अन्वेषण-संस्थाओं तथा विशेषज्ञों की समिति का निर्माण भी करते हैं। लार्ड ब्राईस का कहना है कि "राजनीतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को ठीक उसी प्रकार क्रियाशील बनाए रखते हैं, जिस प्रकार ज्वार-भाटा समुद्र के जल को ताजा रखता है।"

8. राजनीतिक दल देश के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार के कार्य भी संपादित करते हैं

भारत में कांग्रेस एक महत्वपूर्ण राजनीतिक दल रहा है, जिसने हरिजनोद्धार, अमीर-गरीब एवं जाति-पाँति की कुत्सित भावना मिटाने तथा स्त्री-शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। भूदान, कुटीर-उद्योग तथा जमींदारी-उन्मूलन के क्षेत्र में भी इस दल ने जोरदार भाग लिया है। इस प्रकार राजनीतिक दल अनेक प्रकार के सुधार-कार्यों में भी भाग लेते हैं। राजनीतिक दलों के गुणों के आधार पर मैकाइवर ने कहा है, "राजनीतिक दलों के बिना राज्य में न कोई लचीलापन होगा और न ही सच्चा आत्मनिश्चय।" जनतंत्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों के कार्य एवं महत्व का विवेचन-विश्लेषण हरमन फाइनर, ब्राइस, मुनरो, ह्यूवर आदि विद्वानों ने किया है।

दल-पद्धति के दोष

राजनीतिक दलों के उपर्युक्त गुणों पर ध्यान देने से पता चलता है कि राजनीतिक दल लोकतंत्रीय शासन के लिए बहुत ही आवश्यक हैं, किन्तु उचित संगठन के अभाव में यह हानिप्रद भी हो सकता है। इसलिए, कतिपय विद्वानों द्वारा राजनीतिक दलों की आलोचना भी की गई हैं। राजनीतिक दलों के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :-

1. राजनीतिक दलों के कारण समाज में नैतिक स्तर का पतन होता है

राजनीतिक दलों के कारण चुनाव के अवसर पर समाज में भ्रष्टाचार फैलता है। प्रत्येक दल के सदस्य अथवा उम्मीदवार नाना प्रकार की झूठी बातें व्यक्त कर दूसरे दल के उम्मीदवारों की आलोचना करते हैं। वे गलत तरीके से पैसा खर्च कर मत प्राप्त कर लेते हैं। चुनाव के समय कार्यकर्ताओं तथा निर्वाचकों को धन, शराब आदि द्वारा खुश किया जाता है। इन सभी बातों के फलस्वरूप समाज के नैतिक स्तर का पतन होता है।

2. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता है

राजनीतिक दलों से सच्चे लोकतंत्र पर आघात पहुँचता है; क्योंकि इसमें व्यक्तिगत विचारों की स्वतंत्रता का हनन होता है। दल द्वारा निश्चित की गई नीति को उस दल के सभी सदस्यों को व्यक्तिगत इच्छा के प्रतिकूल भी स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण किया जाता है। यदि कोई योग्य सदस्य भी अपने दल के प्रभाव का खंडन तथा विरोध करता है, तो उसे दल से बहिष्कृत होना पड़ता है। ऐसे योग्य व्यक्तियों की सेवा से जनता लाभ नहीं उठा पाती है। सदन में दल का सचेतक दल के प्रस्ताव के समर्थन के लिए सभी सदस्यों को बाध्य कर देता है। इस संबंध में गिलबर्ट का कथन युक्तिसंगत मालूम पड़ता है, "मैंने सर्वदा दल की पुकार पर मतदान किया और स्वयं अपने विषय में कभी कुछ भी नहीं सोचा।"

3. देशभक्ति की जगह दलभक्ति की भावना बढ़ती है

राजनीतिक दलबंदी सदस्यों को देशभक्ति से वंचित कर दलभक्ति के लिए प्रोत्साहित करती है। इसके परिणामस्वरूप, दल के सदस्य राष्ट्रहित की अपेक्षा दलहित पर अधिक जोर देते हैं। इससे राष्ट्रहित का महत्व गौण होता है।

4. देश दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है

राजनीतिक दलबंदी एवं प्रतिस्पर्धा के कारण देश दो परस्पर विरोधी गुटों में बँट जाता है, जिससे राष्ट्र को बड़ी क्षति होती है।

5. स्वार्थी नेताओं की गुटबन्दी

दलों के अंदर कुछ ऐसे स्वार्थी नेताओं का गुट बन जाता है, जो पूर्णरूप से दलशक्ति अपने हाथ में ले लेते हैं। इस प्रकार की गुटबंदी हो जाने से केवल वे ही सदस्य आगे बढ़ते हैं, जो हमेशा स्वार्थी नेताओं की झूठी बड़ाई, खुशामद तथा चापलूसी करते हैं। आंतरिक गुटबंदी के कारण दल का वातावरण विषाक्त हो जाता है। अतः योग्य व्यक्ति ऐसे दल के प्रति अपनी अभिरूचि नहीं दिखा पाते।

6. राजनीतिक दलों के कारण धार्मिक, जातीय तथा क्षेत्रीय दुर्भावना बढ़ती है

बहुत से दल जाति, धर्म, संप्रदाय एवं क्षेत्र के आधार पर निर्मित होते हैं। ऐसे दलों द्वारा सार्वजनिक स्थानों को प्रचार का अड्डा बिना लिया जाता है। इन दलों के दुष्प्रचार से जनता में घृणा का वातावरण बनता है और सांप्रदायिक एवं जातिगत विवाद का जन्म होता है। फलस्वरूप गृहयुद्ध की संभावना रहती है और देश तथा समाज की बहुत बड़ी क्षति होती है। राजनीतिक दलों के घृणास्पद प्रचार के कारण ही भारत का विभाजन हुआ था।

7. दलीय सदस्यों एवं उनके सम्बन्धियों को ही उच्च पदों पर नियुक्त करना तथा उन्हें ठेके आदि की सुविधा प्रदान करना

सत्तारूढ़ दल अपने सदस्यों तथा उनके संबंधियों को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त करते हैं चाहे वे अयोग्य ही क्यों न हों। वे उन्हें अनेक प्रकार के ठेके भी देते हैं। ऐसे धनी-मानी व्यक्तियों को ही अधिकार, उपाधियाँ तथा आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, जिनसे सहायता ली गई होती है या भविष्य में भी ली जाने वाली होती है।

8. दलगत प्रथा के कारण विधायिका-राजनीतिक संघर्ष का केन्द्र बन जाती है

दलीय पद्धति के अंतर्गत सदन में प्रायः प्रत्येक विषय पर सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों में मतभेद तथा द्वंद्व होता रहता है। अतः विपक्षी दल सरकारी प्रस्ताव पर विचारपूर्वक ध्यान न देकर उसके विरोध का प्रयत्न करते हैं। दलगत प्रथा में बहुमत दल की सरकार होती है। अतः सरकारी दल अल्पमत दल की बात पर ध्यान नहीं देता। कभी-कभी यदि सदन में सरकारी दल का विशेष बहुमत होता है तो उसकी तानाशाही भी स्थापित हो जाती है। संक्षेप में, इसका अर्थ यह है कि दलगत प्रथा के कारण देश को विरोधी दल के योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो पाती, क्योंकि बहुमत दल के व्यक्ति ही मंत्रिमण्डल में लिये जाते हैं।

9. राष्ट्रीय संकट के समय निर्बलता

राष्ट्रीय संकट की समस्या उत्पन्न हो जाने पर दलगत सरकार असंगत, ढुलमुल तथा दुर्बल हो जाती है।

उपर्युक्त दोषों के कारण कतिपय विद्वानों ने दलगत प्रथा को अनावश्यक बताकर उसे समाप्त कर देने की सलाह दी है। ऐलेक्जेंडर पोप का कहना है कि दल कतिपय मनुष्यों के पागलपन का ही अन्य नाम है। किन्तु लोकतंत्रीय शासन के लिए दल आवश्यक है। इसलिए, इसे समाप्त करने की अपेक्षा सुधार लाने का उपाय किया जाना ही श्रेयस्कर है। सिजविक (Sidgewick) ने दलीय प्रथा के दोष को दूर करने के लिए कुछ व्यावहारिक उपायों का उल्लेख किया है। उसके विचारानुसार, "अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति के अंतर्गत राष्ट्रपति का चुनाव विधायिका द्वारा किया जाना चाहिए तथा कार्यपालिका के अंतर्गत कर्मचारियों का पद दलबंदी के अनुसार नहीं होना चाहिए।" संसदीय शासन-पद्धति में कानून-निर्माण का दायित्व कार्यपालिका के अतिरिक्त विधायिका की अन्य समितियों को भी प्रदान किया जा सकता है। विशिष्ट ज्ञान तथा योग्यता आवश्यक होने वाले विभागों में अध्यक्षों की नियुक्ति दलीय आधार पर नहीं होनी चाहिए। विधायिका में मंत्रिमण्डल के प्रस्तावों का खंडन होने तथा उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित होने की अवस्था में ही सरकार को त्यागपत्र देना चाहिए। दलबंदी के दोष दूर करने के लिए सिजविक ने जननिर्णय का सीमित उपयोग भी आवश्यक बताया है।

दलबंदी का दोष दूर करने के लिए यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र की शक्ति और एकता के समक्ष निजी उद्देश्यों को राजनीतिक दल गौण स्थान दें। नेतृत्व का भार योग्य तथा विरोधी पक्ष की बात सुनने वाले व्यक्तियों को दिया जाना वांछनीय है और जनता में राजनीतिक चेतना का अधिकतम विकास परमावश्यक है।

13.7 दल-पद्धति के प्रकार

दल-पद्धति के निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं :

1. एकदलीय पद्धति

एकदलीय पद्धति में एक ही राजनीतिक दल रहता है। वहाँ एक ही दल के शासन की व्यवस्था रहती है और अन्य दल संविधान द्वारा प्रतिबन्धित होते हैं। वहाँ विरोधी दलों के संगठन की अनुमति नहीं रहती। उदाहरणार्थ, पूर्व सोवियत संघ, चीन, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड आदि में केवल एक ही राजनीतिक दल (साम्यवादी दल) पाया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले जर्मनी और इटली में भी केवल एक ही दल का शासन था। ऐसे राज्यों को जहाँ एक ही दल के शासन की व्यवस्था रहती है और विरोधी दल के अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता, उन्हें सर्वाधिकारवादी राज्य कहते हैं: इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण-दोष हैं :

गुण :

(i) एक दलीय पद्धति के अन्तर्गत सरकार स्थिर रहती है; कारण, दूसरे दल द्वारा उसके अपदस्थ किये जाने का भय नहीं रहता।

(ii) विरोधी दल के अधीन में सरकार के कार्यों की आलोचना नहीं होती। फलत सरकार दृढ़तापूर्वक अपने कार्यों का संचालन कर पाती हैं, लंबी योजनएं बना सकती हैं और एक शाक्तिशाली शासन का निर्माण कर सकती है। संक्षेप में लोकतंत्र के दोषों का नाश एकलीय पद्धति के अन्तर्गत हो जाता है।

(iii) युद्धकाल या अन्य संकट के समय एकदलीय शासन उपयोगी सिद्ध होता है।

दोष

(1) इस पद्धति के अंतर्गत तानाशाही की स्थापना होती है और केवल सतारूढ़ दल को ही जीवित रहने का अधिकार होता है। वैधारिक स्वतंत्रता का अन्त हो जाता है और वैकल्पिक सरकार का बनना असम्भव हो जाता है।

(2) इस पद्धति में विरोधी दल का अस्तित्व नहीं रहता। अतः सरकार के कार्यों की आलोचना नहीं हो पाती।

(3) इस पद्धति के अंतर्गत राज्य और समाज में कोई अंतर नहीं होता और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप का अधिकार रहता है। इस प्रकार, लोकतंत्र का नाश हो जाता है और अधिनायकतंत्र की स्थापना हो जाती है। प्रस्तूत एकदलीय व्यवस्था उन सभी लक्ष्यों का निषेध हैं, जिनके लिए जनसंघवाद खड़ा है।

2. द्विदलीय पद्धति

द्विदलीय पद्धति में दो प्रमुख राजनीतिक दल होते है जो समय-समय पर बहुमत प्राप्त कर सरकार का निर्माण करते हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत अन्य राजनीतिक दल भी होते है, परंतु प्रमुखता केवल दो दलों की होती है। इंग्लैंड में बहुत दिनों से द्विदलीय पद्धति चली आ रही है। वहीं दो ही प्रमुख दल है-अनुदार दल (कंजरवेटिव पार्टी) और मजदूर दल (लेबर पार्टी)। अन्य दल भीण और महत्वहीन हैं। द्विदलीय प्रणाली के गुण-दोष निम्नलिखित हैं :

गुण

(1) द्विदलीय पद्धति से सरकार में स्थिरता रहती है। एक दल सरकार का गठन करता हैं, दूसरा दल विरोधी दल के रूप में काम करता है। इससे सरकार अधिक स्थिर होती है और सशक्त विरोधी दल होने के कारण सरकार निरंकुश भी नही होने पाती।

(2) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत मंत्रिमण्डल का निर्माण भी सरलतापूर्वक होता है, क्योंकि एक दल, जिसका बहुतत होता हैं, मंत्रिमण्डल का निर्माण करता है और दूसरा दल विपक्ष में रहता है।

(3) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत प्रधानमंत्री की स्थिति सूदृढ़ रहती है। अपने दस के बहुमत के कारण वह देश का वास्तविक शासक बना रहता है।

(4) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत जनता प्रत्येक दल के कार्यक्रम से परिचित हो जाती है, क्योंकि दोनों दलों के कार्यक्रम परस्पर विरोधी तथा-स्पष्ट होते हैं। मंत्रिमंडल के स्थिर रहने से सरकार की नीति से दृढ़ता एवं सुचारूता आती हैं।

(5) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत विरोधी दल का संगठन अभावशाली होता है। विरोधी दल सदा-सरकार की रचनात्मक आलोचना करता है, क्योंकि सतारूढ़ दल के अपदस्थ होने पर उसे ही मंत्रिमण्डल का निर्माण करना पड़ता है।

दोष

(1) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत मंत्रिमण्डल के तानाशाह बनने की आशंका रहती है, क्योंकि विधायिका में मंत्रिमण्डल का बहुमत होता है।

(2) दलीय अनुशासन के कारण विधायिका की स्थिर कमजोर हो जाती है, क्योंकि वह मंत्रिमण्डल के हाथ का खिलौना बनी रहती है।

(3) द्विदलीय पद्धति के अंतर्गत निर्वाचकों को मतदान में अधिक स्वतंत्रता नहीं रहती, उन्हें दोनों में से किसी एक दल के पक्ष में मतदान करना पड़ता है।

3. बहुदलीय पद्धति

बहुदलीय पद्धति में अनेक राजनीतिक दल होते हैं जिनमें कई दल ऐसे होते हैं जिन्हें प्रायः बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता। अतः वे बिना अन्य दलों के सहयोग के अपना मंत्रिमण्डल नहीं बना सकते। ऐसी अवस्था में विभिन्न दल मिल कर संयुक्त मंत्रिमण्डल, (संविद सरकार) एवं गठबंधन सरकार बनाते हैं। भारत, फ्रांस और इटली बहुदलीय व्यवस्था के उदाहरण हैं। बहुदलीय व्यवस्था के निम्नलिखित गुण-दोष हैं :–

गुण

(1) बहुदलीय पद्धति में लोकमत विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है।

(2) इस व्यवस्था में निरंकुश बहुमत का भय नहीं रहता।

(3) विधायिका में अनेक दलों का प्रतिनिधित्व रहता है और किसी भी दल का निरंकुश बहुमत नहीं रहता। अतः विधायिका मंत्रिमण्डल के हाथ की कठपुतली नहीं बनती।

(4) इस व्यवस्था में निर्वाचकों को मतदान की पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है।

दोष

(1) इस पद्धति में संविद सरकार का निर्माण होता है, जो प्रायः निर्बल और अस्थिर होती है। उदाहरणार्थ, फ्रांस में 1870-1934 ई० के बीच अट्ठासी मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ था।

(2) सरकार की लंबी योजनाएं कार्यान्वित नहीं हो पाती, क्योंकि सरकार प्रायः अस्थिर होती है।

(3) शासन में एकरूपता तथा दृढ़ता का नितांत अभाव रहता है। विभिन्न दलों के सदस्य विभिन्न नीतियों का संचालन चाहते हैं। अतः मंत्रिमण्डल की स्थिति उस रथ के समान होती है, जिसके घोड़े, पृथक-पृथक दिशाओं में भागते हैं।

13.8 सारांश

राजनीतिक दल जनतंत्रीय व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं। उन्हें 'अदृश्य सरकार' तथा सरकार का चतुर्थ अंग भी कहा जाता है। जनतंत्रीय शासन जनस्वीकृति एवं बहुमत पर आधारित होता है। जनता एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचन के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों को चुनती है। जनतन्त्र में निर्वाचन आवश्यक है और निर्वाचन के लिए राजनीतिक दलों का होना अपरिहार्य है। राजनीतिक दल जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं के पालन हेतु निर्वाचन में भाग लेते हैं और बहुमत आने पर सत्तारूढ़ होकर कार्य करते हैं। अल्पमत में रहने पर सरकार की नीतियों एवं कार्यों की आलोचना करना, सरकार को आवश्यक एवं सकारात्मक सुझाव देना तथा सरकार को सदन में पराजित कर वैकल्पिक सरकार बनाने का निरंतर प्रयास करते रहना विरोध पक्ष का मुख्य कार्य होता है।

जनतन्त्र की जन्म भूमि होने के कारण ब्रिटेन राजनीतिक दलों की भी जन्मभूमि है। सर्वप्रथम वहीं राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ ह्विग और टोरी नाम से द्विदलीय व्यवस्था का विकास हुआ। कालांतर में ह्विग लिबरल पार्टी और टोरी कंजरवेटिव पार्टी के रूप में परिवर्तित हुई। बीसवीं शती में लिबरल पार्टी का स्थान लेबर पार्टी ने ले लिया। अतः ब्रिटेन में द्विदलीय पद्धति का विकास हुआ। आज भी वहाँ मुख्यतया दो ही दल हैं-कंजरवेटिव पार्टी और लेबर पार्टी। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी द्विदलीय व्यवस्था है। वहाँ रिपब्लिकन पार्टी और डिमोक्रेटिक पार्टी नामक दो मुख्य राजनीतिक दल हैं। सत्ता क्रमशः इन्हीं दलों के पास आती रहती है। भारत में बहुदलीय व्यवस्था है। यहाँ क्षेत्रीय दल, प्रान्तीय दल तथा कुछ राष्ट्रीय दल हैं। अधिनायक शाही एवं तानाशाही व्यवस्था में सामान्यतया एक ही राजनीतिक दल होता है। अन्य दल प्रतिबंधित होते हैं अथवा अस्तित्व हीन।

जनतन्त्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दल स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं। संविधान में राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं होता। अन्य संगठनों की भाँति राजनीतिक दलों को भी संविधान एवं कानून की सीमा में रहकर कार्य करना पड़ता है। प्रत्येक राजनीतिक दल का अपना संगठन, कार्यक्रम एवं संविधान होता है। निर्वाचन के समय उनका निर्वाचन घोषणा पत्र प्रकाशित होता है।

जनतन्त्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दल प्रहरी का कार्य करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य संवैधानिक साधनों के माध्यम से सत्ता प्राप्त करना और निर्वाचन में बहुमत प्राप्त कर उस पर बार-बार काबिज होने का प्रयास करना होता है। जनतंत्र प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष (प्रतिनिधि मूलक) दो प्रकार का होता है। अप्रत्यक्ष जनतन्त्र के दो प्रकार हैं-संसदात्मक और अध्यक्षात्मक। इन दोनों प्रणालियों के अपने गुण-दोष हैं। ब्रिटेन की भाँति भारत में भी संसदीय शासन प्रणाली है। यहाँ राजनीतिक दलों की भरमार है। अधिकांश राजनीतिक दल व्यक्ति परक हैं।

13.9 संन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Duverger, M.-Political Parties
2. Key V.O.- Politics, Parties and Pressure-Groups
3. Finer H.-Theory and Practice of Modern Government
4. Weiner, M.-Political Parties in India

13.10 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. दल-पद्धति के गुण बताइये?
2. दल-पद्धति के दोष बताइये?
3. राजनीतिक दलों की आय के साधन बताइये?
4. "राजनीतिक दल जनतंत्र के प्राण हैं।" समीक्षा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिये?
2. जनतन्त्रीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. राजनीतिक दलों के कार्य बताइये?
4. राजनीतिक दल और दबाव-समूह में अन्तर बताइये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ब्रिटेन में व्यवस्था है :-
   (अ) एक दलीय
   (ब) द्विदलीय
   (स) बहुदलीय
   (द) इनमें से कोई नहीं
2. अमेरिका में व्यवस्था है :-
   (अ) एक दलीय

(ब) द्विदलीय

(स) बहुदलीय

(द) इनमें से कोई नहीं

3. दलीय व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ, सर्वप्रथम :–

(अ) ब्रिटेन में

(ब) अमेरिका में

(स) फ्रांस में

(द) भारत में

4. लेबर पार्टी है :–

(अ) भारत में

(ब) फ्रांस में

(स) कनाडा में

(द) ब्रिटेन में

13.11 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1- ब

2- ब

3- अ

4- द

इकाई-14, दबाव-समूह

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषा

14.3 दबाव समूह की विशेषताएँ

14.4 दबाव समूह के प्रकार

14.5 सारांश

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

14.7 संबंधित प्रश्न

14.8 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

हित समूह वर्ग विशेष के हितों की रक्षा, उनकी सुख-सुविधाओं में वृद्धि आदि के लिए समय-समय पर सक्रिय होते हैं। स्थायी हित समूह किसी निश्चित माँग या उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनते हैं और उस की पूर्ति हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में दबाव-समूह की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसका अध्ययन बहुलवाद के दार्शनिक और निगमनात्मक सिद्धान्तों के संशोधित रूप में प्रारम्भ हुआ है। आधुनिक युग में फिग्गिज मेटलैंड, जी0डी0एच0 कोल तथा प्रो0 लॉस्की जैसे महान बहुलवादियों के अतिरिक्त डेविड ट्रूमैन, वी0ओ0 की जूनियर और अर्ल लैथम जैसे विश्लेषणात्मक बहुलवादियों के विचार अधिक महत्वपूर्ण बन गए हैं जिनका कहना है कि समाज विभिन्न समूहों का सुन्दर नमूना है और इन समूहों की आपस में अतः क्रिया चलती रहती है। ये समूह सरकार पर अपने-अपने दावे प्रस्तुत करते हैं और सरकार अपनी ओर से सामाजिक समूहों के हितों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती है।

आज दबाव-समूह और हित-समूह का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। कतिपय लेखकों ने इसे विविध अलंकारों से अलंकृत किया है। फाइनर ने इसे 'अनौपचारिक सरकार' कहा है। दबाव समूहों को 'अज्ञात साम्राज्य' (Anonymous Empire) भी कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक पद्धति में हित-समूह के माध्यम से ही माँग उत्पन्न होती है और माँग के अनुसार ही मूल्यों का वितरण होता है।

आजकल हित-समूह का महत्व इसलिए बढ़ गया है कि यह समाज एवं राजनीतिक पद्धति के बीच हितों का चयन करता है, जिससे राजनीतिक पद्धति में गतिशीलता बनी रहती है। आमंड एवं पावेल के शब्दों में, "हर समाज एवं राजनीतिक पद्धति में माँग प्रस्तुत करने की अपनी रीतियाँ होती हैं तथा हितों के निर्णायकों के समक्ष उन्हें विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। लोकतांत्रिक पद्धति में यह कार्य प्रायः हित-समूहों द्वारा किया जाता है और इसलिए तुलनात्मक राजनीति में हित-समूह का अध्ययन महत्वपूर्ण रहता है।"

14.1 प्रस्तावना

हित समूह अथवा दबाव समूह बढ़ती हुई जन आकांक्षा के प्रतीक हैं। दबाव समूहों का प्रादुर्भाव बीसवीं शती में अमेरिका में हुआ। जनतन्त्रीय व्यवस्था जन आकांक्षाओं पर आधारित होती है। समाज के विभिन्न वर्गों के अपने-अपने हित होते हैं। अतः अपने हितों की पूर्ति के लिए हित समूह सरकार पर दबाव डालकर नीति-निर्धारण, विधायन आदि को प्रभावित करते हैं।

14.2 दबाव-समूह : अर्थ एवं परिभाषा

हित-समूह के अर्थ एवं परिभाषा के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। सामान्यतः हित-समूह उस समूह को कहा जाता है, जो कुछ व्यक्तियों का समूह है और वे किसी विशेष लाभ के लिए आपस में बँधे हुए हैं, जिसकी उन्हें पूर्ण जानकारी भी है। परंतु अनेक समूह ऐसे निर्मित होते हैं, जो संगठन के अभाव के कारण अधिक दिनों तक नहीं चल पाते। ऐसे समूहों को हित-समूह नहीं कहा जा सकता। उन्हीं समूहों को हित-समूह कहा जात सकता है, जिनमें संगठन है, जिनमें विशेषज्ञ कार्यकर्ता होते हैं, जिनके सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्य स्पष्ट रूप से सुनिश्चित एवं वर्णित होते हैं तथा जो विभिन्न संस्थाओं के बीच रहकर अपना कार्य संपन्न करते हैं।

अनेक विद्वानों ने हित समूह को परिभाषित करने का प्रयास किया है। हिचनर एवं हार्बोल्ड के शब्दों में, "यह कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो मान्य एवं सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार के समक्ष कतिपय माँग रख कर सामान्य नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।" मैकाइबर ने दबाव-समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है-जब कई व्यक्ति किसी समाज और यथा स्थिति या लाभ की रक्षा करने, उसे बनाए रखने या उसे बढ़ाने के लिए एकत्र होते हैं, तब 'हित' शब्द न केवल उस संगठन के लिए प्रयोग होता है, जिसका निर्माण किया जाता है, बल्कि उस उद्देश्य के लिए होता है, जिसके लिए संगठन का निर्माण किया जाता है तथा जो संगठित व्यक्तियों के बीच संगठन का आधार है। ऐसा संगठन आर्थिक एवं राजनीतिक विशेषताएँ रखता है तथा संगठित होता है; क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य न केवल हितों की रक्षा करना है, बल्कि अपने प्रतिद्वंद्वियों का विरोध करना भी है।"

हेनरी ए० टर्नर ने दबाव-समूह की परिभाषा देते हुए लिखा है :-दबाव समूह राजनीतिक दलों से अलग संगठन होते हैं, जो सार्वजनिक नीति के किसी पहलू को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे अपेन-आप न तो दल के कार्यक्रम तैयार करते हैं और न ही सार्वजनिक पदों के लिए उम्मीदवार खड़ा करते हैं, फिर भी दबाव समूह अवश्य ही राजनीतिक दलों की संकल्प समितियों के समक्ष उपस्थित होते हैं ताकि वे उनसे अपने कार्यक्रमों का समर्थन करने का निवेदन कर सकें, परंतु यह दलों के मंचों की योजना के रूप में होता है। वे प्रायः प्रमुख दलों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार अपने कार्यक्रम को दलीय विवाद के क्षेत्र से हटा लेते हैं। अनेक समूह अपने सदस्यों को सार्वजनिक पदों पर निर्वाचित कराने में भी सक्रिय होते हैं। इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि दबाव-समूह विशेष हितों की रक्षा करने के लिए ही बनाये जाते हैं।

प्रायः सभी उदारवादी लोकतंत्रीय देशों में नागरिकों के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले कई संगठित समूह होते हैं। वे सरकार की गतिविधियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। विशिष्ट समूह और दबाव समूह तथा संगठित प्रकोष्ठ समूहों की उपस्थिति एवं उनके कार्य राजनीतिक दलों के कार्यों व उद्देश्यों में वृद्धि तथा उनके अधूरेपन की पूर्ति करते हैं। वे अधिक विस्तृत राजनीतिक प्रक्रिया के एक अंग हैं। जहाँ एक ओर दल सत्ता में आने की प्रतियोगिता हेतु राजनीतिक व्यवस्था के औपचारिक प्रकट तथा मान्यता प्राप्त अंग होते हैं वहीं दूसरी ओर हित तथा दबाव समूहों का अस्तित्व अनौपचारिक, गोपनीय अप्रकट, षड़यंत्रकारी और कभी-कभी मान्यताविहिन रहता है इसीलिए प्रोफेसर फाइनर ने उन्हें "अनौपचारिक सरकार" कहा है। अन्य लोग उन्हें "अदृश्य सरकार" और "गैर-सरकारी सरकार" भी कह कर पुकारते हैं।

दलों की भाँति वे सत्ता में आने का प्रयास नहीं करते, परन्तु उनके निर्णयों को प्रभावित करते हैं। वे सरकार बनाने की आकांक्षा नहीं रखते, केवल उसकी दिशा व नीतियों को विशेष ढंग से निर्देशित करते हैं। हित समूह राज्य-व्यवस्था में बढ़ते हुए कार्यों के विशिष्टीकरण के प्रत्युत्तर में स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। वे भित्र-भिन्न प्रकार के हितों को परिलक्षित करते हैं। वे सरकार के तीनों अंगों (विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) की नीतियों एवं निर्णयों तथा प्रशासनिक कार्यविधियों, नियमों एवं प्रवृत्तियों को प्रभावित करने के लिए कभी खुले प्रचार और सीधी पहुँच तो कभी गुप्त एवं षड़यंत्रपूर्ण साधनों का सहारा लेते हैं। चूँकि उदार लोकतंत्रों में सार्वजनिक नीतियों की निर्धारण प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों की विविध प्रकार की मांगों के मध्य सौदेबाजी, आपसी वार्ता तथा समझौतों द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है इसलिए ये हित समूह इस प्रक्रिया में आवश्यक योग दान करते हैं।

हित समूह, दबाव समूह और प्रकोष्ठ समूह (लॉबी) ये तीनों शब्दावलियाँ प्रायः एक-दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। यद्यपि प्रत्येक का एक विशिष्ट अभिप्राय है। हित समूह राज्य के वर्ग विशेष जैसे मिल मजदूर, औद्योगिक मजदूर, खान मजदूर, व्यवसाय और वाणिज्य या नौकरी पेशा वाले समुदाय–डॉक्टर, वकील, पत्रकार, अध्यापक, नवयुवक तथा लोकसेवकों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके सदस्यों के उद्देश्य तथा जीवन मूल्य समान होते हैं। वे अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करते हैं और अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए नेताओं, विधायकों तथा सरकारी कर्मचारियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

"दबाव समूह" शब्दावली का प्रयोग ऐसे हित समूहों के लिए किया जाता है जो अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए संविधानेतर उपायों सहित विभिन्न प्रकार के दबाव वाली युक्तियों को प्रयोग में लाते हैं। सभी दबाव समूह हित समूह होते हैं किन्तु सभी हित समूह दबाव समूह भी हों, यह आवश्यक नहीं है। "हित समूह" शब्द में निरपेक्षता का आभास होता है जबकि "दबाव समूह" में बलपूर्वक कार्य कराने, जोर डालकर अपने पक्ष में करने और प्रभाव का दुरुपयोग करने की भावना अन्तर्निहित है। "दबाव-समूह" शब्द का प्रयोग निन्दात्मक अर्थ में किया जाता है।

"लॉबी" शब्द की उत्पत्ति उस समय हुई जब संयुक्त राज्य अमरीका में हित समूहों के सदस्यों ने अपनी मांगों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा के सदस्यों पर दबाव डालने और उन्हें प्रभावित करने के उद्देश्य से उनके सदन के प्रकोष्ठों में बातचीत और बैठकें करना आरम्भ किया। परामर्शकारी सेवाओं की तरह लॉबी की बैठकें होना एक सर्वमान्य प्रथा बन गई है। संयुक्त राज्य अमरीका में "लॉबी" करने वालों का एक व्यावसायिक समूह विकसित हो चुका है जिसकी दक्ष सेवायें किसी भी हित समूह की ओर से कौशलपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के लिए भाड़े पर उपलब्ध की जा सकती हैं। यद्यपि "लॉबी" शब्द बहुधा हित समूह या दबाव समूह के पर्यायवाची शब्द की तरह प्रयुक्त होता है किन्तु अधिक स्पष्ट करने के लिए इसे हित समूह या दबाव समूह के एक अंग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका उद्देश्य विधायकों और निर्णय लेने वाली संस्थाओं के साथ कार्य करना और उन्हें प्रभावित करना है। इस अर्थ में "लॉबी" मूलतः अमरीकी शब्द है, यद्यपि अब इसका प्रयोग केवल यूरोप के लोकतंत्रों में ही नहीं बल्कि जापान और विश्व के अन्य देशों में भी होने लगा है।

दबाव-समूह के कार्य

1. दबाव-समूह लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने में साधन का काम करते हैं।
2. दबाव-समूह शासन के लिए सूचना एकत्र करने का कार्य करते हैं।
3. दबाव-समूह सरकार की निरंकुशता को सीमित करने का कार्य करते हैं।
4. दबाव-समूह जनता और सरकार के बीच संचार साधन एवं कड़ी का कार्य करते हैं।
5. दबाव एवं हित समूह जनता में राजनीतिक जागरूकता पैदा करने का कार्य करते हैं।
6. दबाव-समूह अपने-अपने हितों की पूर्ति का प्रयास करते हैं।
7. दबाव-समूह राजनीति में 'लुका-छिपी' की भूमिका निभाने का कार्य करते हैं।
8. दबाव-समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए कार्यपालिका तथा विधायिका पर दबाव डालने का कार्य करते हैं।
9. दबाव-समूह समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करते हैं।

14.3 दबाव-समूह की विशेषताएँ

1. मूल्यों का वितरण

दबाव-समूह की पहली विशेषता यह है कि इसके द्वारा ही राजनीतिक पद्धति में मूल्यों के वितरण का

कार्य किया जाता है। राजनीतिक पद्धति में उत्पन्न मांगों एवं समर्थनों के आधार पर ही मूल्यों का वितरण होता है और उक्त पद्धति से मांगों और समर्थनों को जिन्हें ईस्टन ने निवेश कहा है-दबाव-समूह या हित-समूहों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। किसी हित विशेष की रक्षा के लिए जब कुछ व्यक्तियों का समूह राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेता है, तब हित-समूह या दबाव-समूह का जन्म होता है।

2. राजनीति में अभिरुचि एवं सक्रियता

दबाव-समूह की दूसरी विशेषता यह है कि अपने हितों की रक्षा के लिए वे राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। राजनीति में भाग लेते हुए भी दबाव-समूह अपने राजनीतिक स्वरूप को भरसक छिपाने का प्रयास करते हैं। वे अपने को गैर-राजनीतिक स्वरूप में उजागर करते हैं। इस प्रकार, वे राजनीति में लुका-छिपी खेलना पसंद करते हैं। दबाव-समूह यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि उनका स्वरूप आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक है, परन्तु अपने हितों की पूर्ति के लिए वे राजनीति में भी कूद पड़ते हैं। इससे कई बार उनके राजनीतिक चरित्र की समस्या उत्पन्न हो जाती है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि दबाव-समूहों की भूमिका पूर्ण राजनीतिकरण से आर्थिक या सांस्कृतिक समूहों के अराजनीतिकरण तक कुछ भी हो सकती है। इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए एक्सटीन ने सही कहा है, "दबाव-समूह की राजनीति राजनीतिक समूहों के पूर्ण राजनीतिकरण से कुछ कम और पूर्ण अराजनीतिकरण से कुछ अधिक का प्रतिनिधित्व करती है। राजनीतिक और अराजनीतिक के बीच यह गतिविधि के मध्यस्थ स्तर से ग्रहण करती है।

3. राजनीतिक दलों से भिन्न चरित्र

दबाव-समूह की तीसरी विशेषता यह है कि इसका चरित्र राजनीतिक दलों से भिन्न होता है। राजनीतिक दल एक बड़ा संगठन है, जिसके अपने निश्चित सिद्धांत और कार्यक्रम होते हैं। राजनीतिक दल देश-प्रदेश की राजनीति में अपनी स्पष्ट भूमिका निभाते हैं। इसके विपरीत दबाव समूहों की सदस्य-संख्या कम होती है और वे या तो किसी राजनीतिक दल में विभाजक समूह की भूमिका निभाते हैं या अपनी निष्ठा एक दल से दूसरे दल में बदलते रहते हैं। साथ ही, वे यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि उनका चरित्र राजनीतिक नहीं है और राजनीति से उनका संबंध भी नहीं नहीं हैं। राजनीतिक दल राजनीति को एक व्यवस्था अथवा पेशा मानकर अपनी भूमिका निभाते है और दबाव-समूह केवल अपने स्वार्थपूर्ति के लिए। इस प्रकार दोनों का ही चरित्र राजनीतिक हो जाता है। वी0ओ0 की जूनियर के अनुसार, "दबाव-समूह वैसे अनौपचारिक और असंवैधानिक अभिकरण हैं, जो औपचारिक सांवैधानिक पद्धति को प्रेरणा प्रदान करते हैं।

14.4 दबाव-समूह के प्रकार

दबाव-समूह कई प्रकार के होते है : वर्गीय दबाव-समूह तथा लक्षीय दबाव-समूह। पोटर ने दबाव-समूह के इन दो रूपों का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब एक लंबे अरसे तक हितों की रक्षा करने के लिए दबाव-समूह राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते रहते हैं, तो उन्हें वर्गीय दबाव-समूह (Sectional Pressure Group) कहा जा सकता है। इसके विपरीत, जब कोई समूह केवल एक हित की रक्षा करने के लिए कुछ समय के लिए गठित किया जाता है, तो उसे लक्षीय दबाव-समूह (Cause Pressure Group) कहा जाता है। आमंड और पॉवेल ने दबाव-समूह को चार भागों में वर्गीकृत किया है–

1. संस्थागत दबाव-समूह (Institutional)

संस्थागत दबाव-समूह वे कहते जाते हैं जो विविध कार्य करने के लिए अस्तित्व में आते हैं और सरकार की प्रक्रिया को चलाने में संलग्न होते हैं। संस्थागत दबाव-समूह राजनीतिक दलों, विधान मण्डलों, सेना, नौकरीशाही आदि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं। ये स्वायत्तरूप से क्रियाशील रहते हैं, विभिन्न संस्थाओं की छत्र छाया में पोषित होते हैं। ये अपने हितों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

2. संघीय दबाव-समूह (Associational)

इसमें वे दबाव-समूह आते हैं, जिनकी अपनी संस्था होती है। ये किसी विशेष व्यक्तिसमूह के हितों की रक्षा एवं पूर्ति करते हैं। इनका संगठन उन लाभों के उपयोग के लिए किया जाता है, जो अन्य राजनीतिक संस्थाओं से निपटने के लिए संघों द्वारा प्राप्त होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है।

3. गैर-संघीय दबाव-समूह (Non-Associational)

इस श्रेणी में वे दबाव-समूह आते हैं, जिनमें संगठन का अभाव पाया जाता है और उनके बीच संचार-व्यवस्था भी अनौपचारिक होती है। गैर-संघीय दबाव-समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं। इनका संगठन नहीं होता।

4. अप्रतिमानित दबाव-समूह (Anomic)

इसमें वे दबाव-समूह आते हैं, जो अचानक गठित होते हैं और हित विशेष की पूर्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं। ये प्रदर्शनकारी दबाव-समूह हैं जो अपनी माँगों की पूर्ति के लिए अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हैं और हिंसा, प्रदर्शन, राजनीतिक हत्या, दंगे, हड़ताल, अनशन, घेराव आदि आक्रामक रवैया अपनाते हैं।

14.5 सारांश

आधुनिक राजनीतिक प्रक्रिया एवं तुलनात्मक राजनीति में दबाव-समूह, हित समूह एवं संगठित समूहों तथा उनकी तकनीकों के अध्ययन का महत्व बढ़ गया है। 'दबाव-समूह' को विविध समानार्थक नामों से संबोधित किया जाता है-हित समूह, गैर-सरकारी संगठन, अनौपचारिक सरकार, अज्ञात साम्राज्य, लॉबीज आदि। दबाव-समूह ऐसे व्यक्तियों का औपचारिक संगठन होता है जिनके एक अथवा कई सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेषतया सार्वजनिक नीति के निर्माण तथा सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं ताकि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें। वास्तव में दबाव-समूह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

दबाव-समूह तथा अन्य संगठनों में अन्तर है। सभी संगठन दबाव-समूह नहीं होते। हित समूह तथा दबाव समूह दोनों में समानता होते हुए भी अन्तर है। समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किन्तु जब वे हित-समूह सत्ता को प्रभावित करने के उद्देश्य से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो उन्हें दबाव-समूह कहा जाता है।

दबाव-समूह के निम्नलिखित मुख्य लक्षण हैं–

1. दबाव-समूहम अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को प्रभावित करते हैं।
2. दबाव-समूह का सम्बन्ध विशिष्ट मामलों से होता है।
3. दबाव-समूह न तो राजनीतिक संगठन होते हैं और न चुनाव में सक्रिय भाग लेते हैं।
4. दबाव-समूहों को 'अज्ञात साम्राज्य' कहा गया है। जब उनके हित खतरें में होते हैं तो वे सक्रिय हो जाते हैं।

दबाव-समूहों की उपयोगिता एवं सार्थकता सभी जनतंत्रीय देशों में क्रमशः बढ़ती जा रही है। हित-विशेष की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दबाव-समूहों का कार्य-क्षेत्र और महत्व भी बढ़ता जा रहा है। आज दबाव-समूहों को लोकतांत्रिक व्यवस्था की प्राण-वायु कहा जा सकता है।

14.6 संन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Fadia, Babulal-Pressure-Groups in Indian Politics
2. Key V.O.- Politics, Parties and Pressure-Groups
3. Almond and Powell-Comparative Politics
4. Odegard Carr, Bernstein and Morrison-American Government

14.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. दबाव-समूह की विशेषताएँ बताइये?
2. दबाव-समूह के दोष बताइये?
3. दबाव-समूह और हित-समूह में अन्तर बताइये?

भारत में दबाव-समूह कौन-कौन से हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

दबाव-समूह की परिभाषा कीजिये?

दबाव-समूह की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

दबाव-समूह के कार्य बताइये?

राजनीतिक दल और दबाव-समूह में अन्तर बताइये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दबाव-समूह का प्रादुर्भाव हुआ सर्वप्रथम–
   (अ) कनाडा में
   (ब) स्विटजरलैण्ड में
   (स) फ्रांस में
   (द) अमेरिका में
2. दबाव-समूह का प्रादुर्भाव हुआ–
   (अ) अठारहवीं शती में
   (ब) उन्नीसवीं शती में
   (स) बीसवीं शती में
   (द) इक्कीसवीं शती में
3. निम्नलिखित में से कौन दबाव-समूह नहीं हैं–
   (अ) विश्व हिन्दू परिषद
   (ब) फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री
   (स) तेलगूदेशम
   (द) अखिल भारतीय किसान सभा

4. निम्नलिखित में से कौन सा एक दबाव-समूह है-

(अ) शिरोमणि अकाली दल

(ब) शिव सेना

(स) आल इण्डिया फारवर्ड ब्लाक

(द) बब्बर खालसा

14.8 प्रश्नोत्तर

1- द

2- स

3- स

4- द

इकाई-15 प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 निर्वाचन तथा निर्वाचक

15.3 मताधिकार का अर्थ

15.4 मताधिकार के सिद्धान्त

15.5 वयस्क मताधिकार का अर्थ

15.6 वयस्क मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में तर्क

15.7 महिला मताधिकार का अर्थ

15.8 महिला मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में तर्क

15.9 निर्वाचन की विभिन्न प्रणालियाँ

15.10 मतदान की प्रणालियाँ

15.11 निर्वाचन-क्षेत्र

15.12 अल्प संख्यकों का प्रतिनिधित्व

15.13 अल्प संख्यकों के प्रतिनिधित्व की विविध प्रणालियाँ

15.14 व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

15.15 सारांश

15.16 उपयोगी पुस्तकें

15.17 संबंधित प्रश्न

15.18 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

जनतंत्र जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन होता है। अतः जनप्रतिनिधियों का चुनाव, सामान्यतया निर्वाचन के माध्यम से, जनता द्वारा होता है। इस सम्बन्ध में जनप्रतिनिधियों के विविध सिद्धांत हैं। उनका निरीक्षण, परीक्षण, गुण-दोष आदि का विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया गया है।

15.1 प्रस्तावना

लोकतंत्र, स्वतंत्रता और समानता का दर्शन है। यह आम सहमति, जन स्वीकृति एवं जन प्रतिनिधित्व पर आधारित होता है। आधुनिक युग में जनतंत्रीय पद्धति का अभ्युदय और विकास ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, स्विटजरलैण्ड आदि पश्चिमी देशों में हुआ। जनतंत्र में जनशक्ति, जनवाणी एवं जनमत का प्राधान्य होता है। निर्वाचन के माध्यम से जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है। वे प्रतिनिधि विधायिका सभाओं में जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं तथा विधायन द्वारा उनके स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति का प्रयास करते हैं।

जनतंत्र अथवा लोकतंत्र दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्राचीन यूनानी नगरराज्यों तथा प्राचीन भारतीय गणतंत्रों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था थी। राज्य के आकार-प्रकार, क्षेत्रफल, जनसंख्या, विधि निर्माण कार्य की जटिलता आदि में क्रमशः वृद्धि होने के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था दुर्लभ एवं असंभव हो गई है। आज स्विटजरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में ही प्रत्यक्ष जनतंत्र के अवशेष बचे हुए हैं, यद्यपि उन्हें भी शुद्ध रूप में प्रत्यक्ष जनतंत्र नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष जनतंत्र में जनता स्वयं विधि-निर्माण कार्य में भाग लेती है। अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि मूलक जनतंत्र में जनता स्वयं विधि निर्माण एवं शासन का संचालन नहीं करती वरन् उक्त सभी कार्य उसके द्वारा निर्वाचित जनप्रतिनिधि करते हैं। उक्त प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए प्रत्येक लोकतंत्रीय देश में एक निश्चित जनप्रतिनिधि करते हैं। उक्त प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए प्रत्येक लोकतंत्रीय देश में एक निश्चित अवधि पर सामान्य निर्वाचन की व्यवस्था है। गिलक्राइस्ट के अनुसार "आधुनिक राज्य प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों की अपेक्षा विस्तार में अधिक बड़े हैं। अतः सभी नागरिकों के लिए यह असंभव है कि विधि-निर्माण के लिए वे एक स्थान पर एकत्र हो सकें। आधुनिक जनतंत्र प्रतिनिधित्व पर आधारित है, जिसके द्वारा समस्त नागरिक विधि-निर्मात्री सभा में स्वयं भाग लेने के स्थान पर दूसरों को उसके लिए निर्वाचित करते हैं। आधुनिक राज्य के संगठन का आधार निर्वाचन एवं प्रतिनिधित्व है। अतः राज्य और सरकार से संबंध रखने वाला राजनीतिशास्त्र, निर्वाचन-प्रणालियों तथा प्रतिनिधित्व की विभिन्न पद्धतियों की सविस्तार **व्याख्या करता है**

15.2 निर्वाचन तथा निर्वाचक

सांसदों एवं विधायकों के चयन करने की संपूर्ण प्रक्रिया का नाम निर्वाचन है। निर्वाचन में सभी मतदाताओं को भाग लेने का अधिकार है। प्रत्येक पार्टी अपना उम्मीदवार चुनाव में खड़ा करती है तथा जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक संख्या में मत प्राप्त होता है, वह निर्वाचन हो जाता है। इस प्रकार देश के सभी निर्वाचन-क्षेत्रों से उम्मीदवार चुने जाते हैं और तब सरकार का निर्माण होता है जिन व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्राप्त है, वे मतदाता कहलाते हैं। देश के सभी मतदाताओं को सामूहिक रूप से निर्वाचक गण (Electorates) कहा जाता है। अतः जब हम 'निर्वाचकगण' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उससे देश के समस्त मतदाताओं के समूह का बोध होता है, जिन्हें राज्य के द्वारा विधायिका या कार्यपालिका के सदस्यों के चुनाव का अधिकार प्राप्त है। निर्वाचकगण शासन व्यवस्था की कुंजी हैं। उनके निर्णय की अवहेलना नहीं की जा सकती। किसी भी राज्य की संपूर्ण जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त नहीं होता और न ही यह संभव है। अतः व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के लिमित कुछ शर्तें निर्धारित की जाती हैं। मताधिकार के लिए निम्नलिखित बातों को आधार बनाया जा सकता है : (i) उम्र, (ii) लिंग, (iii) शिक्षा, (iv) संपत्ति, (v) निवास-स्थान, (vi) नागरिकता, (vii) धर्म, (viii) मानसिक स्थिति।

1. उम्र

मताधिकार प्रदान करने के लिए उम्र सबसे बड़ी शर्त होती है। बच्चों को मताधिकार देने का न तो कोई औचित्य है और न ही कोई उपयोगिता। बच्चे मतदान का न तो अर्थ समझते हैं और न ही वे मताधिकार का सही प्रयोग कर सकते हैं। अतएव, हर राज्य में मतदाता होने के लिए निश्चित उम्र रखी जाती है। भारत में 18 वर्ष के प्रत्येक पुरुष और महिला को मतदान करने का अधिकार प्राप्त है।

2. लिंग

कुछ देशों में मताधिकार के लिए लिंग की शर्त भी रखी जाती है। अब भी मिस्र में महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं दिया गया है। स्विटजरलैण्ड, अमेरिका और ब्रिटेन ने भी प्रारम्भ में महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखा था। अमेरिका में 1920 ई० में, इंग्लैण्ड में 1928 ई० में तथा स्विटजरलैण्ड में 1971 ई० में महिलाओं को मताधिकार दिया गया। आजकल अधिकांश देशों में महिलाओं को मताधिकार दिया गया है। भारत ने तो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से ही वयस्क-मताधिकार के सिद्धांत को लागू कर दिया।

3. शिक्षा

शिक्षा मताधिकार की एक आवश्यक शर्त हो सकती है। जे0एस0 मिल ने स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन किया है कि शिक्षा के आधार पर ही मताधिकार मिलना चाहिए। इसलिए, उन्होंने वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू करने के पूर्व वयस्क-शिक्षा की सिफारिश की। मिल के शब्दों में, "मैं इस बाद का समर्थन नहीं कर सकता कि किसी भी व्यक्ति को लिखने-पढ़ने का ज्ञान हुए बिना मताधिकार मिलना चाहिए।" संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में नीग्रों को मताधिकार से वंचित करने के लिए शैक्षणिक योग्यता की शर्त-निर्धारित की गई थी।

4. संपत्ति

संपत्ति के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। उन्नीसवीं शती में संपत्ति तथा कर देने की क्षमता दोनों ही मताधिकार के मुख्य आधार थे। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासनकाल में सम्पत्ति मताधिकार की मुख्य शर्त थी। 1922 ई0 तक इंग्लैण्ड में सम्पत्तिधारियों तथा करदाताओं को ही मताधिकार दिया गया था। सम्पत्ति का मताधिकार का आधार मानने वालों का यह कहना था कि सम्पत्तिधारी व्यक्ति सामान्यतः शिक्षित एवं सुसंस्कृत होते हैं। अतः उन्हें मतदान करने का अधिकार मिलना चाहिए। संपत्ति के आधार पर मताधिकार प्रदान करने का सिद्धांत गैर-लोकतंत्रात्मक है। इससे जनसंख्या का अधिकांश भाग मताधिकार से वंचित रह जाएगा। यद्यपि संपत्ति के आधार का अधिकांश विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों ने खंडन किया है, तथापि कतिपय देशों में इसे परोक्ष रूप से प्रश्रय दिया गया है। अमेरिका के कुछ राज्यों में दिवालियों को मताधिकार नहीं दिया गया है।

5. निवास-स्थान

मताधिकार के लिए निवास-स्थान को भी ध्यान में रखा जाता है। किसी भी व्यक्ति को एक चुनाव में एक ही स्थान से मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। अतः सामान्य निर्वाचन के पूर्व प्रत्येक मतदाता को अपने निर्वाचन-क्षेत्र की मतदाता-सूची में नाम पंजीकृत करा लेना पड़ता है। उसे अपने निर्वाचन-क्षेत्र से ही मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। मतदान-सूची में नाम न रहने पर किसी व्यक्ति को मतदान करने का अवसर नहीं दिया जाता। लगभग सभी देशों में निवास-स्थान को ध्यान में रखा जाता है।

6. नागरिकता

मताधिकार के लिए नागरिकता एवं अनिवार्य शर्त है। मताधिकार विदेशियों या गैर-नागरिकों को नहीं दिया जाता। केवल नागरिक हो जाने से ही कोई मतदाता हो जाएगा, यह भी आवश्यक नही है। मतदाता होने के लिए नागरिकता के अतिरिक्त उम्र, शिक्षा, निवास-स्थान आदि बातों पर भी ध्यान दिया जाता है।

7. धर्म

किसी-किसी देश में धर्म के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। आधुनिक राज्यों में पंथ-निरपेक्षता के सिद्धांत को प्राथमिकता दी जाती है, किन्तु कुछ ऐसे राज्य हैं, जहाँ आज भी धर्म राजनीति में मिला हुआ है। इंग्लैण्ड में रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी तथा लॉर्ड, कॉमन-सभा का चुनाव नहीं लड़ सकते। इसी प्रकार पाकिस्तान का राष्ट्रपति वही हो सकता है, जो इस्लाम-धर्म को मानता हो।

8. मानसिक स्थिति

मानसिक स्थिति मनोविज्ञान की वस्तु है, किन्तु मताधिकार के सन्दर्भ में मानसिक स्थिति पर भी ध्यान दिया जाता है। मताधिकार वह अधिकार है, जिसका प्रयोग एक स्वस्थ मस्तिष्क वाला व्यक्ति ही कर सकता है। पागल, जड़ तथा उन्मत्त व्यक्तियों को मताधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि ऐसे व्यक्ति

मताधिकार का अर्थ नहीं समझ सकते। उपर्युक्त शर्तों या आधारों के अतिरिक्त और भी शर्तें या आधार हैं, जिनको मताधिकार प्रदान करते समय ध्यान में रखा जाता है। अधिकांश विद्वानों ने वयस्क-मताधिकार के सिद्धांत का समर्थन किया है और आज लोकतंत्रीय देशों में वयस्क-मताधिकार के सिद्धान्त को ही मान्यता दी जा रही है।

15.3 मताधिकार का अर्थ

निर्वाचन में भाग लेने तथा मतदान करने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। आधुनिक राज्य में अधिक-से-अधिक लोगों को मताधिकार देने का प्रयास किया जा रहा है। अधिकांश राज्यों में वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है, फिर भी कुछ ऐसे राज्य हैं, जहाँ वयस्क-मताधिकार वहाँ की निर्वाचन-प्रणाली का आधार नहीं है। उन राज्यों में भी मताधिकार के क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

15.4 मताधिकार के सिद्धान्त

1. प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार, मताधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है अतः सभी व्यक्तियों को समान रूप से मताधिकार के प्रयोग का अवसर मिलना चाहिए। सामाजिक समझौते के सिद्धांत के प्रवर्तकों ने इस सिद्धांत को मान्यता दी थी। अमेरिका के टॉमस पेन इस सिद्धांत के मुख्य प्रवर्तक थे। मांटेस्क्यू तथा रूसों भी इस सिद्धांत के मुख्य समर्थक थे।

2. वैधानिक सिद्धान्त

इस सिद्धांत के अनुसार, मताधिकार प्राकृतिक अधिकार नहीं, वरन, राज्य-प्रदत्त अधिकार है। इस सिद्धांत के अनुसार मताधिकार का दावा नहीं किया जा सकता। यह राजनीतिक समीचीनता के आधार पर प्रदान किया जाता है।

3. नैतिक सिद्धांत

इस सिद्धांत के प्रवर्तकों के मतानुसार, मताधिकार नैतिक मान्यता पर आधारित है। मतदान राजनीतिक मामलों में व्यक्ति द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करने का एक माध्यम है। मताधिकार के द्वारा व्यक्ति का नैतिक विकास होता है।

4. जनजातीय सिद्धांत

यह सिद्धांत रोम और जर्मनी की देन है। इस सिद्धांत के अनुसार मतदान सामुदायिक जीवन का एक मुख्य अंग है। इसलिए सीमित क्षेत्र में नागरिकों को मताधिकार मिलना चाहिए। आज भी इस सिद्धांत का अवशेष दिखाई पड़ता है। नागरिकता को मताधिकार का मुख्य आधार मानने वाले सिद्धांत पर जनजातीय सिद्धांत का परोक्ष प्रभाव कहा जा सकता है।

इन सिद्धांतों के अतिरिक्त मताधिकार के संबंध में और भी कई सिद्धांत हैं, जैसे सामंतवादी सिद्धांत। उपर्युक्त सिद्धांतों के विश्लेषणोपरांत यह स्पष्ट होता है कि कुछ विद्वान मताधिकार को प्राकृतिक एवं मानव-जीवन में अंतर्निहित मानते हैं। इसके विपरीत कतिपय विद्वानों का कहना है कि मताधिकार एक राज्य-प्रदान अधिकार है। यह राजनीतिक समीचीनता के आधार पर प्रदान किा जाता है। इसका दावा नहीं किया जा सकता। कुछ राज्यों में मतदान को अनिवार्य बनाया गया है। बेल्जियम, रूमानिया, अर्जेंटाइना तथा स्विटजरलैण्ड के कुछ कैंटनों में अनिवार्य मतदान की व्यवस्था की गई है। कतिपय विद्वानों ने अनिवार्य मतदान-पद्धति की सराहना की है, किन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार यह अनुचित तथा असंगत है। अनिवार्य मतदान-पद्धति राजनीतिक जीवन को भ्रष्ट बना देती है और इससे नागरिकों के दिल में सरकार विरोधी भावनाएँ पनपती हैं।

15.5 वयस्क-मताधिकार का अर्थ

एक निश्चित आयु तक के पुरुषों एवं महिलाओं को शिक्षा, संपत्ति, लिंग आदि का ध्यान दिए बिना जब मतदान का अधिकार मिल जाय, तब उसे हम वयस्क-मताधिकार कहते हैं। वयस्क-मताधिकार चूँकि सभी वयस्क महिलाओं एवं पुरुषों को प्राप्त है इसलिए इसे सार्वजनिक मताधिकार (Universal suffrage) भी कहा जाता है।

भारतवर्ष में 18 वर्ष के प्रत्येक पुरूष एवं महिला को मतदान का अधिकार प्राप्त है। इस संबंध में यह मुख्य रूप से स्मरण रखने की बात है कि सभी वयस्कों को मताधिकार नहीं दिया जाता। पागल, विदेशी या कानून द्वारा मताधिकार से वंचित अपराधी व्यक्ति वयस्क होने के बावजूद मतदाता नहीं हो सकते। कभी-कभी दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण कर लेने पर या विदेशी पुरूष से विवाह कर लेने पर मताधिकार से वंचित किया जा सकता है। मताधिकार केवल नागरिकों को ही प्राप्त होता है, विदेशियों को नहीं।

15.6 वयस्क-मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में तर्क

पक्ष में तर्क

1. लोकतंत्र के अनुकूल है

वयस्क-मताधिकार लोकतंत्र के अनुकूल है। लोकतंत्रीय पद्धति में सार्वभौम सत्ता (लोकप्रिय सम्प्रभुता) जनता में निवास करती है। अतः जनता को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार दिया जाना चाहिए। वस्तुतः मताधिकार के अभाव में लोकतंत्रात्मक व्यवस्था निरर्थक सिद्ध होती है।

2. जनता को शासकों के चयन का अधिकार

वयस्क-मताधिकार के समर्थकों का कहना है कि चूँकि राज्य की रीति और कानून का प्रभाव समस्त जनता पर पड़ता है इसलिए जनता को शासकों एवं कानून-निर्माताओं के चयन का अधिकार होना चाहिए।

3. समानता का प्रतिपालक

यह सिद्धांत समानता के सिद्धांत का प्रतिपालक है। वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत सभी वयस्कों को समान रूप से मतदान का अधिकार दिया जाता है। इसके अंतर्गत बिना किसी भेदभाव के सबको मतदान का अधिकार होना चाहिए।

4. राजनीतिक प्रशिक्षण

वयस्क-मताधिकार से नागरिकों को राजनीतिक प्रशिक्षण मिलता है। निर्वाचन, राजनीतिक प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। मतदाता, निर्वाचन की समग्र प्रक्रियाओं में भाग लेने पर राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता है। वह विभिन्न राजनीतिक दलों के सिद्धांतों, उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों को समझकर अपनी इच्दानुसार मतदान करने का निर्णय लेता है।

5. स्वाभिमान तथा व्यक्तिव का विकास

वयस्क-मताधिकार-पद्धति के अंतर्गत नागरिकों में स्वाभिमान का भाव जागता है तथा उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिलता है जबकि सीमित मताधिकार के अंतर्गत समाज का एक भाग इस बहुमूल्य अधिकार से वंचित रहता है। फलस्वरूप नागरिकों के संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।

6. सार्वजनिक हित की रक्षा

वयस्क-मताधिकार के द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा होती है। यदि मतदान का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों के हाथ सौंप दिया जाय, तो वे केवल कुछ ही लोगों के हित का ध्यान रख सकेंगे। उनसे

सार्वजनिक हित की रक्षा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रो० लॉस्की ने कहा है, "शक्ति से अलग होने का अर्थ है, शक्ति के लाभों से वंचित होना।" संपूर्ण जनता जब मतदान में भाग लेती है, तब स्वतः सार्वजनिक हित की रक्षा की बात होती है।

7. राष्ट्रीय भावना का पोषक

वयस्क-मताधिकार के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि जनता जब अपने शासकों एवं कानून-निर्माताओं को चुनती है, तब उसमें राष्ट्रप्रेम की भावना जागती है और वह राष्ट्र के विकास के लिए अधिक-से-अधिक प्रयास करती है। इस प्रकार वयस्क-मताधिकार राष्ट्रीय भावना को मजबूत बनाने में एक सहायक एवं महत्वपूर्ण तत्व है।

8. कानून पालन में आसानी

वयस्क-मताधिकार कानून-पालन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण कारक है। जब राष्ट्र की संपूर्ण जनता निर्वाचन में भाग लेती है तथा अपने शासकों एवं कानून निर्माताओं को चुनती है, तब वह उनके द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन करने के लिए नैतिक दृष्टिकोण से बाध्य है।

9. क्रांति या विद्रोह की संभावना में कमी

वयस्क-मताधिकार के कारण राज्य में विद्रोह या क्रांति की संभावना कम रहती है। सभी लोगों को मतदान में भाग लेने का अधिकार मिलने से उनमें सरकार के प्रति असंतोष या रोष का भाव कम रहता है, जिसके फलस्वरूप राज्य में क्रान्ति या विद्रोह की संभावना कम रहती है।

विपक्ष में तर्क

अनेक विद्वानों ने वयस्क मताधिकार के विरुद्ध महत्वपूर्ण तर्क दिये हैं जिनका विश्लेषण करना आवश्यक है।

1. मूर्खों को मताधिकार

वयस्क-मताधिकार का सिद्धांत खतरनाक सिद्धांत है; क्योंकि इसके द्वारा मूर्खों एवं अज्ञानियों को शासकों एवं कानून-निर्माताओं को चुनने का अधिकार दिया जाता है। अतः लेकी, मैकाले, हेनरी मेन आदि विद्वानों ने इस सिद्धांत का विरोध किया है। लेकी ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी ऐंड लिबर्टी' में स्पष्ट रूप से कहा है कि यह विचार असंगत और खतरनाक लगता है कि तीक्ष्ण बुद्धिवाले व्यक्तियों की अपेक्षा मूर्खों एवं अयोग्यों के हाथ में शासन-संचालन का दायित्व दिया जाय।

2. मताधिकार का दुरूपयोग

कतिपय आलोचकों ने कहा है कि मताधिकार के लिए कुछ शर्तें रहनी चाहिए, जैसे- शिक्षा, सम्पत्ति आदि। सामान्य नागरिक जो न तो शिक्षित हैं और न ही जिनके पास किसी प्रकार की सम्पत्ति है, धनिकों एवं चतुर राजनीतिज्ञों के प्रभाव में आकर अपने मताधिकार का दुरूपयोग करते हैं। अतः वयस्क-मताधिकार किसी भी प्रकार से उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ है।

3. महिलाएँ मताधिकार का सही प्रयोग नहीं कर पातीं

अनेक विद्वानों ने कहा है कि महिलाओं को मताधिकार नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि महिलाएँ पुरूषों के प्रभाव में आकर ही अपना मतदान करती हैं। प्रारंभ में राजनीति का संबंध सैनिक शक्ति से था। अतः महिलाएँ राजनीति में भाग लेने में असमर्थ थीं। महिलाओं को राजनीति से अलग रखने के उद्देश्य से ही अमेरिका का इंग्लैण्ड में प्रारंभ में महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखा गया था।

4. मूर्ख और बुद्धिमान में अंतर नहीं

वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत मूर्खों तथा बुद्धिमानों में कोई अंतर नहीं बरता जाता। मताधिकार में समानता के सिद्धांत को अपनाकर अज्ञानी तथा विवेकशील व्यक्ति के मत में कोई अंतर नहीं रह जात है। यह सिद्धांत संख्या पर जोर देता है तथा गुण की अवहेलना करता है। इसलिए इसके अन्तर्गत न तो उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव हो पाता है और न ही मतदान की पवित्रता अक्षुण्ण रह पाती है।

5. प्रशासकीय कठिनाइयाँ

वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत अनेक प्रकार की प्रशासकीय कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। इसके अंतर्गत, चुनाव के लिए व्यापक पैमाने पर प्रबन्ध एवं व्यवस्था करनी पड़ती है। इसीलिए, चुनाव में अत्यधिक व्यय तो होता ही है, साथ ही साथ कुशल, योग्य एवं ईमानदार निर्वाचन-पदाधिकारियों और पीठासीन-अधिकारियों को चुनाव कराने में भी कठिनाई होती है। व्यापक पैमाने पर निर्वाचन की व्यवस्था होने से निर्वाचन की प्रक्रिया भी जटिल हो जाती है जिससे निर्वाचन कराने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

6. हिंसा का प्रयोग

वयस्क-मताधिकार के कारण निर्वाचन में मार-पीट, लूट-खसोट तथा अन्य हिंसात्मक कार्रवाइयाँ होती हैं। भारत में चुनावों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि चुनावों में हिंसा का मुख्य स्थान हो गया है। शायद ही कोई ऐसा चुनाव हो, जो शांतिपूर्ण निपट गया हो।

वयस्क-मताधिकार के पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए विभिन्न तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत अनेक कठिनाइयाँ तथा कमजोरियाँ हैं। इन कमजोरियों के बावजूद, वयस्क-मताधिकार का बहिष्कार नहीं किया गया है; क्योंकि समस्या सिद्धांत की नहीं उसके वास्तविक रूप में कार्यान्वयन की है। विद्वानों ने इसका समर्थन किया है तथा विभिन्न देशों में इसे अपनाया गया है। वयस्क-मताधिकार के समर्थकों ने यह स्वीकार किया है कि मतदाताओं को शिक्षित तथा जागरूक होना चाहिए, जिससे वे अपने मताधिकार का सही-सही उपयोग कर सकें।

15.7 महिला-मताधिकार का अर्थ

वयस्क-मताधिकार के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद महिला-मताधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु ऐसे विचारक रहे हैं, जिन्होंने महिला-मताधिकार का विरोध किया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाओं के अनेक प्रयासों के बावजूद 1920 ई० के पूर्व तक उन्हें मतदान का अधिकार नहीं दिया जा सका। 1928 ई० के पूर्व तक इंग्लैण्ड में भी महिलाओं को मताधिकार नहीं दिया गया था। प्रत्यक्ष जनतंत्र वाले देश स्विटजरलैण्ड में 1 फरवरी, 1971 ई० के बाद महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हुआ। आज लगभग सभी सभ्य और लोकतंत्रीय देशों में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं को भी मताधिकार दिया गया है।

15.8 महिला-मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में तर्क

पक्ष में तर्क

1. लिंग मताधिकार के लिए बाधक नहीं होना चाहिए

मताधिकार के क्षेत्र में महिला और पुरुष समान होते हैं। यूनान के महान चिंतक प्लेटो ने पुरुष तथा महिलाओं के बीच समानता को स्वीकार किया था। उसने पुरुषों की भांति महिलाओं को भी शासन-कार्य के लिए उपयुक्त समझा था। आज महिलायें राज्य की शासकीय संरचना में महत्वपूर्ण पद संभाल रही हैं। भारत, श्रीलंका, इंग्लैण्ड, बांग्लादेश की प्रधानमंत्री महिला रह चुकी हैं। जब नारी इतने गंभीर दायित्वपूर्ण पद सँभाल सकती हैं, तब फिर उन्हें मताधिकार से वंचित करना अन्याय होगा।

2. लोकतंत्रीय सिद्धांत के अनुकूल

महिला-मताधिकार के सिद्धांत के द्वारा लोकतंत्रीय सिद्धांत की रक्षा होती है। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के अंतर्गत पुरुष और महिला को समान समझा जाता है। उन्हें सेवा में समानता दी जाती है तथा आर्थिक क्षेत्र में भी उनके साथ समानता बरती जाती है।

3. महिलाओं के हितों की रक्षा

महिलाओं को यदि मतदान का अधिकार न हो, तो उनके हितों की रक्षा नहीं हो सकती। महिला हितों की रक्षा पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के द्वारा विशेष रूप से की जा सकती है। अतः उन्हें मताधिकार मिलना चाहिए।

4. राजनीतिक अधिकार की उपलब्धि

राज्य के अंतर्गत पुरूषों की भाँति महिलाओं को भी सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार उपलब्ध होते हैं। उन्हें संपत्ति का अधिकार है, शिक्षा एवं धर्म-संबंधी अधिकार हैं। जब उन्हें राज्य द्वारा सामाजिक एवं नागरिक अधिकार उपलब्ध हैं, तब फिर राजनीतिक अधिकारों से वंचित क्यों किया जाए? उन्हें मतदान का अधिकार भी उपलब्ध होना चाहिए।

5. नारी-स्वतंत्रता का समर्थक

आधुनिक राज्यों में नारी-स्वतंत्रता पर अधिक जोर दिया जा रहा है। अरस्तू ने महिलाओं को गुलाम के रूप में माना था। प्राचीन काल का इतिहास बताता है कि उस काल में कई देशों में महिलाओं को संपत्ति के रूप में समझा जाता था। मुगलकालीन भारत में भी महिलाओं को कोई सामाजिक महत्व प्रदान नहीं किया गया था। विजेता बादशाह हारे हुए बादशाह की संपत्ति के साथ-साथ उसकी पत्नी का भी अपहरण कर लेता था। इस पृष्ठभूमि में नारी-स्वतंत्रता के लिए महिला-मताधिकार के सिद्धांत को लागू करना आवश्यक है।

6. पारिवारिक जीवन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं

कतिपय आलोचकों ने कहा है कि महिलाओं को मताधिकार देने उसे उनके पारिवारिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कहा जाता है कि सामान्यतः महिलायें अपने पति या पुत्र के निर्णयानुसार मतदान करती है। यदि वे उनकी इच्छा के विरूद्ध मतदान करती हैं तो परिवार में कलह या संघर्ष उत्पन्न होने की संभावना रहती है, और यदि वे उनके इच्छानुसार मतदान करती हैं, तो उनके मतदान का कोई महत्व नहीं रह जाता। यह तर्क न्यायसंगत नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि महिलायें अपनी इच्छानुसार मतदान करती हैं, किन्तु इसका उनके परिवार पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

7. राष्ट्र के विकास के लिए हितकर

महिलाओं को मताधिकार देने से राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में सहायता पहुचती है। जिस प्रकार सर्वोत्तम पारिवारिक जीवन के लिए महिला और पुरुष का सम्पूर्ण सहयोग आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन के विकास के लिए भी महिला और पुरुष का एक साथ कदम से कदम मिलाकर चलना अत्यावश्यक है। सभी सभ्य और उन्नत देशों में महिला तथा पुरुष राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में कदम-से-कदम मिलाकर साथ-साथ काम करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

विपक्ष में तर्क

1. महिलाओं का क्षेत्र घर है

महिला-मताधिकार के विरोधियों का कहना है कि महिलायें स्वभाव से घर के कामों के लिए उपयुक्त हैं। प्रकृति ने उन्हें मूलतः माँ की भूमिका का निर्वाह करने के लिए बनाया है। यदि वे राजनीति में प्रवेश करती हैं, तो उनके पारिवारिक जीवन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। वे अपना समय परिवार के लिए नहीं दे पाएँगी। परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है। अतः परिवार को सुदृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि महिलाओं को परिवार के विकास के लिए ही अपना पूरा समय लगाना चाहिए। अतः उन्हें मताधिकार देने से कोई लाभ न होगा।

2. परिवार में क्लेश

महिलाओं को यदि मताधिकार दिया जाता है, तो इसके परिणामस्वरूप परिवार में क्लेश एवं कलह उत्पन्न होने की पूरी संभावना रहती है। यदि वे पति की इच्छा के विरूद्ध अपना मत व्यक्त करती हैं, तो उनमें मतभेद पैदा होने की संभावना रहती है और यदि वे पति की इच्छानुसार मतदान करती हैं, तो उनके मतदान की कोई उपयोगिता नहीं है। अतः उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिए।

3. नागरिक कर्तव्यों को पूरा करने में असमर्थ

महिलायें नागरिक कर्तव्यों को संपादित करने में असमर्थ होती हैं। वे सैनिक सेवा के अयोग्य हैं। सामान्य प्रशासकीय कृत्यों के संपादन में भी उन्हें अत्यधिक कठिनाई होती है। आलोचकों के मतानुसार, यदि महिलायें नागरिक कर्तव्य का संपादन नहीं कर पाती हैं, तो उन्हें मताधिकार की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है।

4. नागरिक कर्त्तव्यों के पालन में बाधा

कुछ विद्वानों ने यह संकेत किया है कि महिला और पुरुष के एक साथ काम करने से नागरिक कर्त्तव्यों के पालन में बाधा उत्पन्न होगी। दो विरोधी लिंग के एक साथ काम करने से स्वाभाविक रूप से उनमें यौन-आकर्षण होगा और वे अपना अधिक समय प्रणय या एक-दूसरे की प्रशंसा में लगाएँगे। फाइनर ने भी कहा है, "जिन्हें सह-शिक्षा या उद्योगों में महिला और पुरुष के साथ काम करने का अनुभव है, वे इस बात का विरोध नहीं करेंगे कि महिलाओं और पुरूषों का ध्यान एक-दूसरे के प्रणयवाचन तथा दूसरे के साथ सौजन्य निबाहने में लगा रहेगा।

5. मतदान में महिलाओं की उदासीनता

अनुभव इस बात का सही है कि सामान्यतः महिलायें मतदान करने में उदासीनता दिखाती हैं। भारतवर्ष में तो विशेष रूप से महिलायें मतदान के प्रति उदासीन रहती हैं। अधिकांश महिलायें तो मतदान-केन्द्र में जाने से घबराती है। मुस्लिम महिलायें पर्दे की प्रथा के कारण मतदान करने में हिचकती हैं। अतः, ऐसी स्थिति में महिलाओं को मताधिकार देने की कोई उपयोगिता नहीं है।

महिला-मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में दिए गए तर्कों का विवेचन-विश्लेषण करने के पश्चात हम इ निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महिला-मताधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आधुनिक राज्यों में महिलाओं को मताधिकार से वंचित नहीं किया गया है। इंग्लैण्ड, भारत, अमेरिका, रूस आदि देशों में महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया गया है। आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व प्लेटो ने भी महिलाओं को मतदान का अधिकार देने की सिफारिश की थी। आज तो कई देशों में महिलाएँ देश के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें मताधिकार से वंचित करना न्यायोचित नहीं है।

15.9 निर्वाचन की विभिन्न प्रणालियाँ

सामान्यतया निर्वाचन की दो मुख्य प्रणालियाँ हैं- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं, जब मतदाता स्वयं मतदान करके प्रतिनिधियों, विधायकों एवं सांसदों का चुनाव करते हैं। भारत में लोकसभा तथा विधानसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार, इंग्लैण्ड की कॉमन्स सभा, अमेरिका की प्रतिनिधि सभा एवं सिनेट और रूस के सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों का निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है।

जब प्रतिनिधि, विधायक या शासक स्वयं मतदाताओं द्वारा निर्वाचित निर्वाचक-मंडल द्वारा चुने जाते हों, तब उस प्रकार के निर्वाचन को हम अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली कहेंगे। भारत के राष्ट्रपति तथा राज्य सभा के सदस्यों का निर्वावन अप्रत्यक्ष ढंग से होता है। निर्वाचन की उक्त दोनों प्रणालियाँ हर देश में किसी-न-किसी रूप से विद्यमान हैं। दोनों प्रणालियों के गुण-दोष हैं, जिन पर विचार करना अध्ययन के दृष्टिकोण से हितकर है

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण-दोष

गुण

1. जनता में राजनीतिक जागृति

प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति राजनीतिक प्रशिक्षण तथा राजनीतिक जागृति का मूल स्रोत है। प्रत्यक्ष निर्वाचन से लोग अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होते हैं तथा उन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण भी मिलता है।

2. आत्म गौरव की भावना

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली में लोग यह अनुभव करते हैं कि उनका प्रशासन तथा राष्ट्रीय राजनीति में कुछ हाथ है। प्रतिनिधियों का चुनाव करते समय उनमें आत्म गौरव की भावना उत्पन्न होती है। उनमें यह भाव पैदा होता है कि अंतिम सत्ता उनमें निवास करती है।

3. मतदाताओं एवं प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत मतदाताओं तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क होता है। हर उम्मीदवार अधिक-से-अधिक मतदाताओं से मिलकर उन्हें अपना कार्यक्रम एवं नीति समझाता है तथा उन्हें प्रभावित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, मतदातागण उम्मीदवारों के व्यक्तित्व तथा कार्यक्रमों के बारे में अधिकतम जानकारी प्राप्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से उन्हें निर्वाचन में मतदान के लिए निर्णय लेने में सुविधा होती है।

4. भ्रष्टाचार का अभाव

प्रत्यक्ष निर्वाचन में भ्रष्टाचार का दायरा कम रहता है। मतदाताओं की संख्या अधिक रहने के कारण उन्हें प्रभावित करना तथा उन्हें क्रय या अन्य विधियों से मतदान करने के लिए बाध्य करना पूर्णतया संभव नहीं है जबकि सीमित मतदाताओं को भ्रष्ट करना तथा उन पर कुप्रभाव डालना अपेक्षाकृत आसान है।

5. उत्तरदायित्व की भावना

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का यह भी एक बड़ा लाभ है कि इसके अन्तर्गत प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे जनमत के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते। उन्हें हमेशा जनमत का भय लगा रहता है, क्योंकि उन्हें पुनः निर्वाचित होने के लिए जनता के पास जाना पड़ता है।

दोष

1. मूर्खों के हाथ निर्णय

प्रत्यक्ष निर्वाचन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मूर्खों एवं अज्ञानियों का बहुमत रहता है और उन्हीं के द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है।

2. उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं

प्रत्यक्ष निर्वाचन के अंतर्गत उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं हो पाता। साधारण मतदाता सस्ते नारे तथा सस्ती भावुकता के प्रभाव में आकर मतदान करते हैं। वे उम्मीदवारों के व्यक्तित्व तथा उनके कार्यक्रमों पर विचार करके अपना मतदान नहीं करते।

3. खर्चीली व्यवस्था

प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति अत्यधिक खर्चीली हैं। व्यापक पैमाने पर चुनाव का आयोजन करने से निर्वाचन में पर्याप्त व्यय होता है। गरीब देशों के लिए सामान्य निर्वाचन भार स्वरूप है। इसमें व्यय की मात्रा इतनी अधिक होती हे कि इसका कुप्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर अत्यधिक पड़ता है। अतः जनता पर अधिक कर लगाना पड़ता है।

4. पेशेवर राजनीतिज्ञों की प्रधानता

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणालियों में पेशेवर राजनीतिज्ञों की प्रधानता रहती हैं। वे राजनीति को व्यवसाय बना लेते हैं और उसके माध्यम से अपने स्वार्थ की सिद्धि करते हैं। पेशेवर राजनीतिज्ञ जनता को अपने स्वार्थ के अनुसार मोड़ने तथा प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप, जनता झूठी तथा भ्रममूलक धारणाओं के आधार पर मतदान करती है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण-दोष

गुण

1. व्यापक क्षेत्र के लिए उपयुक्त

निर्वाचन-क्षेत्र जब व्यापक हो और मतदाताओं की संख्या अपेक्षाकृत काफी बड़ी हो, तब ऐसी स्थिति में अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

2. अशिक्षित जनता के रहने पर उपयोगी

जिस देश की अधिकांश जनता अशिक्षित एवं अज्ञानी है, उस देश के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली ही श्रेयस्कर और अधिमान्य है। अशिक्षित जनता सही निर्णय लेने में असमर्थ होती है, जबकि चुने हुए शिक्षित मतदाता सही ढंग से निर्णय ले पाते हैं।

3. अच्छे उम्मीदवारों का चुनाव

अप्रत्यक्ष निर्वाचन में चूँकि मतदाताओं की संख्या सीमित रहती है तथा सामान्य मतदान शिक्षित और समझदार होते हैं, इसलिए वे कुशल, कर्मठ, योग्य और ईमानदार उम्मीदवार को ही चुनने का प्रयास करते हैं। उनका चुनाव उम्मीदवारों के व्यक्तित्व तथा उनकी नीति एवं उनके कार्यक्रमों के आधार पर होता है।

4. सस्ती भावुकता का अभाव

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में मतदाता सस्ते नारे तथा सस्ती भावुकता के प्रवाह में नहीं आते, वे राजनीतिक तथ्यों तथा उम्मीदवारों के दलों की नीति एवं कार्यक्रमों का अध्ययन करने के बाद ही मतदान करते हैं। सामान्य जनता की भाँति के उम्मीदवारों को वादों तथा अन्य झूठें प्रलोभनों में आकार अपना मतदान नहीं करते।

5. कम व्यय

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की अपेक्षा अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली कम खर्चीली है। इसके अन्तर्गत मतदाताओं की संख्या कम रहती है, जिसके कारण मतदान का आयोजन सीमित दायरे में होता है, इसमें प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की अपेक्षा कम व्यय होता है।

6. पेशेवर राजनीतिज्ञों का अभाव

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अंतर्गत मतदाताओं की संख्या कम रहती है। इतना ही नहीं, मतदाता शिक्षित समझदार भी होते हैं। इस कारण उन पर पेशेवर राजनीतिज्ञयों का प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि जहाँ अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था है, वहाँ पेशेवर राजनीतिज्ञों की संख्या कम रहती है।

दोष

1. अजनतंत्रीय प्रणाली

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली अजनतंत्रीय प्रणाली है, क्योंकि इसमें समस्त जनता को निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार या अवसर नहीं मिलता। इस पद्धति में मतदाताओं की संख्या बहुत कम रहती है।

2. जनता और प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष संपर्क का अभाव

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत जनता प्रत्यक्ष रूप से मतदान में भाग नहीं लेती। अतः जनता तथा प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित नहीं हो पाता। प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा चुने हुए निर्वाचकों द्वारा होता है।

3. जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिलता

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति में समग्र जनता निर्वाचन में भाग नहीं लेती है, जिसके फलस्वरूप अधिकांश जनता राजनीतिक वातावरण से दूर रहती है। उसे राजनीतिक समस्याओं एवं विभिन्न दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों की जानकारी भी कम रहती है। अतः उसे किसी प्रकार की राजनीतिक शिक्षा नहीं मिल पाती। प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति में जनता प्रत्यक्ष रूप से मतदान में भाग लेती है। फलतः उसे राजनीतिक प्रशिक्षण मिलता है।

4. जनता में सहयोग की भावना का अभाव

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति में जनता को अपने शासकों एवं प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने का प्रत्यक्ष रूप से अवसर नहीं दिया जाता, जिसके फलस्वरूप वह देश की राजनीतिक स्थिति तथा प्रशासन के प्रति उदासीन हो जाती है और शासन-व्यवस्था के प्रति सहयोग की भावना का अभाव भी पाया जाता है।

5. भ्रष्टाचार

कतिपय विचारकों ने कहा है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन में उम्मीदवार और जनता के बीच सीधा संपर्क नहीं रहता है। दोनों के बीच मध्यस्थ व्यक्ति (Middle Men) होते हैं, जो जनता द्वारा चुने जाते हैं। अतः मतदाताओं की संख्या सीमित होने के कारण भ्रष्टाचार तथा राजनीतिक दलबंदी का प्रवेश आसानी से हो जाता है।

6. उत्तरादायित्व का अभाव

प्रत्यक्ष निर्वाचन में सामान्य जनता द्वारा निर्वाचित होने के कारण प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं लेकिन अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति में जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित न होने के कारण उसके प्रति उनका उत्तरदायित्व नहीं के बराबर होता है। इसलिए कभी-कभी प्रतिनिधियों में स्वेच्छाचारिता की भावना का उदय होता है।

7. व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रत्यक्ष हो जाता है

आज राजनीति दलबंदी के कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन भी एक प्रकार से प्रत्यक्ष निर्वाचन हो जाता है। उदाहरण के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई है, किन्तु व्यवहार में यह निर्वाचन प्रत्यक्ष हो जाता है।

निर्वाचन पद्धति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना सहज नहीं है। क्योंकि सभी के अपने-अपने गुण-दोष हैं। फिर भी, सर्वमान्य मत यही है कि विधायकों का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होना चाहिए। यद्यपि कुछ देशों में द्वितीय सदन का चुनाव अप्रत्यक्ष ढंग से होता है। राज्याध्यक्षों के लिए विशेषकर संसदीय शासन-प्रणाली में अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही श्रेयस्कर है।

15.10 मतदान की प्रणालियाँ

मतदान की दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं :–(i) प्रकट मतदान (Public Voting) और (ii) गुप्त मतदान (Secret Voting)। जब मतदान प्रकट रूप से सबके सामने हाथ उठाकर या अन्य किसी संकेत या विधि से किया जाय, तो उसे प्रकट मतदान कहा जाता है। प्राचीन काल में प्रकट मतदान की प्रथा थी। यूनान के नगर राज्यों तथा भारत में ग्रामीण गणतंत्रों में लोग एक जगह इकट्ठा होकर प्रकट मतदान करते थे। आज भी स्विटजरलैण्ड के कुछ कैंटनों में यह प्रथा प्रचलित है। सोवियत रूस,

इनमार्क आदि क्षेत्रों में प्रकट मतदान की प्रथा प्रचलित थी। माण्टेस्क्यू, जे0एस0 मिल आदि विद्वानों ने प्रकट मतदान का समर्थन किया है। मिल ने कहा है कि मतदान एक सार्वजनिक कर्तव्य है। अतः अन्य सार्वजनिक कर्तव्यों की भाँति जनता की दृष्टि तथा समीक्षा के बीच मतदान-कार्य संपादित होना चाहिए। और भी कई विचारकों ने इस प्रणाली का समर्थन किया है। विद्वानों के कथनानुसार मतदान की यह प्रणाली लोकतंत्र के अनुकूल तथा मतदान की तकनीकी त्रुटियों से वंचित है।

प्रकट मतदान प्रणाली

प्रकट मतदान प्रणाली का आधुनिक विचारकों ने विरोध किया है। इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता को मतदान करने में पूरी स्वतंत्रता नहीं रहती। वह निर्भीक तथा निष्पक्ष होकर मतदान नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए, एक सेवक को अपने मालिक के विरुद्ध मतदान करने में कठिनाई होती है। प्रकट मतदान-व्यवस्था में मतदाताओं पर दबाव डाला जाता है। अतः स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान के लिए प्रकट मतदान-प्रद्धति अनुपयुक्त सिद्ध हुई है।

गुप्त मतदान

यह उस मतदान को कहते हैं, जिसमें मतदाता गुप्त रूप से अपना मतदान करते हैं। गुप्त मतदान-व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक मतदाता अपने मतपत्र में उम्मीदवार के नाम के आगे चिह्न देकर या किसी अन्य निर्धारित संकेत द्वारा अपनी अधिमान्यता व्यक्त करता है। मतदाता को मतपत्र में अपना नाम या हस्ताक्षर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुप्त मतदान-पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें मतदान निर्भीक होकर स्वत्रंतापूर्वक अपना मतदान करता है। इसके अंतर्गत चूँकि मतदान गुप्त रहता है इसलिए मतदाता को किसी प्रकार के दबाव या भय का सामना नहीं करना पड़ता। आधुनिक राज्यों में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार की निर्वाचन-पद्धति में गुप्त मतदान की व्यवस्था है।

बहुल तथा गुरूतापूर्ण मतदान-प्रणाली (Plural and Weighted Voting)

आधुनिक लोकतंत्रीय राज्य में एक व्यक्ति के एक मत के सिद्धांत को मान्यता दी गई है। चाहे राजा हो या रंक, प्रधानमंत्री हो या दफ्तरी, प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार दिया जाता है। कुछ विद्वानों ने 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत की आलोचना की है। जे0एस0 मिल के मतानुसार, शिक्षित एवं ज्ञानी व्यक्तियों के मतों का महत्व अशिक्षित एवं अज्ञानी व्यक्तियों के मतों से अधिक होना चाहिए। मिल का विश्वास है कि जब तक मतों की बहुलता के इस सिद्धांत को अपनाया नहीं जाता, तब तक सार्वजनिक मताधिकार में अच्छाइयों से अधिक बुराइयाँ ही सामने आएँगी।

गुरुतापूर्ण मतदान-प्रणाली के अंतर्गत उन व्यक्तियों को, जो अपनी शिक्षा, आयु अथवा संपत्ति के कारण अधिक योग्यता रखते हैं, सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, बेल्जियम में पैंतीस वर्ष की आयु के व्यक्ति को जो पाश फ्रैंक कर देता है तथा जिसे वैध संतान हैं, दो मत देने का अधिकार है, अन्य पचीस वर्ष के सामान्य पुरुषों को एक मत देने का अधिकार है।

यद्यपि कुछ विद्वानों ने बहुत तथा गुरुतापूर्ण मतदान-प्रणाली का समर्थन किया है, तथापि आधुनिक राज्यों में इसे अधिमान्यता नहीं दी जा रही है। आज 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत को सर्वमान्यता प्राप्त है। बहुमतदान-प्रणाली अप्रजातांत्रिक है। इसके द्वारा वर्ग-विधायन की परंपरा को प्रश्रय मिलता है।

15.11 निर्वाचन क्षेत्र

प्राचीन काल में जब छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे, उस समय लोग एक स्थान पर एकत्र होकर किसी विषय के संबंध में प्रत्यक्ष रूप से निर्णय किया करते थे। धीरे-धीरे राज्यों की जनसंख्या और क्षेत्रफल बढ़ता गया। जब एक स्थान पर एकत्र होकर किसी विषय के संबंध में निर्णय लेना या प्रत्यक्ष रूप से हाथ उठाकर मतदान करना कठिन हो गया, तब निर्वाचन का प्रश्न उठा। निर्वाचन के लिए

सम्पूर्ण देश को छोटे-छोटे क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक ऐसे क्षेत्र से आवश्यकतानुसार एक या दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। ये क्षेत्र निर्वाचन-क्षेत्र कहलाते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं- (i) एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र तथा (ii) बहु सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र। एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र वह है, जिससे एक सदस्य चुना जाता है तथा बहु सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र वह है, जिससे दो या दो से अधिक सदस्यों का निर्वाचन होता है।

आधुनिक राज्यों में एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र को ही मान्यता दी जा रही है। इसके कुछ गुण-दोष हैं, जिनका विश्लेषण करना आवश्यक है।

गुण

1. एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें निर्वाचन-क्षेत्र का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। अतः इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित होता है।
2. एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र का दायरा छोटा रहने के कारण इसमें व्यय कम होता है।
3. इस प्रणाली के अंतर्गत स्थानीय प्रतिभाओं को आगे बढ़ने का अवसर मिलता है।
4. इस प्रणाली का यह भी एक बड़ा लाभ है कि इसके अंतर्गत अल्पसंख्यकों को भी समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।
5. इस प्रणाली के अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्रों के हितों को पूरी तरह ध्यान में रखा जाता है।
6. ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों में एकरूपता बनी रहती है और इस प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने हुए प्रतिनिधि स्थायी-सरकार के निर्माण में सहायता पहुँचाते हैं।

दोष

1. इस प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्रों में स्थानीय तत्व की प्रधानता रहने के कारण अवांछित और गैर जिम्मेदार लोग भी निर्वाचित हो जाते हैं।
2. इस प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्रों का यह भी बड़ा दोष है कि इसके अंतर्गत स्थानीयता पर काफी जोर दिया जाता है, जिसके कारण कभी-कभी राष्ट्रीय हित को खतरा पहुँचने की संभावना रहती है।
3. एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाताओं के सामने चुनने का दायरा सीमित होता है।
4. एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र का प्रबल दोष यह है कि इसके अंतर्गत अत्यंत कम संख्या के समर्थन से ही प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है, जबकि उसके विपक्ष में अधिक मत पड़े हों।

बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र के भी अनेक गुण-दोष हैं। बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली में मतदाताओं की पसंदगी ज्यादा व्यापक हो जाती है, फिर भी यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं हुई है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके अंतर्गत मतदाता और प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित नहीं पाता। इसके फलस्वरूप मतदाता अपने प्रतिनिधियों के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं तथा प्रतिनिधि भी मतदाताओं के प्रति कम उत्तरदायित्व महसूस करते हैं।

15.12 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

सामान्यतया प्रतिनिधित्व से बहुमत के प्रतिनिधित्व का बोध होता है, क्योंकि निर्वाचन में उम्मीदवारों का चुनाव बहुमत के आधार पर ही किया जाता है। प्रत्येक राज्य में बहुसंख्यकों के अतिरिक्त कई प्रकार के अल्पसंख्यक समुदाय भी रहते हैं। सामान्य निर्वाचन-पद्धति के अंतर्गत अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता है। यही कारण है कि अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। जे0एस0 मिल तथा लेवी नामक विद्वानों ने

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न को सर्वप्रथम उठाया था। लेवी ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रचलन अत्यंत महत्वपूर्ण है। मिल ने भी अपनी पुस्तक रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट (Representative Government) में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। मिल के शब्दों में, "सच्चे जनतंत्र के अंतर्गत प्रत्येक समुदाय को आनुपातिक ढंग से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

आधुनिक राज्य में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न एक गंभीर प्रश्न है। इसकी किसी भी स्थिति में अवहेलना नहीं की जा सकती। लोकतंत्र की सफलता केवल बहुमत के द्वारा निश्चित नहीं होती। अतः अल्पसंख्यकों पर ध्यान दिए बिना सच्चे और वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना नहीं की जा सकती। मिल ने लिखा है-"जनतंत्र का विशुद्ध अर्थ उस शासन से है, जो समस्त जनता का शासन हो, एकसमान प्रतिनिधित्व के आधार पर समस्त जनता द्वारा हो।"

15.13 अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की विविध प्रणालियाँ

विभिन्न विद्वानों और विचारकों ने अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर विचार किया है तथा इस संबंध में अनेक सिद्धांतों का उल्लेख किया है। आधुनिक विचारकों द्वारा अल्पसंख्यकों के समुचित प्रतिनिधित्व के निमित्त निम्नलिखित पद्धतियों की संस्तुति की गई है-

(i) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation)

(ii) सूची-प्रणाली (List System)

(iii) सीमित मतदान-प्रणाली (Limited Vote System)

(iv) संचित मतदान-प्रणाली (Cumulative Vote System)

(v) वैकल्पिक मतदान-प्रणाली (Alternaive Vote System)

(vi) सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली (Communal Representation)

(vii) द्वितीय मतदान-प्रणाली (Second Vote System)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली

इस पद्धति को 'हेयर-पद्धति' भी कहा जाता है, क्योंकि इसका प्रवर्तक इंग्लैंड का प्रसिद्ध विद्वान टॉमस हेयर (Thomas Hare) था। इस पद्धति के अंतर्गत कई उप-पद्धतियों की व्यवस्था की गई है। इनमें दो मुख्य हैं-एकल संक्रमणीय पद्धति (Single Transferable Vote System) और दूसरी सामान्य सूची-पद्धति (General List System)। एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली के अंतर्गत मतदान तथा मतगणना के लिए एक विशिष्ट पद्धति अपनाई जाती है। आधुनिक युग में लगभग सभी राज्यों में किसी-न-किसी रूप में इस पद्धति को मान्यता दी गई है। इस पद्धति के अन्तर्गत मतदाता मतपत्र पर दिए गए उम्मीदवारों को अपनी वरीयता के अनुसार मतदान करता है, जिसे वह सबसे अधिक पसंद करता है, उसके नाम के आगे पहली पसंदगी अंकित करता है। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी और चौथी पसंद का संकेत किया जाता है।

इस पद्धति के अंतर्गत सामान्य पद्धति की तरह उम्मीदवारों का चुनाव नहीं होता। सामान्य पद्धति के अंतर्गत सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाला व्यक्ति निर्वाचित होता है। लेकिन इस पद्धति के अंतर्गत एक कोटा (Quota) निश्चित किया जाता है। इसमें निश्चित मतसंख्या या उससे अधिक मत प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही निर्वाचित होता है। कोटा निर्धारित करने के लिए एक विशेष पद्धति अपनाई जाती है-

$$\text{कोटा} = \frac{\text{कुल मतों की संख्या}}{\text{चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या}}$$

इस पद्धति से जो मत संख्या निश्चित होगी, वह निर्वाचित होने के लिए संख्या समझी जाएगी और

मतगणना के समय सर्वप्रथम वरीयता की गणना की जाती है। उस वरीयता की गणना के बाद यदि उम्मीदवारों की निर्धारित संख्या पूरी नहीं होती है, तो निश्चित उम्मीदवार के अतिरिक्त प्रथम अधिमानों को द्वितीय अधिमानों के अनुसार दूसरे उम्मीदवारों में संक्रांत कर दिया जाता है और इस प्रकार निर्धारित संख्या की पूर्ति की जाती है। इसलिए, इसे एकल संक्रमणीय पद्धति कहा जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली, यद्यपि विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के निर्वाचनों में अपनाई गई है, तथापि इसके गुण-दोष हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है। जे0एस0 मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का जोरदार समर्थन किया है। मिल के मतानुसार आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली अल्पसंख्यकों के लिए श्रेष्ठ प्रणाली है। मिल के अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों ने इस पद्धति की प्रशंसा की है तथा इसके गुण-दोषों का उल्लेख किया है–

गुण

1. इस प्रणाली के अंतर्गत अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व आसानी से प्राप्त हो सकता है। न सिर्फ अल्पसंख्यक समुदाय, वरन् विभिन्न दल भी अपनी सदस्य संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं।

2. इस पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत मतदाताओं को उम्मीदवारों का चयन करने में पूरी स्वतंत्रता मिलती है। इसके अंतर्गत मतदाता विभिन्न उम्मीदवारों में अपनी पसंद के उम्मीदवार का चुनाव करते हैं।

3. इस पद्धति के अंतर्गत उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित होता है। मिल ने कहा है, इस प्रकार की परिस्थिति में निर्वाचक और प्रतिनिधि के बीच ऐसा सशक्त और महत्वपूर्ण संबंध होता है कि प्रत्येक मतदाता से अपनापन अनुभव करता है और प्रत्येक प्रतिनिधि मतदाता से घनिष्ठता महसूस करता है।

4. इस पद्धति के अंतर्गत प्रतिभाशाली व्यक्तियों के चुने जाने का अवसर रहता है, क्योंकि मतदाता उतनी वरीयता जाहिर करते हैं जितनी सीटें रहती हैं।

5. यह पद्धति मतदाताओं को राजनीतिक शिक्षा भी प्रदान करती है, क्योंकि इसके अंतर्गत मतदाता को अपनी वरीयता जाहिर करने का पूरा अवसर मिलता है।

6. आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली का यह भी एक बड़ा लाभ है कि इसके अंतर्गत राष्ट्रीय हित की पूरी रक्षा होती है, क्योंकि इस पद्धति द्वारा किसी एक पार्टी की सरकार नहीं बन पाती, बल्कि हमेशा मिश्रित सरकार बनने की संभावना रहती है। इसलिए कोई भी पार्टी अपने हितों की प्रधानता स्थापित नहीं कर पाती।

7. अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि इस प्रणाली द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि प्रतिभाशाली और बुद्धिमान होते हैं। फलस्वरूप वे संसद या विधायिका के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। मिल ने तो यहाँ तक कहा है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की तुलना में कोई और दूसरी निर्वाचन-प्रणाली नहीं है, जिसके द्वारा देश के श्रेष्ठ व्यक्तियों को निश्चित रूप से संसद में लाया जा सके।

दोष

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है कि यह अत्यधिक जटिल प्रणाली है, जो सामान्य मतदाताओं की समझ के बाहर है। इसके अतिरिक्त, इस पद्धति के अंतर्गत मतगणना में भी अत्यधिक कठिनाई होती है। यह पद्धति इतनी जटिल है कि इसके अंतर्गत मतदाता और उम्मीदवार दोनों ही गणना-पदाधिकारी की दया पर निर्भर रहते हैं।

2. इस पद्धति का यह भी एक बड़ा दोष है कि इसके अंतर्गत विभिन्न छोटे-छोटे गुटों, दलों एवं वर्गीय या धार्मिक हितों पर आधारित समुदायों एवं संगठनों को प्रोत्साहन मिलता है। फलस्वरूप यह पद्धति संकीर्ण गुटबंदी एवं दलबंदी को जन्म देती है।

3. इस पद्धति के अंतर्गत स्थायी सरकार का निर्माण नहीं हो पाता, क्योंकि इस पद्धति के परिणामस्वरूप किसी पार्टी की सरकार के निर्माण की संभावना नहीं रहती। अनुभव इस बात का साक्षी है कि विभिन्न दलों और गुटों की मिश्रित सरकार स्थायी नहीं रह पाती।

4. यह पद्धति बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्रों तथा बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों के लिए उपयुक्त है। छोटे-छोटे तथा एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों के लिए यह अनुपयुक्त सिद्ध होती है।

5. इस पद्धति के अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्र इतना अधिक बड़ा रहता है कि मतदाता और उम्मीदवारों के बीच व्यक्तिगत संपर्क स्थापित नहीं किया जा सकता। मतदाता उम्मीदवारों का चुनाव उनकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर न कर राजनीतिक दलबंदी और गुटबंदी के आधार पर करते हैं।

6. इस पद्धति का यह भी एक दोष है कि इसके अंतर्गत पार्टी की टिकट पर खड़े होने वाले उम्मीदवार ही निर्वाचित हो पाते हैं। स्वतंत्र उम्मीदवार निर्वाचित होने में असमर्थ रहते हैं।

7. विभिन्न दलों के ग्रुपों और वर्गों में बँटे रहने के कारण राष्ट्रीयता की भावना गौण हो जाती है और उसके स्थान पर दलगत भावनाएँ प्रधान हो जाती है।

विभिन्न विद्वानों ने इस पद्धति की तीव्र आलोचना की है। प्रो० लॉस्की के मतानुसार, यह योजना जनजीवन के स्तर को उन्नत बनाने में असफल रही है। महान फ्रांसीसी न्यायवेत्ता प्रो० एसमिन ने कहा है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की स्थापना करना द्विसदनीय व्यवस्था द्वारा प्रदत्त चिकित्सा को विष में परिवर्तित करना है। प्रो० सिजविक और बेजहाट ने भी इस पद्धति की भर्त्सना की है।

इस प्रकार आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की प्रशंसा की गई है और आलोचना भी। यह सत्य है कि आनुपातिक-प्रतिनिधित्व प्रणाली सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए अनुपयुकत है, किन्तु यह पद्धति कुछ विशेष प्रकार के निर्वाचनों के लिए अत्यंत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। विद्वानों का कथन है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की सफलता के लिए शिक्षित मतदाता आवश्यक हैं।

सूची प्रणाली

सूची-प्रणाली आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली का ही एक स्वरूप है और इसका प्रयोग भी बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए किया जाता है। इस पद्धति के अंतर्गत मतदान व्यक्तिगत आधार पर नहीं बल्कि पार्टी के आधार किया जाता है। प्रत्येक पार्टी अलग-अलग अपनी सूची तैयार करती है और मतदाता पार्टी के उम्मीदवारों की सूची के आधार पर ही मतदान करते हैं। मतगणना में प्रत्येक सूची के लिए डाले गए मतों की पृथक-पृथक गणना की जाती है और पार्टी को प्राप्त मतसंख्या के अनुपात में उसके निर्वाचित उम्मीदवारों की संख्या निश्चित की जाती है। इस प्रकार सूची-प्रणाली के अंतर्गत मतदान पार्टी के आधार पर किया जाता है, न कि व्यक्ति के आधार पर। सूची-प्रणाली एक अत्यंत सरल प्रणाली है, क्योंकि मतदाताओं को मतदान करने में विशष कठिनाई नहीं होगी। इसका एक बड़ा लाभ है कि इस पद्धति के अंतर्गत सभी दलों और समूहों को स्थान दिया जाता है। यह पद्धति कम खर्चीली है।

इस पद्धति के कुछ दोष भी हैं। सर्वप्रथम यह पद्धति बड़े-बड़े देशों के लिए बिलकुल अव्यावहारिक है। इस पद्धति का दूसरा दोष यह है कि इसके अंतर्गत उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच व्यक्तिगत संबंध की स्थापना नहीं हो पाती है। इस पद्धति के अंतर्गत राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथ में अत्यधिक अधिकार चला जाता है। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके अंतर्गत मतदाताओं को मतदान की स्वतंत्रता नहीं के बराबर रहती है।

सीमित मतदान-प्रणाली

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए सीमित मतदान-प्रणाली भी एक मुख्य प्रणाली है। इस का प्रयोग बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए किया जा सकता है, जिसमें कम-से-कम तीन सदस्यों के निर्वाचित होने की व्यवस्था हो। इस पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक, किन्तु

निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से एक कम मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से छः प्रतिनिधियों को निर्वाचित होना है, तो मतदाता को पाँच या इससे कम मत देने का अधिकार प्राप्त होगा।

यह पद्धति अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का एक माध्यम अवश्य है, किन्तु यह दोषरहित नहीं है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके अनुसार अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। जिस देश में राजनीतिक दलों की संख्या अधिक है, वहाँ इस पद्धति को सफलता नहीं मिल सकती। विचारकों का कहना है कि इस पद्धति द्वारा उन्हीं दलों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है, जो सुसंगठित हों।

संचित मतदान-प्रणाली

इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता को उतनी संख्या में मतदान करने का अधिकार प्राप्त होता है, जितने सदस्यों को किसी निर्वाचन-क्षेत्र से चुना जाता है किन्तु इसके साथ ही उसे यह स्वतंत्रता भी प्राप्त होती है कि वह अपने मतों को पृथक-पृथक विभिन्न उम्मीदवारों में बाँट दे अथवा अपने समग्र मत किसी एक ही उम्मीदवार को दे दे। इस प्रणाली द्वारा अल्पसंख्यकों को निश्चित रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाएगा। इस मत-प्रणाली के कई दोष भी हैं। इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। इस पद्धति का दूसरा दोष यह है कि इसमें मतदाताओं के अनेक मत व्यर्थ हो जाते हैं। इस पद्धति में कभी-कभी अल्पसंख्यक वर्ग को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

वैकल्पिक मत-प्रणाली

इस प्रणाली का प्रयोग केवल एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र के लिए किया जाता है। इसमें मतदाता जिस उम्मीदवार को चुनना चाहता है, उसके पक्ष में वह अपनी पहली पसंद व्यक्त करता है, किन्तु उसके साथ ही उसे अपने वैकल्पिक मतों को व्यक्त करने की भी स्वतंत्रता रहती है। वह अन्य उम्मीदवारों के नाम के आगे दूसरी, तीसरी और चौथी पसंद भी व्यक्त करता है। मतगणना के समय सर्वप्रथम पहली पसंदों की गणना की जाती है और यदि उसी के परिणामस्वरूप किसी एक को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाए, तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, अन्यथा सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवारों का नाम काट दिया जाता है और उससे पहली पसंद के मतों को द्वितीय अधिमान के अनुसार अन्य उम्मीदवारों में विभक्त कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक दुहराई जाती है, जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो जाय। यद्यपि यह पद्धति अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए कई दृष्टियों से लाभदायक है, तथापि यह भी दोषरहित नहीं है। विद्वानों का कहना है कि यह पद्धति छोटे-छोटे और असंगठित अल्पसंख्यकों के लिए हितकर नहीं है।

सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली

सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को पृथक निर्वाचन-प्रणाली भी कहा जाता है। यह प्रणाली अंग्रेजों की देन हैं इसके अनुसार निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या विभिन्न संप्रदायों की जनसंख्या के अनुपात में निश्चित कर दी जाती है तथा मतदाताओं को भी धर्म के आधार पर बाँट दिया जाता है। इसमें मतदाताओं को अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मतदान करने का अधिकार रहता है। उदाहरण के लिए हिन्दू-मतदाता हिन्दू-प्रतिनिधि के लिए मतदान कर सकते हैं और मुस्लिम मतदाता मुस्लिम-प्रतिनिधियों के लिए।

इस पद्धति द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व तो प्राप्त होता है, किन्तु यह एक खतरनाक पद्धति है। इस पद्धति के कारण राज्य में हमेशा फूट, विभेद और सांप्रदायिक दंगे होने की संभावना रहती है। यह पद्धति न केवल साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न करती है बल्कि राष्ट्रविरोधी प्रवृत्तियों को भी जन्म देती है। इसका प्रयोग अंग्रेजों ने जान-बूझकर 'भारत में फूट डालो और और राज करो' के उद्देश्य से किया था।

द्वितीय मतदान-प्रणाली

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को व्यापक बनाने के उद्देश्य से द्वितीय मतदान-प्रणाली अपनायी गयी

है। यदि एक स्थान के लिए दो से अधिक उम्मीदवार हैं और यदि किसी उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत प्राप्त नहीं होता है, तो इस प्रणाली द्वारा पहले मतदान में सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवारों को निर्वाचित-क्षेत्र से हटाकर शेष दो के लिए दूसरी बार मतदान किया जाता है। इस प्रकार निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार निर्वाचित घोषित किया जाता है। कुछ विद्वानों के कथनानुसार, द्वितीय मतदान-प्रणाली से अधिक सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, किन्तु इसके भी कुछ दोष हैं। इसके द्वारा अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और न ही यह प्रणाली उन क्षेत्रों में प्रयुक्त हो सकती है, जिनमें एक स्थान के लिए तीन से कम उम्मीदवार खड़े हुए हों।

उक्त विभिन्न प्रणालियों के अतिरिक्त कतिपय और भी व्यवस्थाएँ की गई है, जिनके द्वारा अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए, निर्वाचन-क्षेत्रों में स्थान सुरक्षित करना। भारतवर्ष में हरिजनों तथा अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए संसद या विधानमंडलों में कुछ सीट सुरक्षित कर दी जाती है।

15.14 व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

आधुनिक विचारकों ने प्रतिनिधित्व की एक नई प्रणाली की विवेचना की है, जिसे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली कहा जाता है। यह वर्तमान क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली के विपरीत है। सामान्यतया लगभग सभी देशों में भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर ही प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक देश में प्रतिनिधित्व के लिए राज्य को कई निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और उन क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुने जाते हैं। कोल, डुम्बी आदि विद्वानों ने क्षेत्रीय निर्वाचन का विरोध किया है और उसके स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की सिफारिशकी है। उनके मतानुसार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का सिद्धांत त्रुटिपूर्ण है। उनका कहना है कि केवल एक क्षेत्र में रहने से सभी प्रकार के व्यक्तियों का हित एक प्रकार का नहीं होता। उदाहरण के लिए, शिक्षक, वकील, बढ़ई, दर्जी, और मजदूर अलग-अलग व्यवसाय के सदस्य है और इनके हित भी अलग-अलग हैं। फलस्वरूप एक शिक्षक या एक दर्जी अथवा एक मजदूर सभी प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ होता है। जी0डी0एच0 कोल नामक विद्वान ने लिखा है-"संसद सब नागरिकों का सब बातों में प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, किन्तु नियमित रूप से वह किसी का किसी भी बात में प्रतिनिधित्व नहीं करती। वास्तविक लोकतंत्र की प्राप्ति केवल एक सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि-सभा द्वारा नहीं, अपितु व्यवसायों के आधार पर समायोजित प्रतिनिधियों की व्यवस्था के द्वारा की जा सकती है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों का यह तर्क है कि प्रतिनिधित्व का आधार व्यवसाय होना चाहिए, क्योंकि इसके आधार पर ही सही और उपयुक्त प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। संघवादी, श्रेणी-समाजवादी तथा साम्यवादी विचारकों ने तो व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है, कुछ लोकतंत्रवादी विचारक भी इसे स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि विधायिका सभाओं का संगठन मूलतः प्रादेशिक और राजनीतिक आधार पर होते हुए भी कोई व्यवस्था ऐसी अवश्य होनी चाहिए, जिससे विविध व्यवसायों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। ग्राहम वालास नामक विद्वान ने द्वितीय सदन के लिए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में भी कतिपय त्रुटियाँ हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है :

1. व्यवसाय के आधार पर चुने जाने वाले प्रतिनिधि अनिवार्य रूप से राज्य की सार्वजनिक नीति पर एक प्रकार का मत या विचार नहीं रखते। अतः इस दृष्टिकोण से व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कोई विशेष उपयोगिता नहीं रहती।

2. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अंतर्गत राष्ट्रीय हित गौण हो जाता है और वर्ग तथा श्रेणी-हित प्रधान हो जाते हैं।

3. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के हितों के बीच संघर्ष, कलह और वैमनस्य उत्पन्न हो जाने है। फलस्वरूप प्रशासन में अनेक प्रकार कि कठिनाईयाँ उत्पन्न हो जाती हैं)

4. कुछ विद्वानों का कहना है कि यह सिद्धांत व्यावसायिक और आर्थिक हितों को अनावश्यक महत्व प्रदान करता है। ये समग्र हित वास्तव में मानव के मूल हितों के ही अंग हैं। वस्तुतः व्यक्ति के सभी हित नागरिक हित के अंतर्गत ही आ जाते हैं। मैरियट का कहना है कि नागरिक का महत्व डॉक्टर, वकील, बनिया तथा सुनार से कहीं अधिक है।

5. यह सिद्धांत सामाजिकता पर कुठाराघात करता है। मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसके सभी हितों का प्रतिनिधित्व सामाजिक और नागरिक दृष्टिकोण से होना चाहिए, न कि व्यवसाय और वर्ग के दृष्टिकोण से। व्यवसाय और वर्ग के आधार पर प्रतिनिधित्व होने से सामाजिक तथा नागरिक एकता समाप्त हो जाती है और नागरिक तथा सामाजिक जीवन की पवित्रता भी भंग हो जाती है।

6. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धांत को यदि मान्यता दे दी जाय, तो भी इसके कार्यान्वयन में अनेक कठिनाइया। उत्पन्न हो जती हैं। इस बात का निश्यच करना अत्यंत कठिन है कि कौन-कौन से आर्थिक हितों और व्यवसायों को कितना महत्व दिया जाय और उन्हें किस अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाय। प्रो० लॉस्की ने तो व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के मूल आधार के संबंध में ही संदेह प्रकट किया है। उन्होंने कहा है कि यह बात समझ में नहीं आती कि 'चिकित्सा-संबंधी कार्य संसद के प्रयोजनों के लिए किस प्रकार अनिवार्य है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन-विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता हे कि इस प्रणाली में सैद्धांतिक कठिनाइयों के अतिरिक्त कुद व्यावहारिक कठिनाइया। भी है। यही कारण है कि उसे लोक प्रियता नहीं मिली है। फिर भी, इसकी उपयोगिता के बारे में संदेह नहीं किया जा सकता। अनेक विद्वानों का मत है कि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के बावजूद व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को भी किसी-न-किसी रूप में स्थान मिलना चाहिए।

15.15 सारांश

आज विश्व के अधिकांश देशों में जनतंत्रीय व्यवस्था विद्यमान है। स्वतंत्रता, समानता तथा प्रतिनिधित्व जनतंत्र का आधार-स्तम्भ एवं प्राण है। जनतंत्रीय सिद्धांतों, आदर्शों, मूल्यों मान्यताओं आदि का विकास पश्चिमी देशों में हुआ। जनतंत्र के दो प्रकार हैं- प्रथम प्रत्यक्ष जनतंत्र और द्वितीय अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र। प्रत्यक्ष जनतंत्र में जनता स्वयं विधि-निर्माण एवं शासन-कार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है।

राज्य की बढ़ती हुई जनसंख्या, क्षेत्रफल, आकार-प्रकार, विधि-निर्माण, शासन कार्य की जटिलता आदि कारणों से क्रमशः प्रत्यक्ष जनतंत्र के स्थान पर प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र की पद्धति विकसित हुई। प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र में वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता सामान्य निर्वाचन के माध्यम से स्वयं अपने प्रतिनिधियों को एक निश्चित अवधि के लिए चुनती है। उक्त प्रतिनिधिगण जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं और जनमत के अनुकूल विधि-निर्माण एवं शासन-कार्य सम्पादित करते हैं।

जनतंत्र में जनता, जनवाणी एवं जनप्रतिनिधियों की प्रधानता होती है। समाज में विभिन्न वर्ग होते हैं। सबके अपने हित हैं। जनतंत्र बहुमत का शासन है। लेकिन अल्पसंख्यक वर्गों के हित भी जनतंत्रीय व्यवस्था में पूर्णतया सुरक्षित रहते हैं। अतः विभिन्न वर्गों के हितों की पूर्ति के लिए प्रतिनिधित्व के विविध सिद्धांत प्रचलित हैं। सबके गुण-दोष हैं। उन गुण-दोषों का विवेचन-विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जन प्रतिनिधित्व का कोई भी सिद्धांत अपने आप में पूर्ण एवं दोष रहित नहीं है। सबकी अपनी अच्छाइयाँ है। अतः जनतंत्रीय व्यवस्था को मज़बूत, सुदृढ़ एवं सफल बनाने में सभी उपयोगी और सहायक हैं।

15.16 उपयोगी पुस्तकें

1. Finer, H.- Theory and Practice of Modern Government

2. Strong, C.F. - Modern Constitution

3. शर्मा, प्रभुदत्त-तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें।

15.17 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रत्यक्ष और प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र में अन्तर बताइये?
2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली किसे कहते हैं?
3. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली किसे कहते हैं?
4. सूची-प्रणाली किसे कहते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मताधिकार का अर्थ बताइये और मताधिकार के विभिन्न सिद्धांतों का विवेचन कीजिए?
2. महिला मताधिकार के पक्ष-विपक्ष में तर्क दीजिए?
3. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण-दोष बताइये?
4. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण-दोष का विवेचन कीजिए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जनतंत्र कितने प्रकार का होता है?

   (अ) दो

   (ब) तीन

   (स) चार

   (द) पाँच

2. जनप्रतिनिधित्व के सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ–

   (अ) भारत में

   (ब) चीन में

   (स) जापान में

   (द) पश्चिमी देशों में

3. भारत में वयस्क मताधिकार मिलता है :–

   (अ) 18 वर्ष पर

   (ब) 20 वर्ष पर

   (स) 21 वर्ष पर

   (द) 25 वर्ष पर

4. भारतीय लोक सभा के :-

(अ) सभी सदस्य निर्वाचित होते हैं।

(ब) अधिकांश सदस्य निर्वाचित होने हैं।

(स) अधिकांश सदस्य मनोनीत होते हैं।

(द) इनमें से कोई नहीं।

15.18 प्रश्नोत्तर

1- (अ)

2- (द)

3- (अ)

4- (ब)

NOTES

NOTES